वैराग्य संदीपनी



श्री गोस्वामी तुलसीदास कृत ।

भाष्यकार

अवधेश दयाल

वैराग्य संदीपनी



श्री गोस्वामी तुलसीदास कृत।

भाष्यकार

अवधेश दयाल

वैराग्य संदीपनी

[श्री गोस्वामी तुलसी दास कृत]

[विशद भाष्य सहित]

भाष्यकर्ता–

अवधेश दयाल

प्रकाशक–

टी० सी० ई० जर्नल्स् ऐण्ड पब्लिकेशन्स, लि०

१० स्टाफ़ कालोनी, जय नारायण कालेज,

लखनऊ

१९८४

प्रथम बार १०००

मूल्य : ४० रुपये

मुद्रक : ग्लोब प्रिंटिंग प्रेस, दुर्विजयगंज, लखनऊ

फोन : 35215

निवेदन

चालीस वर्ष से अधिक हो गए जब से श्री वैराग्य संदीपनी की यह घोषणा कि यह अखिल ज्ञान का सार है, मन में खटकती रही है। श्री मानस पीयूष के प्रकाशन के बाद से यह कल्पना उठती थी कि अन्य शास्त्रों का भी हिन्दी में विशद भाष्य होना चाहिए। एक बार मैं परम पूज्य श्री १०८ बाबा रामदास जी (ग्वालियर वाले) के पास सियावर निवास, शिवाजी मार्ग, लखनऊ में बैठा था। मैंने कहा जैसे नारद भक्ति सूत्र पर श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार जी की सरल, विशद व मधुर व्याख्या हैं, वैसी ही शाण्डिल्य भक्ति सूत्रों की भी होनी चाहिए। यह भी कहा कि श्री वैराग्य संदीपनी जी की भी वैसी ही व्याख्या होनी चाहियें।

श्री बाबा जी ने श्री वैराग्य संदीपनी पर कार्य करना अधिक उपयोगी बताया, क्योंकि ग्रन्थ हिन्दी में होने से पाठकों को अधिक बोधगम्य होगा। यह बात लगभग पन्द्रह वर्ष पहले की है। मैंने आशा प्रकट की कि पाँच वर्ष में यह कार्य हो सकेगा, परन्तु उतना समय बीत गया, भाष्य प्रारम्भ भी न हो सका। श्री बाबा जी के पूछने, उत्साहित करने व मार्ग दर्शन करने से कुछ समय बाद यह कार्य प्रारम्भ हुआ और कई वर्षों में पूरा हो सका। कुछ दिनों तक ग्रन्थ अप्रकाशित रक्खा रहा. अब धीरे धीरे प्रायः एक वर्ष में छप सका है।

मैं अंग्रेजी का अध्यापक रहा हूँ। संस्कृत भाषा का आधिकारिक ज्ञान नगण्य रहा है, परन्तु सन्तों के आशीर्वाद से यह कार्य हो सका। भगवान् चाहेंगे तो सक्षम विद्वानों का ध्यान इस ओर जायगा कि श्री गोस्वामी तुलसी दास जी के छोटे छोटे ग्रंथों पर भी सारगर्भित भाष्य व टीकाएँ हों।

प्रस्तुत प्रयास इस उक्ति को चरितार्थ करता है कि —

'मति अति नीच ऊँच रुचि आछी।' अथवा 'भूमि परा कर गहत अकासा' परन्तु मेरे लिए यह आश्चर्य जनक नहीं क्योंकि श्री ज्ञानेश्वर जी के प्रताप से भैंस का पड़वा भी वेद मन्त्रोंच्चार कर गया था। भगवत्कृपा ऐसी ही है कि मूकं करोति वाचालं।

इस ग्रंथ को ऐसा ही समझा जाय कि 'सन्तों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी।' जो कुछ अच्छा और सच्चा है, सन्त भगवन्त का प्रसाद है, त्रुटियाँ मेरी हैं।

भाष्य में धार्मिक दृष्टि रक्खी गई है। आज के समाज में प्रचलित धर्म से पृथक तथाकथित साहित्यिक दृष्टि का आश्रय नहीं लिया गया है। कोरी साहित्यिक दृष्टि से श्री वैराग्य संदीपनी जी का मर्म समझा भी नहीं जा सकता। साधु समाज, भक्त समाज, साधक समाज, ज़िज्ञासु समाज़, को लक्ष्य करके निवेदन हुआ है, आलोचक, तार्किक और विद्वत् समाज को लक्ष्य करके नहीं। प्रबुद्ध समाज को जहाँ कहीं संशोधनीय त्रुटियाँ मिलें उनकी सूचना मेरे पास भेज देना महती कृपा होगी।

श्री तुलसी पर्व के पावन अवसर पर यह नैवेद्य श्री गोस्वामी-तुलसी दास जी को ही समर्पित है। सन्त जन इस प्रसाद को ग्रहण करें।

६६ नवैया, गणेशगंज लखनऊ — निवेदक—

३-८-१९८४ — **अवधेश दयाल**

प्रकाशक का वक्तव्य

श्री अवधेश दयाल जी यद्यपि अंग्रेज़ी व राजनीति शास्त्र के एम॰ ए॰ हैं, और एल॰ एल॰ बी॰ हैं, वे प्रवक्ता के रूप में प्राय: अंग्रेजी ही पढ़ाते रहे हैं, परन्तु उनकी शास्त्राध्ययन में रुचि लगभग पचास वर्ष से है और अवकाश प्राप्ति (१९७५) के बाद अब तक भी बनी हुई है इधर प्राय: दस बर्षों से इन्होंने अन्य धर्मों के ग्रन्थों का भी अध्ययन किया है। अंग्रेजी, हिन्दी व संस्कृत के अध्येता होते हुए भी श्री गोस्वामी तुलसीदास जी के साहित्य के विषय में इनका दृष्टिकोंण धार्मिक रहा है।

श्री वैराग्य संदीपनी पर प्रस्तुत भाष्य अभूतपूर्व, अत्यन्त विशद साधन सम्बन्धी रहस्यों का प्रकाशक व मर्म को समझाने वाला है।

हमारी सहयोगी संस्था इसे प्रकाशित करके गौरवान्वित है और विश्वास करती है कि सुधीजन इससे आनन्दित व लाभान्वित होंगे।

१-८-८४ प्रबन्ध संचालक

शिव कुमार दीक्षित

वैराग्य संदीपनी

राम वाम दिसि जानकी. लखन दाहिनी ओर ।
ध्यान सफल कल्यानमय. सुरतरु तुलसी तोर ।।

श्री राम चन्द्रजी की बाई ओर श्री जनकनन्दिनी सीताजी विराजमान हैं और दाहिनी ओर श्री लक्ष्मणजी विराजमान हैं। ऐसा, तीनों सरकारों का ध्यान सभी कल्याणों का निधान है, हे तुलसी! तेरे लिये तो कल्पवृक्ष ही है ।

यह श्री वैराग्य संदीपनी का मंगलाचरण का पहला दोहा है । इससे मंगलाचरण भी हो जाता है और बीजरूप में ग्रन्थ के विषय का समावेश भी हो जाता है । आर्ष ग्रन्थों में व विद्वान् सन्तों के प्रबन्धों में प्राव: इसी प्रकार का दिव्य मंगलाचरण रहता है ।

ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये भगवान् को पहले ही स्मरण करना अस्तिकों की मान्य परम्परा रही है । इसीलिए ज्ञानप्रधान वेदान्त ग्रन्थों में भी प्रारम्भ में मंगलाचरण का श्लोक या छन्द मिलता है । उपासना से विक्षेप या विघ्न का नाश भारतीय दर्शन को मान्य है । अन्य आस्तिक धर्म भी प्रारम्भ में भगवत्स्मरण को मान्यता देते हैं । यथा क़ुरान का प्रत्येक अध्याय करुणावरुणालय दयासिंधु के नाम पर ही प्रारम्भ होता है । बाइबिल भीं जगत्सृष्टा के उल्लेख से प्रारम्भ होती है । बौद्ध. भगवान् बुद्ध

का स्मरण करके मंगलाचरण करते हैं, जैन श्री महाबीर का, सिक्ख श्री अकाल पुरुष का स्मरण करते हैं।

नितान्त निराकार निष्ठ सन्त भी भगवदोन्मुख वृत्ति से अपना ग्रन्थ आरम्भ करते हैं, महर्षि दयानन्द जी ने भी अंकित किया कि उनका वेदभाष्य ईश्वर की कृपा कटाक्ष से ही पूर्ण हो सकता है। जो सर्वव्यापी ब्रह्म में निष्ठ हैं, और 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति रखते हैं, वे भी सच्चिदानन्द स्वरूप का स्तवन करते हैं, और प्राय: गुरुरूपमें भगवान का स्मरण करके मंगलाचरण करते हुए देखे जाते हैं।

मंगलाचरण की भावना में ही अहंकार का विसर्जन और इष्टदेव की कृपामय प्रेरणा की स्वीकृति है। अहंकारमयी वृत्ति से अत्युत्तम ग्रन्थ का प्रणयन लौकिक विषयों में भी कठिन है, पारलौकिक या पारमार्थिक विषयों की बात ही क्या है।

पूज्यपाद कलिपावनाबतार श्री गोस्वामी महाराज सभी मर्यादा-वादियों के शिरोमणि हैं, अत: भून से भी उत्तम शास्त्रीय मर्यादा का कभी अतिक्रमण नहीं करते। अत: ग्रन्थ मंगलाचरण से ही प्रारम्भ करते हैं।

श्री रामचरित मानस एक ब्रहत् ग्रन्थ् है और सभी जनों के लिए है। अत: उसमें विस्तार से देवों, सन्तों आदि की वन्दना की गई है, परन्तु वैराग्य संदीपनी में व्यास शैली नहीं समास शैली है। अत: केवल ६२ छन्दों के ग्रन्थ में एक दोहा ही मंगलाचरण के लिये पर्याप्त है। इसमें इष्टदेव का स्मरण किया गया है।

मंगलाचरण में इष्टदेव का ध्यान शास्त्र विधि के अनुकूल हैं और उत्तम परम्परा से रूढ़ है। निर्गुण निराकर वादी भी अपने ढँग पर ध्यान करते हैं और इसलिए ऐसे सन्तों और विद्वानों के ग्रन्थों में मंगलाचरण उनकी साधना के अनुकूल ध्यान से युक्त होता है। मंगलाचरण और उसमें

वर्णित ध्यान सभी पाठकों के लिए रुचिकर और उपयोगी है। साधारण पाठक इस ध्यान की गहराई में प्रवेश नहीं कर पाता वह केवल साधारण शब्द और शब्दार्थ तक सीमित रहता है। इतने पर भी यह प्रारम्भिक ध्यान प्रेरक और उपयोगी सिद्ध होता है। तार्किक विद्वान के लिए ध्यान का वर्णन भी अर्थ-गाम्भीर्य के कारण रोचक और आकर्षक है। कोरे विद्वान् से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सचमुच ध्यान की गहराई में उतर कर उसके वास्तविक फल को प्राप्त करे। इसलिए वह मंगलाचरण के शब्दों में भी विविधि प्रकार के गम्भीर अर्थों के अनुसंधान से सन्तोष करता है। यह नहीं कहा जा सकता कि उसका अनुसंधान ग़लत है। ऐसे वचनों में गागर में 'सागर' भरा रहता है, इसलिए अर्थ के अनुसंधान की भी सार्थकता है। परन्तु वर्णित ध्यान का तात्विक प्रयोजन और परमोत्कृष्ट परिणाम बुद्धि के विलास से बहुत आगे निकल जाता है।

महर्षि पंतजलि ने योग के आठ अंग बताये हैं। इनके फल भी योगदर्शन में निर्दिष्ट हैं यम और नियमों के अनुष्ठान के बाद आसन और प्राणायाम की उपयोगिता और सार्थकता है। इस प्रकार मनोविकारों का शमन करके शरीर को स्थिर करके प्राणायाम से श्वास की गति नियमित करके चित्त को इष्ट विषय में लगाया जाता है। इतने पर भी चित्त अपने पूर्व संस्कारों व विक्षेपों आदि के कारण इधर उधर भ्रमित होता है। तब उसे अन्यान्य विषयों से निग्रहीत करके इष्ट विषय में पुनः पुनः योजित करना प्रत्याहार है। इस प्रकार एक ही विषय में चित्त का स्थिर करना धारणा है। योग दर्शन ने कहा है कि, देश बन्धश्चित्तस्य धारणा' [३/१] अर्थात चित्त का एक ही जगह पर, एक ही विषय पर ठहरा देना यही धारणा है। तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्। [३/२] चित्त का बराबर एक ही विषय पर केन्द्रित रहना ध्यान है। इस प्रकार योगाचार्य महर्षि पतंजलि के अनुसार केवल दोहे का पाठ कर लेना ध्यान नहीं है। जिस ध्यान को श्री गोस्वामी जी महाराज ने सकल कल्याणमय कहा है। उसे महर्षि पतञ्जलि कथित

ध्यान ही समझना चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण पाठक या श्रोता जिस प्रकार का नाम मात्र का ध्यान करता है, वह मांगलिक या हितकर है ही नहीं। परन्तु ध्यान का सकल कल्याण मय होनां कोई अर्थवाद या अतिशयोक्ति नहीं है। यदि हम तीनों सरकारों का ध्यान उसी प्रकार करें जैसा कि योग दर्शन में बताया गया है तो हमें सकल कल्याणमय की अनुभूति हो सकती है। श्री गोस्वामी जी का वास्तविक तात्पर्य यही है कि हम तीनों सरकारों के परम सुन्दर कल्याणमय स्वरूपके ध्यान में डूब जाएें। क्योंकि ऐसे ध्यान में डूब जाने वाले संसार सागर से तर जाते हैं और जो इस प्रकार के ध्मान के सागर में ऊपर ही तैरते रहते है, डूबते नही, वे संसार समुद्र में डूबते हैं। अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग" (बिहारी)।

महर्षि पंतजलि के अष्टांगयीग में ध्यान सातवाँ अंग है, इसी के बाद समाधि हैं, जो योग का अन्तिम सोपान और फल है। ध्यान से ही समाधि की सिद्धि होती है। योग दर्शन का आदेश है कि समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। [२.४५]। अर्थात् ईश्वर प्रणिधान (उपासना) से समाधि सिद्ध होती है। पूज्यपाद गोस्वामी जी का मन्तव्य यही है कि तीनों सरकारों के चरण कमलों के ध्यान में तन्मय होकर समाधिस्थ हो जाएें। यही सकल कल्याण का दायक होगा।

सन्न जनों ने इस बात पर भी बिचार किया है। कि इस ग्रन्थ के आरम्भ में तीनों सरकारों के रूप का ध्यान अंकित करने का विशेष प्रयो-जन या औचित्य क्या है। भगवान श्री राम चन्द्र जी श्री गोस्वामी जी के इष्टदेव थे। उनके विविध रूप और उनको लीला की विविधि झाँकियाँ, सभी श्री गोस्वामी तुलसीदास जी के लिए इष्ट हैं। फिर भी इस ग्रन्थ के आरम्भ में तीनों सरकारों का वर्णित ध्यान ही सहज और सबसे उपयुक्त पाया गया। जब हम इस बिषय पर विचार करते हैं तो हमें ग्रन्थ के बिषय और प्रयोजन और ग्रन्थ कार के विवेक और कोशल का पता चलता है।

शब्द ग्राही बुद्धि से यह ग्रन्थ भक्ति प्रधान नहीं जान पड़ता। मान्य मिश्र बन्धुओं ने यह सन्देह प्रगट किया था कि यह ग्रन्थ गोस्वामी जी का नहीं है, क्यों कि इसमें शान्ति को परम सुख माना गया है। भक्ति की परम श्रेष्ठता का प्रतिपादन नहीं है। उक्त विचार में गम्भीरता की कमी है। श्री राम चरित मानस में भी भगवत कृपा के लवलेश मात्र से परम विश्राम की प्राप्ति ग्रन्थ के अंत में कहीं गई है। परन्तु इस कथन को भक्ति सिद्धान्त का विरोधी किसी ने नहीं मानां। श्री राम चन्द्र भगवान के सगुण साकर श्री विग्रह को इष्ट देव मानने वाला रामोपासक तीनों सरकारों के ध्यान से युक्त होकर ही सम्पूर्ण ग्रन्थ का स्वाध्याय करेगा। स्वाध्याय का फल यह भी हैं कि इष्ट देव का दर्शन हो। 'स्वध्यायादिष्ट देवता सप्रयोग: [२/४४] स्वाध्याय से इष्टदेव का साक्षात्कार होगा और उसी से समाधि सिद्ध होगी। इसलिए जिस समग्र ज्ञान का सार ग्रन्थ में दिया गया है उस ज्ञान के प्राप्त करने के साधन का बीज ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगला चरण के दोहे में ही रखा है।

श्रीं राम चन्द्र भगवान का स्वरूप उज्जल नील मणि के समान है। 'नील सरोरुह नील मणि, नील नीर धर श्याम। लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोटि कोटि सत काम।। राम चरित मानस बाल काण्ड [१४६] सरकार के स्वरूप को श्री गोस्वामी जी महाराज ने इन्दीवर (नील कमल) के समान बताया है। और उत्तर काण्ड के प्रारम्भ में उसे केकी कंठाभनीलम् मोर के गले की आभा लिए हुए कहा है। श्री शंकराचार्य जी ने भी सच्चिन्मयी नीलिमा सत् चित्मय नीलिमा (अर्थात नील वर्ण) माना है। भगवान् के श्याम स्वरूप की अदभुत अपार महिमा हैं। श्री बिहारी दास जी ने लिखा है कि .

या अनुरागी चित्त की, गति बूझै- नहिं कोय।।
ज्यों-ज्यों भीजै स्यामरँग, त्यों-त्यों उज्जल होय।।"

श्री भगवान के सुन्दर दिव्य श्याम स्वरूप में रमण करते करते चित्त काला नहीं होता, शुभ्र, श्वेत (सफेद, ज्योतिर्मय) हो जाता है। श्री शंकराचार्य जी महराज कहते हैं :-

शुद्धयति हि नान्तरात्मा, कृष्ण पदाम्भोजरति विना"
वसनमिक्षवारोदं्, भक्त्या प्रक्षाल्यते चेत: ।।"

श्री मधुसूदन सरस्वती जी के भक्ति भावभरित श्लोक विद्वज्जनों के के लिए सुविदित हैं। एक श्लोक यहाँ हमारे लिए विशेष उपयुक्त हैं।

उपदेशम् परममिममाद्रियध्वम्
निगम वनेषुनितान्त चार खिन्ना: ।
विचिकुत भवनेषु ब्रजवल्लवीनाम्
उपनिषदमर्थमुलूखले निबद्धम् ।।

इस प्रकार श्री मधुसूदन सरस्वती जी नें श्री यशोदा जी के द्वारा ऊखल में बांधे हुए सच्चिदानन्द स्वरूप श्याम वर्ण श्री कृष्ण चन्द्र को ही उपनिषदों का परम तत्व ओर अर्थ माना है। उसी प्रकार यह समझना चाहिए कि प्रस्तुत ग्रन्थ में भी भक्त शिरोमणि श्री गोस्वामी जी महाराज का मन्तव्य यह है कि यह ग्रन्थ सकल शास्त्रों के ज्ञान का सार है और उस ज्ञान के द्वारा प्राप्त परम तत्व श्री राम चन्द्र भगवान हैं, जिनका आदि शक्ति महारानी सीताजी तथा अनन्य सेवक श्री लक्षमण जी के साथ ध्यान करते रहना जीव का परम पुरुषार्थ और सकल कल्याण का देने वाला है। जैसे प्रबोध सुधाकर में श्री शंकराचार्य महराज ने कहा है-]

अस्माकं यदुन्दनांघ्रि युगल ध्यानावधानार्थिनाम् ।
कि लोकेन दमेन किं सुकृतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम् ।।

(हमारा इतना ही प्रयोजन है कि श्री यदुनन्दन के चरण कमलों में ध्यान बढ़ता रहे, हमें संसार से, दम से पुण्य से , स्वर्ग से अथवा मोक्ष से भी क्या प्रयोजन ?)

उसी प्रकार हमारे गोस्वामी जी भी कहते हैं–

मन मधुकर पन करि तुलसी, रघुपति पद कमल बसैहों। विनयपत्रिका

जैसे रसिक शिरोमणि श्री विल्व मंगल जी श्री कृष्णकर्णामृत में कहते हैं कि –" बालं नीलममी वय मधुरिम स्वाराज्यमाराध्नुम; । मधुरिमा के सम्राट इस नीलवर्ण बालक की हम आराधना करते हैं।, वैसे ही –– नेवछावरि प्रान करै तुलसी, बलिजाउँ लला इन बोलन की

(कवितावली)

जिस समय सिंहासनाधीन राम का ध्यान होता है, पच्चायतन स्वरूप प्रमुख हैं, जिस सभय बाल रूप का ध्यान होता है, या तो अकेले श्री सम लाला का घ्यान आता है अथवा चारों भइयों का–

अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसीमन मन्दिर में विहरैं।

(कवितावली,

श्री राम वन गमन के प्रसंग से लेकर श्री सीताहरण के प्रसंग तक तीनों सरकारों का ध्यान लीला में प्रमुख है। यह तीनों सरकार तीन रूपों में मिलते है पथिक रूप में ,चित्रकूट निवास मैं, पंचवटी निवास में।

श्री राम चन्द्र भगवान का बन गमन उनके चरित्रों में त्याग और तप से भरा हुआ एक अनुपम रत्न है। अत: एक श्लोकी रामायण में पहेले श्री राम बन गमन का ही उल्लेख है। "आदौ राम तपो बनादि गमनम् ।।" वस्तुत: श्री राम चन्द्र जी के ज्ञान तप और वैराग्य की मूर्ति होने का अत्यन्त उज्जल और प्रबल प्रमाण हमें बन गमनके प्रसंग में मिलता है। ज्ञानी की ही यह प्रसंशा है कि बड़े से बड़े दुख

प्राप्त करने पर भी उसकी मुख कान्ति मलीन नहीं होती । श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम चरित मानस के अयोध्या काण्ड में, जिसमें राम बन गमन का चरित्र है, प्रारम्भ में श्री राम चन्द्र जी की बन्दनां करते हुए कहा हैं –,

प्रसन्नताम्‌यानगताऽ मिषेकतस्‌: ,
तथा न मम्‌ले वनवास दु:खत: ।
मुखाम्बुजश्री रधुनन्दनस्य मे,
सदास्तु सा मंजुल मंगलप्रदा ।।

इसी से श्री राघवेन्द्र सरकार का उत्कट वैराग्य प्रगट होता हैं । इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में श्री राधवेन्द्र सरकार का यह वैराग्यमय स्वरूप निश्चय ही स्मरणीय है । भगवान की बनगमन लीला का महत्व और प्रभाव अनोखा है । जिस समय सबसे अधिक सुख का अव-सर था, सरकार नवयौवन की अवस्था को प्राप्त थे, विवाह कर के लौटे थे और राज्यतिलक होने ही वाला था, ऐन मौके पर राज्य के स्थान पर बनबास की प्राप्ति हुंई । उस समय श्री राघवेन्द्र का अविचलित और प्रसन्न रहना सचमुच परम वैराग्य का अनुठा उदाहरण है । इतिहास में राज्य मक्ष्मी के त्याग के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं , और भारतीव परस्परा में, अन्तहु उचित नृपहि बनवासू‘ है, तथापि नई उमर में ही राज्य प्राप्ति के ही समय बनवास हो जाना अत्यन्त दुखद प्रसंग माना जाएगा । बनवास के प्रसंग में श्रीराम चन्द्र जी की परिस्थिति यह थी कि यच्चिचन्तितं मया दूरतरम्‌ प्रयाति‘ (जो कुछ मैंनें सोचा था वह दूर हुआ जाता है । नो चिन्तितं च मनसा तदिहाम्युपेति (जिसका मन में भी खयाल नहीं था वह प्राप्तहो रहा है । सोचा तो यह था कि प्रात भंवामि भुपनेश्वर चक्रवर्ती (सवेरा होते ही मैं चक्रवर्ती सम्राट हो जाऊँगा)

सोऽहम् व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी। (परन्तु मैं जटाधारी तपस्वी के रूप में वन को जा रहा हूं)

उक्त श्लोक श्री गोस्वामी जी महराज का नहीं है। श्रीं रामचरितमानस में श्री राम चन्द्र भगवान बन गमन की बात सुन कर कुछ भी चकित या व्यथित नहीं हुए और और उनके मुख की इसी एकरस शोभा की वन्दना श्रा गौस्वामी जी नें अयोध्या काण्ड के प्रारम्भ में की है। परन्तु इस प्रसंग में स्मरणीय है कि श्री राम बन गमन के चरित्र के चित्रण के समय श्री गोस्वामी जी महाराज नें श्री रामचन्द्र जी को केवल अव्यथित हीं नहीं दिखाया, बल्कि निश्चित रूप से हर्षित बताया है। जिस प्रकार जंगल का जवान हाथी पकड़ कर राज्य दरबार में लाया जाय और जजीर से बाँधकर राजद्वार पर रक्खा जाय तो उसे गौरव नहीं अपितु दुख ही होता है, और यदि जजीर खोल दी जाय तो यह बड़ी खुशी से जंगल की ओर भागता है, उसी प्रकार श्री राम चन्द्र भगवान का भी बन गमन दिखाया गया है।

नव गयंद रघुवंश मनि, राज अलान समान।
छूटि जानि बन गमन सुनि, उर अनन्द अधिकान ।।अयोध्या काण्ड

इस प्रकार उत्तम वैराग्य राज्य को ही बन्धन कारी और दुखदायी मानता है, तथा बनबास को ही सुखकारी व मोक्षकारी रूप में देखता है। स्पष्ट है कि जब श्री गोस्वामी जी महाराज नें गृहस्थ आश्रम का त्याग कर दिया और एकांतिक रूप से भगवत् स्मरण में समय बिताने लगे तो श्री राम चन्द्र ज़ी का बनगामी रूप उनके स्मृति–पटल पर अकित रहना स्वाभाविक था। सन्तो का अनुमान है कि यह ग्रन्थ श्री गोस्वामी जी नें प्रबल वैराग्य की दशा मे लिखा है और ग्रन्थ के नाम और विषय वस्तु को देखते हुए श्री राम चन्द्र जी का वैराग्यमय स्वरूप इस ग्रन्थ के मगला चरण के लिए सबसे अधिक अनुकूल है।

कहा जाता है कि श्री गोस्वामी जी के वैराग्य ले लेनें के बाद उनकी पत्नी नें उनको पत्र लिखा था और दाम्पत्य प्रणयपूर्वक यह आशंका प्रगट की थी कि उनकी रातें कहीं और किसी अन्य स्त्री के साथ न कटनें लगें। इस पत्र के उत्तर में श्री गोस्वामी जी नें निम्न दोहा लिखा:-

कटती है रघुनाथ सँग बाँधि जटा सिर केस।
हम तौ चाखा प्रेम रस, पत्नी के उपदेस ।।

इससे भी यह संकेत मिलता है कि गृह स्थिति त्यागनें के बाद श्री गोस्वामी जी नें अपने मन में बनवासी राम को बसा लिया था। वैराग्य संदीपनी का अर्थ है वैराग्य को जगानें वाली। अत: ऐसे ग्रन्थ के आदि में श्री भगवान का परम वैराग्यमय रूप सबसे उपयुक्त, वन्दनीय और और मंगलकारी है।

जिस वस्तु पर अपना अधिकार नहीं होता उसके छोड़ने में कठिनाई भी नहीं होती, क्यों कि वह तो अपनी है ही नहीं, परन्तु जिस पर अपना पूरा अधिकार होता है उसे छोड़ने में दुख होता है। पिता की वस्तु पर पुत्र का पूरा अधिकार है, परन्तु श्री राम चन्द्र जी की वैराग्य वृत्ति को स्पष्ट करते हुए श्री गोस्वामी जी नें कवितावली जी में कहा है—

राजिव लोचन राम चले, तजिबापु को राज बटाऊ की नाईं।

पथिक के समान श्री राम चन्द्र जी पिता के राज्य को छोड़ कर चल दिए।

मंगलाचरण में अकेले श्री राघवेन्द्र सरकार का स्मरण नहीं है, तीनों सरकारों का स्मरण है और उसका भी औचित्य है। श्री राम चन्द्र जी के बाईं ओर श्री जानकी जी और दाहिनीं ओर श्रीं लखन लाल जी ऐसा तीनों सरकारों का एक समग्र ध्यान बनता है जो सकल कल्याणों का निधान है। श्रीं राम चरित मानस के अयोध्याकाण्ड में चित्रकूट के ही प्रसंग में श्री राम चन्द्र जी से कहा गया है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।
जो सृजति जगु पालति हरति, रुख पाइ कृपा निधान की ।।
जो सहस सीस अहीसु महिधर, लखनु सचारचर धनी ।
सुरकाज धरि नरराजतनु चले दलन खल निसिचर अनी ।।

इस प्रकार श्री राम चन्द्र परात्पर ब्रह्म हैं श्री जानकी जी उनकी माया हैं और लक्ष्मण जी शेषावतार हैं। यह ग्रन्थ अखिल ज्ञान का सार है। ज्ञान के अनुसार ब्रह्म एकदम निष्क्रिय, निरीह, विश्चेष्ट सत्ता मात्र है। जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय में भी उसकी प्रवृत्ति नहीं। सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय, ब्रह्म की रहस्यमय अभिन्न आदि शक्ति, माया के द्वारा होते रहते है। शक्ति के बिना शिव भी शव हैं। श्री राम चरित मानस में बालकाण्ड के आदि में श्री सीता जी की स्तुति में कहा गया है, कि" उद्भव स्थिति सहार कारिणीम् क्लेश हारिणीम् ।

सर्व श्रेयस्करीम् सीताम् नतोऽहम् रामबल्लभाम् ।।

इस प्रकार जगत् के सम्पूर्ण व्यवहार की सचालिका आदि शक्ति श्री जानकी जी हैं। वे श्री रास जी के रुख के अनुसार ही कार्य करती हैं। परन्तु भक्तों के लिए 'सर्व श्रेयस्करीं अर्थात् सब प्रकार के कल्याणों की देनें वाली हैं। यहाँ तीनों सरकारों के ध्यान में चित्रकूट वासी तीनों सरकार ध्यातव्य हैं। यहाँ श्रो जानकी जी तपस्विनी के वेष में हैं।

जब सरकार श्री अयोध्या से बन के लिए चले तो उन्होनें वहीं राज महल में ही तपस्वी वेश धारण कर लिया था। इसी समय श्री जानकी जी भी तपस्विनी का वेश बनानें को उद्यत हुई, परन्तु श्री वाल्मीकि रामायण के अनुसार श्री वसिष्ठ जी ने अपनी विशेष आज्ञा से श्री महारानी जी द्वारा तपस्विनी के वेश के धारण को वर्जित कर दिया। उन्होनें कहा कि वरदान में सीता के तपस्विनी वेश या बनबास की बात नहीं है। अत: वे ऐसा वेप बनानां सहन नहीं करेंगे। उन्होने आदेश दिया कि सीता राजसी

वेश में ही प्रस्थान करेंगी। परन्तु जब तीनों सरकार चित्रकूट में रहने लगे और वहाँ जनक जी का आगमन हुआ तो जनक जी ने श्री सीता जी को तपस्विनी के वेश में ही पाया —

तापस भेस जनक सिय देखी। भयउ प्रेम परितोष विशेषी।।

श्री जनक जी महराज ज्ञानियों के शिरोमणि हैं। आपने तो श्री शुकदेव जी को भी ज्ञानोपदेश किया था। इस लिए पुत्री को तपस्विनी वेष में देख कर आपकी आँखों से आँसू नहीं बहे, पुत्री की तपस्या को देख कर आपका प्रेम और परितोष जागृत हुआ, क्योंकि आपको आदर्श धर्म पालन देखकर ही प्रसन्नता होती है। आपकी दृष्टि मे दुनिया के आराम की कोई कीमत नहीं है।

जिस प्रकार का वैराग्य श्री राघवेन्द्र सरकार के चरित्र में प्राप्त होता हैं, श्री जानकी जीं के चरित्र के वैराग्य की छटा उससे कम नहीं है। श्री राम जी को तो श्री केकयी जी के वरदान के अनुसार 'तापस वेष विशेष उदासीं बनकर रहना था, परन्तु श्री जानकी जी के लिए कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं था। इसी लिए श्री वसिष्ठ जी नें श्री जानकी जी का तपस्विनी के वेष में राजमहल से निकलना सहन नहीं किया। परन्तु अवसर मिलते ही श्री सीता जी ने तपस्विनी का वेष धारण कर लिया। यह भी कम महत्व पूर्ण नहीं है कि जिन वस्त्राभूषणों के साथ श्री सीता जी राजमहल से चलीं थी उनमें भी उनकी कोई आसक्ति नहीं थीं। इसीलिए हम देखते हैं कि जब केवट ने तीनों सरकारों को गंगा पार उतारा और श्री राम चन्द्र जी को संकोच हुआ कि इसको उतराई नहीं दी गई तो श्री रामजीके भाव को समझ कर उनके बिनां कुछ कहे हुए ही श्री जानकी जी ने मणि जटित अँगूठी अपनी उँगली से उतार कर प्रसन्नता पूर्वक श्री राम जी को दे दी। तब श्री राम जी नें वह रत्न जटित अँगूठी केवट को उतराई मे देनीं चाही। जब केवट ने उसे लिया नहीं तो राघवेन्द्र सरकार के हांथ में वह

रह गई। संयोग से इस ललित चरित्र का यह परिणाम आया कि जिस समय श्री जनकी जी लंका की अशोक वाटिका में विरह व्याकुल विराजमान थीं, श्री हनुमान जी के द्वारा वहीं अँगूठी राम जी की चिन्हारी के रुप में उन्हें प्राप्त हुई। ध्यान देने योग्य बात यह हैं कि श्री जानकी जी नें श्री वसिष्ठ जी की आज्ञा से, धर्म पालन की दृष्टि से विवश होकर राजसी वेष में अयोध्या से प्रस्थान किया था। प्रसन्नता से या शौक से नहीं। श्री राम यद्यपि तपसी वेष में गगा पार हुए थे परन्तु उन्हें उतराई न दे सकने के कारण राजकुमारोचित संकोच हुआ। ऐसे समय में वह अँगूठी सरकार के सकोच को दूर कर सके और केवट को उत्तम उतराई प्राप्त हो जाव इसके लिए श्री जानकी जीं ने मुदित होकर वह अँगूठीं उतार कर दे दीं। यह आदर्श भक्ति है जिसमें कोई भीं बहुमूल्य वस्तु केवल उतने हीं अंश तक सुखद है जितनें अंश तक वह श्रीं भगवान कीं सेवा में प्रयुक्त हो या उनकीं आज्ञानुसार काम में लाई जाय।

यदि श्री राम चन्द्र भगवान का राजतिलक होता तों श्रीं जानकी जी भीं उनकीं बाईं ओर सिंहासन पर विराजतीं। इस लिए राज्याभिषेक से वचित होना दोनों सरकारों के लिए एक समान था। परन्तु बनबास कीं शर्त श्रीं जानकीं जी के लिए नहीं थीं। उन्होने श्रेष्ठ जनों के विपरींत आग्रह को भीं न मान कर स्वयं हीं बनबास का वरण किया और बन में रहते हुए भीं साक्षात् विग्रहवान् धर्म श्रीं राम चेन्द्र कीं तपस्या में कुछ भीं बाधा न डालते हुए सहचर्या में रहीं। तपस्या का आदर्श या वैराग्य का रस श्री जानकीं जी के के चरित्र में राम चरित्र से कम नहीं। बन में रहते हुए महारानीं जीं को श्री अयोध्या कभी भी सुगम या सुखद रूप में याद नहीं आई—

सिय मन राम चरन अनुरागा। घर न सुगम वन विषम न लागा।।
अयोध्या काण्ड

इस प्रकार दोनों सरकार वैराग्य के रस से परिपूर्ण हैं। उनके ध्यान से भक्त से चित्त में वैराग्य कीं दृढ़ता आतीं है। भक्तों को इस ध्यान से यह प्रेरणा भीं मिलती है कि उनका वैराग्य भगवान के प्रेम का सहज परिणाम होना चाहिए क्यों कि—

रमा विलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि नर बड़ भागी ।।

भक्तों का उत्तम वैराग्य भागवत प्रेम का ही सहज और स्वभाविक प्रतिफल है। परम वैराग्य कोई नीरस वस्तु नहीं, इसी से पराभक्ति और भगवान के स्वरूप के आनन्द की प्राप्ति होती है। श्री गोस्वामी जी का वचन है कि—

सात टूक कोपीन में, अरु भाजी बिनु लौन।
तुलसी रघुवर हिय वसैं, तो इन्द्र बापुरो कौन ।। दोहावली ।।

श्री गोस्वामी जी नें जो ध्यान मंगलाचरण में अंकित किया है वह इस लिए भी अत्यन्त उपयुक्त और अनुकूल है कि बहुत से वैष्णव भक्त युगल सरकारोपासक होते हें। और श्री राम और जानकी दोनों का एक साथ ध्यान करना उन्हें अभीष्ट है। युगल सरकार सिंहासनासीन भी हो सकते हैं और वनवासी भी, चित्रकूट वासी भी हो सकते हैं और गोदावरी के निकट पंचवटी वासी भीं, अथवा पथिक के रुप में भीं उपास्य हैं। स्पष्टहै कि वनवासीयुगल सरकार का ध्यान श्रीं वैराग्य संदीपनीं के मंगलाचरणार्थ स्वाभाविकऔर अधिकअनुकूल है। तींनों सरकारों में श्री राम परात्पर ब्र्म्ह हैं श्रीं जानकीं जीं आदि शक्ति, पराभक्ति स्वरूप, अनन्य अनुगता देबीं हैं और श्रीं लक्ष्मण जीं परम वैराग्य से युक्त शरणागत सेवक हैं। आप शरणागत दास भाव और आज्ञा पालन के धर्म में अप्रतिम् हैं।

श्रीं राम के तींनीं भाइयों में श्रीं लखन लाल जीं अधिक अभिन्न हैं। श्रीं गींतावलीं जीं में शब्द है कि—

"जीवन जग जानकीं लखन को, मरण महीप सँवारो।"

श्री जानकी जी और श्री लक्ष्मण जी का जीवन इसलिए विशेष धन्य माना गया कि वे बनवासी राघवेन्द्र सरकार को सेवा में रहे, बनवास काल में इन्हें अलग होकर अयोध्या में नहीं रहना पड़ा । इसीं से श्री भरत जी ने कहा है कि—

अहृहृ धन्य लक्ष्मण बड़भागी/राम पदारबिन्दु अनुरागी ।। उत्तरखण्ड

श्री लक्ष्मण जी के लिए कोर्ट त्याग ऐसा महान नहीं हैं जो वह श्री राम के लिए न कर सकें, न कोई ऐसी आज्ञा है जिसका उन्होंने पालन न किया हो । इसलिए जेसे श्री राम जानकी की जोड़ी हैं वैसे ही श्री राम लक्ष्मण की भी जोड़ी है । श्री राभ दोनो जोड़ियो में है इसलिए दोनो जोड़ी मिलाकर तीनों सरकारो का ध्यान बनता है जोपरम मांगलिक है ।

यद्यपि श्री जानकी जी परमसती है, पतिव्रत धर्म, वैराग्य, शरणा मति, अनन्य सेवा, समर्पण आदि का आदर्श उनमें उत्कृष्टतय रुप में पाया जाता है परन्तु युगल सरकोरोपासक वैष्णव के लिए वह इष्ट देवी के ही रूप में हें, शरणागत भक्त के आदर्शं के रूप में नही हैं । श्री लक्ष्मण जी का चरित्र उपासकों के लिए अनुकरणीय हैं । उनमें प्रखर वैराग्य है, अखण्ड पुरुषार्थ एवं परमबल है । श्री गोस्वामी जी महराच ने रामचरित मानस, बालकाण्ड में, श्री लक्ष्मण जी की वन्दना में कहा है कि 'रघुपनि कीर्ति विमल पताका, नेण्ड समान भयऊ जस आका ।' यहाँ श्री गोस्वामी जी, जान पड़ता है कि उपमा देने में प्रसिद्ध महाकवि कालीदास से भी बढ़ गए । ऊँचा झन्डा विशेष सम्माननीय माना जाता है । आदर तो पताका का होता है परन्तु दण्ड की ऊँचाई पताका की ऊँचाई चा कारण बनती है और उसे अधिक सम्माननीय बनाती है । पताका से प्रथक दण्ड का कोई सम्मान नही होता । श्री लक्ष्मण जी के सारे चरित्र में हम यह पाते

हैं कि उनका वैराग्य उनका पुरूषार्थ, उनकी अखण्ड, सेवा आदि सब कुछ श्रीं राम चन्द्र जी के यश को बढ़ाने के लिए ही था, अपने लिए कुछ नहीं। सम्पूर्ण बनवास काल में श्रीं युगल सरकार की सेवा में दिन रात अखण्ड पुरुषार्थ पूर्वक लगे रहे। उन्होने पूर्ण इन्द्रिय विजय प्राप्त की, बनवास में निद्रा को त्याग दिया, दिन भर तो सेवा करते ही थे रात भर पहरे पर रह कर चौकसी करते थे।

कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि वीरासन।।
अयोध्याकाण्ड

इस प्रकार श्री लक्ष्मण जी अकेले ही दिन रात श्री युगल सरकार की सेवा में रहते थे।

श्री राम चरित मानस अयोध्या काण्ड में तीनो सरकार वन पथ गामी रूप में प्राप्त होते है। उस रूप में श्री राम चन्द्र जी आगे-आगे चलते हैं। महारानी सीता श्री राम की अनुगामिनी हैं। वे श्री राम चन्द्र जी के साथ-साथ नहीं अनुचरी बन कर उनके पीछे-पीछे चलती हैं, परन्तु इस प्रसंग में श्री गोस्वामी जी द्वारा मर्यादा का निर्वाह देखते ही बनता है। श्री जानकी जी श्री राम चन्द्र जी के चरण चिन्हों का अनुसरण तो करती हैं परन्तु परम आदरपूर्वक यह सावधानी रखती हैं कि श्री राम जी के चरण चिन्हों पर पैर न पड़ जाय। अनुसरण कही अतिक्रमण न हो जाय—

प्रभु पद रेख, बीच बिच सीता।
धरति चरन मग चलति सभीता।। अयोध्या काण्ड

श्रीं सीता जी के पीछे पीछे श्री लक्ष्मण जी वन पथ गामी हैं। वे श्रीराम जानकी के चरण चिन्हों का अनुसरण कर रहे हैं। उनके लिए यह कठिन है कि वे उसी पंक्ति में पैर रखते हुए साथ साथ उसी गति से

चलते हुए भी पूरी सावधानी रखें कि युगुल सरकार के चरण चिन्हों पर कभी पैर न पड़ जाय। इसलिए श्री लक्ष्मण जी,

सीय राम पद अंक बराए।
लखन चहिं मगु दाहिन लाए। (अयो० का०)

इस प्रकार श्री लखन लाल जी दोनों सरकारों की सेवा में अनुचर वत् जा रहें हैं। श्री गोस्वामी जी का कहना है कि—

अजहुं जासु उर सपनेहुं काऊ।
बसहिं राम सिय लखन बटाऊ।।
राम-धाम पथ पाइहि सोई।
जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई।। अयो० कां०

वन पथ पर चलनें वाले तींनों सरकारो को हृदय में बसा लेने से सरकार की प्राप्ति और पराभक्ति का मार्ग निरापद हो जाता है। जिस साधक का मन उत्कृष्ट वैराग्य से युक्त है, जो धर्म अर्थ काम तीनों की इच्छा से ऊपर उठ चुका है, उसके लिए बन पथ गामी तीनों सरकारों का ध्यान अत्यन्त मांगलिक है। क्योंकि सकल कामनाओं को छोड़ देने पर भगवत् प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो जायगा और पराभक्ति भी उसी के लिए है जो सकल कामना हीन(सभी इच्छाओं से रहित)हो चुका है। पराभक्ति और संसार की आसक्ति दोनों साथ-साथ नहीं चल सकतीं। युगुल सरकार की उपासना चाहे दास भाव से हो चाहे मधुर भाव से, उसी के लिए है जो सब प्रकार की काम वासना से तथा विषयासक्ति सें नितान्त अलग हो चुका है। जिसकी विषयासक्ति कुछ शेष है वह इस पराभक्ति का इच्छुक और साधक हो सकता है, इसमें प्रतिष्ठित नही हो सकता। भगवान की दिव्य लीला में सम्मिलित होनें और भगवान के स्वरूप की दिव्य झाँकी करने के लिए मोक्ष की भी इच्छा का छूट जाना आवश्यक है। श्री रूप

गोस्वामी जी ने भक्ति रसामृत सिंधु में लिखा है कि भुक्ति मुक्ति स्पृहा-यावत् पिशाची हृदि वर्तंते ।अर्थात् जब तक भोग और मोक्ष की इच्छा रूपी चुड़ैल हृदय में वर्तमान् है तब तक हरि भक्ति के रस के अमृत का अभ्युदय कैसे हो सकताहै ? श्री रूप गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ में श्री हरि भक्ति रसामृत सिंधु की मछलियों की वन्दना की है, जिन्होने मुक्ति रूपी नदी में कभी भी प्रवेश नही किया । इस प्रकार अलौकिक भक्तों के लिए भगवान की भक्ति ही सागर है और इसी की वे मछलियाँ हैं । इस जल के बाहर उनके जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती । यह समुद्र खारे जल का नहीं अमृत का समुद्र है । आज कल विज्ञान ने बताया है कि समुद्र की गहराई में रहने वाली मछली समुद्र के ऊपरी जल तल पर कभी नहीं आती, न ऊपर आकर वह जीवित रह सकती है । जिस गहराई पर नदियों का पानी समुद्र में मिलता है वह ५०-१०० फीट हो सकती है, परन्तु ६०० फीट तक समुद्र बहुत कम गहरा माना जातगा । इसी से गहरे समुद्र की मछली किसी नदी में नहीं पाई जाती । श्री राम चरित मानस में उत्तर काण्ड के अन्त में कहाहै—

जिमि जल बिनु थल रहि न सकाई ।
कोटि भाँति कोऊ करै उपाई ।।
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई ।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ।। उत्तर काण्ड

मोक्ष रूपी नदियाँ भक्ति रसामृत सिंधु में मिले बिना नहीं रह सकतीं परन्तु भक्ति रसामृत सिन्धु की गहराई में रहने वाली मछलियाँ उस गहराई से ऊपर उठकर मुक्ति रूपी नदियों में कभीं प्रवेश नहीं करतीं । ऐसी-"अप्रविष्ट मुक्ति नदीकानाम्" (जो मुक्ति की नदियों में कभी नहीं घुसीं) मछलियों को श्री रूप गोस्वामी जी ने नमस्कार किया है । श्री लखन लाल जी इसी प्रकार की पराभक्ति का स्वरूप हैं । ऐसे भक्तों

के लिए श्री भगवान की सेवा का ही एक मात्र कर्त्तव्य हैं। अन्य किसी कर्त्तव्य का इससे स्वतन्त्र कोई महत्व नहीं हैं। जिस समय श्री राम चन्द्र जी के लिए श्री अयोध्या से वनवास के लिए चलने का प्रसंग आया उस समय श्री राम चन्द्र जी से अभिन्न और अनन्य श्री जानकी जी ने भी साथ ही वन गमन करने की अनुमति प्राप्त कर ली। इस समय श्री लखन लाल जी भी श्री राम चन्द्र जी के साथ वन जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक हुए। श्री राम चन्द्र जी ने राज धर्म के आधार पर उन्हें बहुत समझाया कि वे अयोध्या में ही रहकर प्रजा पालन करें। भरत और शत्रुघ्न की अनुपस्थिति में श्री दशरथ जी के बृद्ध होने और राम बन गमन से अत्यन्त दुखित होने के कारण प्रजा पालन के लिए उन्होने श्री लखन लाल जी का श्री अयोध्या में रुक जाना अत्यन्त आवश्यक बताया–

रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू ।। अयोध्या काण्ड

इस सब उपदेश पर भी श्री लखन लाल जी का समाधान नहीं हुआ। जो विनम्र निवेदन उन्होंने किया उससे पराभक्ति सम्बन्धी उनकी निष्ठा भली भाँति प्रकट होती है, उन्होने कहा—

धरम नीति उपदेसिय ताही।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ।।
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला।
मन्दर मेरु के लेहिं मराला ।। अयोध्या काण्ड

यहाँ श्री लखन लाल जी नें स्पष्ट कर दिया कि धर्म पालन करने का प्रयोजन त्रिविधि होता है—१. कीर्ति— (दुनिया में नेकनामी रहे बदनामी न होंने पाए)। २. भूति—दुनिया में सुख सुविधा वैभव प्राप्त हो। ३. सुगति—मरने के बाद परलोक में स्वर्ग बैकुण्ठ, गोलोक,

साकेत, ऐसी किसी जगह बास मिले या भगवान में मिल जानें का अवसर हो। उक्त तीनो फलों मे से जिसे कोई भी फल अभीष्ट हो, उसे धर्म पालन का कर्त्तव्य प्राप्त होता है। श्री लखन लाल जी कहते हैं कि मैं तो आपके प्रेम से पला हुआ बच्चा हू, मुझे कीरति, भूति, सुगति कुछ नहीं चाहिए। धर्म पालन का भार मन्दराचल या सुमेरु पर्वत के समान भारी है उसे हंस का बच्चा नहीं उठा सकता। उसी प्रकार मैं आप के स्नेह से पला हुआ बच्चा, आपसे अलग रहकर आपके द्वारा उपदिष्ट कठोर धर्म के पालन का भार नहीं उठा सकता हूँ।

इस संबांद से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री लखन लाल जी को लोक परलोक के कोई भी सुख प्यारे नहीं हैं और भगवान् की सेवा को छोड़कर अन्य किसी कर्त्तव्य का उनके लिए कोई मूल्य नहीं। सुगति का भी प्रयोजन वे मान्य नहीं करते। उनके लिए एक मात्र प्रभु की भक्ति का ही प्रमोजन है। यहाँ, यह भी विचारणीय है कि श्री भगवान ने तो केवल प्राप्त संकट काल में प्रजापालन की आवश्यकता पर बल दिया था, तो फिर श्री लक्ष्मण लाल जी नें उस बात की उपेक्षा क्यो कर दी? वस्तुत: सभी धर्म व्यक्ति और समाज की लौकिक और पारलौकिक आवश्यकताओं को लक्ष्य करके ही निश्चित किए जाते हैं; परन्तु भगवान के शरणागत भक्त के लिए भगवान् की सेवा से बढ़कर कोई भी धर्म नही है। वनवास काल में श्री राम चन्द्र जी की सेवा के लिए कोई और अनुचर नहीं जा सकता था न जा रहा था, अत: केवल उस सेवा की आवश्यकता को श्री लखन लाल जी ने मान्य किया और अलग रहकर किसी अन्य धर्म का निर्वाह करना उन्हें सहन करने योग्य नहीं लगा। श्रीयद्भगवत गीता के अन्त में श्री भगवान कृष्ण ने कहा है कि—

'सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणम् ब्रज। गीता १८/६६ (सब धर्मो को छोड़कर एक मात्र मेरीशरण में आओ)। श्री

लक्ष्मण जी का चरित्र श्री गीता जी के इस अन्तिम उपदेश पर विशद व्यावहारिक भाष्य है। श्री सुमित्रा जी उपासना की सूर्तिमयी देवी की तरह हैं। श्री लक्ष्मण जी को सहर्ष वन गमन की अनुमति देते हुए उन्होंने कहा—

तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाही ।। तथा,
तात तुम्हार मातु वैदेही।
पिता राम सब भाँति सनेही ।। अयोध्या काण्ड

पुन: राम जानकी की कैसी सेवा होनी चाहिए इसके लिए श्री सुमित्राजी ने उपदेश किया कि—

सकल प्रकार विकार विहाई।
मन क्रम वचन करेहु सेवकाई ।। अयोध्या काण्ड

इस प्रकार उपासना की दृष्टि से लक्ष्मण जी के लिए यह एक गौरव पूर्ण अवसर माना गया कि श्री युगुल सरकार के बनवास काल में वे उनके एक मात्र अनन्य सेवक के रूप में साथ जायं और साथ रहें। इस प्रकार तीनों सरकारों में युगुल सरकार इष्ट देव के रूप में है और श्री लखन लाल जी उनके अनन्य सेवक के रूप में हैं। तीनों सरकारों का ध्यान करने वाले को इष्ट का भी ध्यान आता है और सेवा के आदर्श स्वरूप का भी। इस लिए भी यह तीनों सरकारों का ध्यान सकल कल्याण का देने वाला है। यहाँ यह विचार कर लेना भी उपयुक्त होगा कि श्री लखन लाल जी श्री राम जी के अनुज हैं और भक्ति के महान् आचार्य, सम्प्रदाय प्रवर्तक, श्री रामानुजाचार्य जी श्री लखन लाल ही के अवतार मान्य हैं। तदनुसार उनका नाम भी हैं। श्री लखन लाल जी के वचनों और क्रिया में हमें भक्ति का जो दर्शन प्राप्त होता है

वही श्रीं रामानुजाचार्य के दर्शन का सारांश है । श्रीं रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्धैत दर्शन का प्रतिपादन किया है । उन्होंने भी यह भावना रखी कि मुझमें धर्म पालन करके मर्यादा मार्ग से मुक्त हो जाने की सामर्थ्य नहीं है । मेरा उद्धार भगवत् कृपा से, अनुग्रह मार्ग से, हीं सम्भव है । इस प्रकार श्रीं लखन लाल जी की भक्ति और श्री रामानुजाचार्य का भक्ति दर्शन तत्वतः भिन्न नहीं है । सच तो यह है कि जब तक हम निज पुरूषार्थ से स्वधर्मानुष्ठान करके मोक्ष पाने का आग्रह रखेंगे तब तक हम अभिमान से छूट नहीं सकते और हमारे लिए श्री भगवान की उपासना की कोई प्रबल प्रेरणा भी नहीं हो सकेगी । जब हमारी अभिलाषाओं का अन्त हो जायगा तो लोक परलोक में सुख-सुविधा, सुयश, सुगति आदि प्राप्त करने की लालसा भी क्षींण हो जाएगी । इसलिए उस कारण से धर्म पालन की विवशता भी समाप्त हो जाएगी । वासना क्षय होने पर अधर्म करने की प्रेरणा भी नहीं होगी । ऐसी दशा में अनन्य सरणागत दिव्य भक्त को केवल भगवत् सेवार्थ कर्म करने की प्रेरणा होगीं । तभी वह पराभक्ति की भूमिका में प्रवेश कर सकेगा और भगवान की दिव्य लींला का परिकर होने का अधिकारी होगा । इस लिए तीनों सरकारों के ध्यान में हमें इष्ट, साधना, तपस्या, सेवा का आदर्श आदि सब कुछ प्राप्त होता है, इस लिए यह ध्यान सकल कल्याणमय कल्प वृक्ष के समान है । वन पथ गामी तीनों सरकारों का ध्यान परमार्थ पथ की प्राप्ति और उसका दृढ़ अनुसरण करने के लिए परम प्रेरक और सहायक है । यहाँ, प्रथम दोहे में जो वर्णन किया गया है, उसमें तीनों सरकारों की झाँकीं मार्ग में चलते हुए नहीं प्रस्तुत की गई है । तीनों सरकार सुख पूर्वक आसीन हैं । इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि वर्णित झाँकीं चित्रकूट कीं है या पंचवटी की है । बिल्कुल यही दोहा श्री दोहावली के प्रारम्भ में भीं लिखा गया है वहाँ इस दोहे के बाद दूसरा दोहा निम्न प्रकार है—

सीता लखन समेत प्रभु सोहत तुलसीदास ।
हरषत सुर बरसत सुमन, सगुन सुमंगल वास ।।

पहला दोहा श्री रामाज्ञा प्रश्नावलीं में ७.३.७ पर भी पाया जाता है और दोहावली जी का उपर्युक्त दूसरा दोहा भी श्री रामाज्ञा प्रश्नावली में ३.१.७ पर पाया जाता है । इस दूसरे दोहे से प्रगट होता है कि श्री गोस्वामी जी नें तीनों सरकारों के दिव्य स्वरूप का वर्णन किया हैं जिसका दर्शन करके देवता प्रसन्न होते हैं, पुष्प वृष्टि करते हें और इस झाँकीं में सकल सुमंगलों का वास पाया जाता है । पराभक्ति की भूमिका यह है कि अपने इष्ट वे बढ़कर या भिन्न कोई तत्व मान्य नहीं रह जाता । श्री मधुसदन सरस्वती जी ने श्री कृष्ण की छवि वर्णन करके यह घोषित किया कि,

'कृष्णात् परम् किमपि् तत्वमहम् न जाने ।'

(कृष्ण से परे कोई तत्व हम नही जानते) । भगवान् के अनन्य व्यक्त श्री विल्व मंगल जी रास लीला स्थित श्री कृष्ण के उपासक थे । उन्होने श्रीं कृष्ण कर्णामृत के द्वितीय श्लोक में वस्तु या तत्व के रूप में रास लींला स्थित श्री कृष्ण का ही वर्णन किया है जिनकीं छवि को देखकर स्वर्गादि लोगों की अप्सराएँ कल्प वृक्ष के सुमनों की वर्षा कर रहीं है, जिनसे वे ढके जा रहे हैं ।

अस्ति स्वस्तरुणी कराग्रविगलत् कल्प प्रसूनाप्लुतम्

इसी प्रकार तींनों सरकारों की यह झाँकी श्री गोस्वामी जी को इष्ट है और उनकी अनुभूति के अन्तर्गत देवगण छवि दर्शन से प्रसन्न होकर पुष्प वृष्टिकर रहे हैं ।

उक्त दोहा श्री चित्र कूट वासी तीनों सरकारों से सम्बन्धित मान्य है, इसीं के बाद श्री दोहावली जी का तृतीय दोहा है जिसमैं पंचबटी में आसीन तीनों सरकारों की झाँकी है ।

पंचवटी वट विटप तर, सीता लखन समेत ।
सोहत तुलसीदास प्रभु, सकल सुमंगल देत ।।

यह दोहा पंचवटी में तीनों सरकारों की झाँकी कराता है। और यह झांकी भी सकल सुमंगल दायिनी हैं । यह दोहा श्री रामाज्ञा प्रश्नावली में ३.२.७ पर पाया जाता है । श्री वैराग्य संदीपनी के मंगलाचरण में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि झाँकी चित्रकूट की है या पंचवटी कीं परन्तु दोनों झाकियां सकल कल्याणप्रद हैं । संतजनों का मत है कि श्री वैराग्य संदीपनी में चित्रकूट की झाँकी ही मानना चाहिए। वनवास काल में तीनों सरकार दीर्घ काल तक चित्रकूट में आसीन रहे तब कुछ समय तक पंचवटी में भी वास दिया । पचेवटी में सीताहरण की लीला हुई जिससे लीला में तीनों सरकारों की झाँकी नहीं रह गई। परन्तु चित्रकूट धाम में जब तक निवास रहा तीनों सरकार साथ-साथ ही निवास करते रहे । श्रीं गोस्वामी जी के विषय में यह सुविदित है कि वे स्वयं पर्याप्त समय तक चित्रकूट में वास करते रहे । जिस गिरि पर सरकार वास करते थे उसका नाम आज तक कामद गिरि है। इसलिए ऐसा मानना ठीक हो सकता है कि श्री गोस्वामी जी ने जो झाँकी प्रस्तुत की हें उसे चित्रकूट की समझा जाय । तीनों सरकारों की झांकी तों दोनो जगह एक सी है परन्तु स्थान का भेद है । चित्रकूट में भी और पंचवटी में भी पाँच वृक्षों के बीच स्थान बनाया गया था वहीं तीनों सरकार विराजते थे और सतसंग आदि होता था । पंचवटी राक्षसों से अधिक आक्रान्ता थी और सरकारों के आगमन के पहले अभिशप्त भी थी, परन्तु चित्रकूट में बरावर सन्त समागम होता रहता था। चित्रकूट में जो सतसंग का स्थान था वहीं पर श्री राम और भरत की भेंट हुई थी। चार वृक्ष पाकर जामुन आम और तमाल के लगे हुए थे और—

तिनु तरुवरन मध्य वट सोहा।
मंजु विशाल देखि मन मोहा।।
वट छाया वेदिका बनाई।
सिय निज पानि सरोज सुहाई।। अयोध्या काण्ड

पंचवटी में भी पाँच वृक्ष थे, जिनके बीच सरकार विराजते थे, परन्तु वहाँ पांचों वृक्ष बरगद के थे इसी लिए इसका नाम पंचवटी था। दोनों जगह तीनों सरकार पाँच वृक्षों के बीच मध्य वृक्ष की वेदिका पर अविचल छाँह में विराजते थे और उनका दर्शन और ध्यान सकल कल्याण प्रद, सकल, शुमंगल दायक कल्प वृक्ष के समान है।

चित्रकूट वासी तीनों सरकार श्री गोस्वामी जी के लिए विशेष आराध्य थे। यह बात सुविदित है कि श्री गोस्वामी जी को श्री राघवेन्द्र सरकार के दर्शन चित्रकूट में हुए थे। इस सम्बन्ध में दोहा भी प्रसिद्ध है कि—

चित्रकूट के घाट पै, भइ सन्तन की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसैं, तिलक देत रघुबीर।।
मूल गोसाईं चरित

इस प्रकार चित्रकुट वासी सरकारों में श्री गोस्वामी जी की विशेष निष्ठा होनां स्वाभाविक है। श्री गीतावली जी में कहा गया है—

लोने लाल लखन, सलोने राम, लोनी सिय,।
चारु चित्रकूट बैंठे सुरतरु तर हैं।।',

इससे प्रतीत होता है कि चित्रकूट में जिस वट के नीचें वेदिका बनाई गई थी उसे कल्प वृक्ष माना गया है। वह वृक्ष भी सकल काम-

प्रद है और गिरि भी कामद गिरि है, सब कामनाओं को पूरा करने वाला है। श्री बरवै रामायण में भी चित्रकूट के उस वट वृक्ष को कल्पतरु कहा गया है—

चित्रकूट पयतीर सो सुरतरु वास।
लखन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास॥

दोहावली जी के पांचवे दोहे में यह भी कहा गया है कि --

पय नहाइ फल खाइ जपु, राम नाम षट् मास।
सकल सुमंगल सिद्धिसब, करतल तुलसीदास॥

सरकार के अनन्य भक्तगण इष्ट स्वरूप का इष्ट स्थान से विछोह नहीं मानते। व्रज रस के रसिक अपनी निष्ठा के अनुसार कृष्ण का वृन्दावन से कहीं और जाना स्वीकार नही करते, उनके लिए श्री कृष्ण का नित्य लीला धाम वृदावन ही है जिसे छोड़ कर कृष्ण एक कदम भी कही नहीं जाते--

वृदावनम् परित्यज्य पादमेकं न गच्छति

इसी प्रकार श्री अयोध्या के रसिक दिव्य भक्तों के लिए श्री अवध ही साकेत धाम है। वे ऐसा नहीं मानते कि श्री राघवेन्द्र सरकार अवतार की लीला पूरी करके श्री अयोध्या जी को छोड़कर निज दिव्य धाम साकेत को चले गए। हो सकता है कि इसी निष्ठा की रक्षा करते हुए श्री गोस्वामी जी ने राम चरित मानस में श्री राघवेन्द्र सरकार के प्रजा सहित निज धाम गयन का चरित्र नहीं लिखा। श्री गीतावली जी में श्री गोस्वामी जी नें कहा है कि राघवेन्द्र सरकार के चरित्र सरित में स्नान करने वाले दिव्य भक्तों के लिए श्री अयोध्या अब भी वही हैं और श्री राम चन्द्र जी अब भी वहीं विराजमान है—

''तुलसी तबके से अजहु जानिबे, रघुबर नगर बसैया।''

इसी प्रकार चित्रकूट में तीनों सरकारो का बास भी अनन्य भक्तों की निष्ठा में नित्यवास माना गया है—

चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत :
रामनाम जप जापकहि, तुलसी अभिमत देत ।। दो० ४।।

तीनों सरकार ज्ञान भक्ति वैराग्य के प्रतीक भी हैं। श्री राम चन्द्र जी ज्ञान स्वरूप है –

''ज्ञान अखंड एक सीतावर। माया वस्य जीव सचराचर।।' उत्तरकाण्ड

इसी प्रकार श्री जनक नन्दिनी जी भक्ति स्वरूपा हैं—भक्ति तव गेहिनी, (विनय पत्रिका)। श्री लखन लाल जी प्रबल वैराग्य के साक्षात् स्वरूप हैं। इस प्रकार तीनों सरकार ज्ञान भक्ति और वैराग्यकी साक्षात् मूर्ति हें और सकल कल्याण के देने वाले हैं।

वेद त्रिकाण्डमय कहे गए है। वेदों में कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञान काण्ड हैं—

''कर्म उपासन ज्ञान वेद मत, सो सब भाँतिखरो,, (विनय पत्रिका)।

यहाँ श्री लखन लाल जी प्रबल वैराग्य की भावना के साथ सरकार की सेवा में अहर्निशि कर्म निष्ठ हैं, श्री महारानी जी अनन्य उपासना का स्वरूप हैं और श्री राम चन्द्र श्री सच्चिदानन्द विग्रह हैं—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी।।
अयोध्याकाण्ड

इस प्रकार तीनों सरकारों के दर्शन में हम त्रिकाण्ड युक्त वेद का सन्देश ओर सारांश प्राप्त होता है।

तीनों सरकारों के स्वरूप से हमें कुछ और भी सन्देश प्राप्त होता है।श्री राम चन्द्र जी परात्पर ब्रह्म स्वरूाप इस जगत् के आधार हैं परन्तु, जगत की रचना स्थिति और संहार परब्रह्म की, रहस्य मयी शक्ति माया के ही द्वारा होता है। श्री वाल्मीकि जीनें कहा है कि; —

श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीशमाया जानकी
जो सृजति जग पालति, रूख पाइ कृपा निधानकी ।।,,
जो सहस सीस अहीस महि धरु, लखन सचराचर धनी।
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलनि खल निसिचर अनी ।।
(अयो० का०)

इस वचन में श्री वाल्मीकि जी ने श्री लखन लाल जी का शेषावतार होना भी घोषित किया है। श्री गोस्वामी जी नें श्री राम चरित मानस में स्वयं भी कहा है कि——

पय पयोधि तजि, अवध विहाई। जहँ सिय राम लखन रहे आई ।।
अयोध्या काण्ड

पय पयोधि अर्थात क्षीर सागर में श्री विष्णु भगवान् का निवास है। वहाँ वे शेषशायी हैं और श्री लक्ष्मी जी उनकी सेवा में हैं। श्री राम विष्णु के अवतार माने गए हैं। श्री सीता जी लक्ष्मी की अवतार हैं श्री लखन लाल जी शेषावतार हैं। तीनों सरकारों ने क्षीर सागर को छोड़कर श्री अयोध्या को अपनी लीला स्थली बनाया। किन्तु धन्य-२ श्री चित्रकूट धाम हैं जहाँ तीनों सरकार श्री अयोध्या जी को छोड़ बसे और अनेक वर्षों तक तपस्या करते रहे। श्री विष्णु भगवान की अनन्य

भक्ति के लिए चित्रकूट की झाँकी क्षीर सागर की ही झाँकी का रूपान्तर हैं।

यहाँ इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि कुछ राम भक्त इस बात पर विशेष विश्वास करते हैं कि उनके इष्टदेव परात् परब्रह्म के अवतार हैं, जिनके अंश से प्रत्येक ब्रह्मांड में त्रिदेव की उत्त पत्ति होती रहती हैं। अत: वे अपने इष्ट देव श्री राम जी को विष्णु का अवतार माननें के लिए तैयार नहीं। परन्तु इस विषय में अभीष्ट यह है कि राम चन्द्र जी का श्री विष्णु भगवान का अबतार होना अमान्य न किया जाय। श्री गोस्वामी जी नें ऐसा किया भी नहीं है। श्री राम चरित मानस में कहा गया है कि—

मीन कमठ सूकर नर हरी। वामन परशुराम वपु धांरी ।।
जब जब नाथ सुरन दुख पायों सगना तनु धरि तुम्हहि नसायो

श्रीरामचन्द्रज़ी ने जिन अवतारों को धारण करके समय-समय पर देवताओं के कष्ट दूर किए उनके नाम गिनाने में ऊपर उद्धत किए हुए वचन में श्री विष्णु के ही अवतार क्रमानुसार गिनाए गए हैं। पहला अवतार मत्स्यावतार (मीन), दूसरा अवतार कच्छप अवतार (कमठ), तीसरा अवतार वाराह अवतार (सूकर), चौथा अवतार नृसिह अवतार (नरहरि), पांचवाँ अवतार वामन अवतार (वामन), छठा अवतार परशुराम अवतार (परशुराम)। श्री विष्णु भगवान के छ: अवतार ऊपर गिनाए गए हैं। दशावतारों में से शेष चार अवतार नहीं गिनाए गए क्योंकि साववें अवतार श्रीरामचन्द्रजी स्वयं हैं और उनसे कहा ही जा रहा है कि जब जब देवताओं पर दुख पड़ा आपने नाना शरीर रखकर उसे दूर किया। विष्णु के दस अवतारों में आठवें श्रीकृष्ण थे, नवें बुद्ध माने गये हैं और दसवां नाम कल्कि का है जिसका कलियुग के अन्त में

प्रगट होना पुराणों में कहा गया है। यहाँ छः अवतार गिनाए गए हैं, सातवें अवतार श्रीरामचन्द्रजी को सम्बोधित किया जा रहा है और अन्तिम तीन अवतारों का श्रीरामचन्द्रजी के सामने इसलिए उल्लेख नहीं किया गया कि वे बाद में आने वाले हैं। श्री राघवेन्द्र सरकार श्री विष्णु के अवतार हैं अथवा उस परम प्रभु के कि—उपजहिं जासु अन्त ते नाना, सम्भु बिरंचि विष्णु भगवाना ?— इस विवाद में पड़ना अच्छा नहीं। श्री सीताजी के विषय में भी इसी प्रकार का विवाद है कि वे श्री लक्ष्मीजी का अवतार हैं या उस आदि शक्ति का अवतार हैं—

जासु अंश उपजहिं गुनखानी। अगणित उमा रमा ब्रम्हानी।। बालकाण्ड

यह विवाद भी वैसा ही निरर्थक है। श्री गोस्वामीजी का वचन है कि—

लहै लड़ाई देवता, इष्टदेव जब होय। (दोहावली)

तत्व की बात यह है कि जिस किसी देवता को इष्टदेव रूप से अराध्य बनाया जाय, उसे केवल एक ब्रम्हांड का सृष्टि, पालन या संहार कर्ता नहीं मान सकते। उसे परात्पर ब्रह्म के ही रूप में लेना होगा जो कि सृष्टि की समस्त क्रियाओं का आधार है। इसीलिये श्री गोस्वामीजी ने श्री सीताजी की बन्दना करते हुए बालकाण्ड के आदि में उन्हें— "उद्भव स्थिति संहार कारिणीम, क्लेशहारिणीम् सर्वश्रेष्ठयस्क सीतां" कहा है स्वयं श्री सीताजीने जब पुष्प वाटिका में गौरी देवी का स्तवन किया तो उन्हें—"भव-भव विभव पराभव कारिणि कहा। यहाँ भी श्री पारवतीजी को केवल सहारकारिणी देवी नहीं माना, सृष्टि स्थिति और संहारकारिणी आदि शक्ति के रूप में ही स्तुति की गई। इसी प्रकार अन्य देवताओं को भी जब अराध्य इष्टदेव के रूप में लिया गया है तो वैदिक और पौराणिक स्तुतियों में वे परात्पर ब्रह्म के रूप में ही ग्रहीत हुए हैं।

अत: रामोपासना और विष्णु उपासना के बीच किसीं कल्पित विरोध का खड़ा किया जाना उचित या आवश्यक प्रतीत नहीं होता। ऋगवेद में ही ऋषियों का उदघोष है ·

एक सद् विप्रा: बहुधा वदन्ति (सत्य एक ही है उसका विप्रगण अनेक प्रकार से निरूपण करते हैं)।

भगवान के ध्यान और उपासना में अनन्यता के स्वरूप को लेकर भी बहुत सा विवाद उठता रहा है। कुछ उपासना पद्धतियों के मानने वालों का यह आग्रह रहा है कि वे एक ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य को पूज्य नहीं मान सकते। निराकार के उपासक अपनी उपासना पद्धति पर आग्रह करते हुए किसी भी प्रकार के साकार विग्रह के ध्यान को अमान्य कर देते हैं। इस विषय में हमारे लिए यह आवश्यक नहीं कि निराकार और साकारोपासना के विवाद में पड़ें। इतना पर्याप्त है कि हम यह समझ लें कि साधारण साधकों के लिए साकार स्वरूप का सहारा छोड़ देना लगभग असम्भव है। इसीलिए ऐसा परिणाम आया कि बौद्ध जैन, सिख पद्धतियों में जहाँ भगवान की मूर्ति की पूजा नहीं रखी गयी वहाँ बुद्ध, महाबीर या अन्य तीर्थंकारों की मूर्तियों की पूजा होने लगी। इसी प्रकार के कारणों से ईसाइयों के लिए शूली पर चढ़े हुए ईसा पूज्य हो गए, शूली का निसान (क्रास) पूज्य चिन्ह बन गया और ईसाइयों के बहुत से चर्चों में ईसा की माता मेरी की मूर्ति पधराई गई और पूजी गई। सिक्खों में दस गुरुओं के चित्रों को पूज्य माना गया और गुरुग्रंथ साहब की भी पूजा होने लगी। जिस पद्धति में घोषित किया गया कि एक ईश्वर के सिवा कोई भी पूज्य नहीं उसमें भी उस एक मात्र ईश्वर के सन्देश-वाहक को पूज्य पुरुष मानना पड़ा और अनेक सन्त, फकीर और तीर्थ पूज्य हो गये। इतिहास साक्षी है कि बड़े पैमाने पर प्रचलित और विस्तृत कोई भी उपासना पद्धति साकार स्वरूप या प्रतीक की उपासना को बिलकुल छोड़कर नही चल सकती।

किसी किसी तार्किक या दार्शनिक के मन में यह सन्देह पैदा हो सकता है, कि यह बात भले ही ठीक हो कि अत्यन्त निर्गुण निराकारवादी को भी गुरुमूर्ति के ध्यान के माध्यम से साकार का सहारा लेना पड़ता है। परन्तु वह एक से अधिक मूर्ति ध्यान में नहीं लाता मंगलाचरण के दोहे में तीन सरकारों के ध्यान का अनन्यता से किस प्रकार सामंजस्य होगा। इस विषय में गोस्वामीजी की अनन्यता को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। इस अनन्यता में विभिन्न देवताओं की बन्दना या स्तुति सम्भव है परन्तु सभी देवताओं से श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति की ही याचना की जाती है। इस प्रकार इष्ट की अनन्यता कायम रहती है कुछ भी भंग नहीं होती। जैसे विवाहित होने पर कुल कन्या के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह पति के अतिरिक्त किसी की सेवा न करे या किसी के पैर न छुए परन्तु सभी से वह सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद प्राप्त करती है। पति के प्रति उसकी अनन्यता खण्डित नहीं होती।

ईसाइयों को एकेश्वरवाद पर बड़ा गौरव है परन्तु उनके यहाँ भी ईश्वर के तीन रूप मान्य किए गए हैं। यथा—ईश्वर परम पिता रूप में ईश्वर पुत्र रूप मे अवतरित रूप में (ईसा) तथा ईश्वर पवित्र व्यापक शक्ति के रूप में। इन तीनों रूपों को मिलाकर (ट्रिनिटी) तीन रूप कहे गए हैं। यदि ठीक से समझा जाय तो हमारे तीनों संस्कारों में श्रीरामचन्द्रजी परात्पर ब्रह्म परमपिता रूप में हैं श्री लक्ष्मणजी उनके पुत्र रूप में हैं और श्री महारानीजी आदि शक्ति व्यापक और सक्रिय भगवान की माया शक्ति सर्वश्रेयस्करी हैं। इस प्रकार यह तीनों संस्कारों की झांकी एक ट्रिनिटी है। तत्वतः तीनों सस्कारों के ध्यान में एक ही परमशक्ति, कृपामयी शक्ति का प्रकाश है ईसाइयों की तरह अन्य एकेश्वरवादी भी किसी न किसी रूप में भगवान की त्रिमूर्ति को जाने या बेजाने मानने के लिए विवश होते हैं क्योंकि जितने ईश्वरवादी हैं उनको भगवान का एक वह रूप मानना पड़ेगा जो सृष्टि के बनने के पहले भी विराजमान् था

यह अधिष्ठान रूप है। इसी के सहारे और इसी की शक्ति से सृष्टि की उत्पति हुई। जगत् के उत्पन्न हो जाने के बाद भगवान के जगन्नियन्ता नियामक या ईश्वर वाला रूप सक्रिय हुआ। इस सर्वशक्तिशाली रूप का विशेष वर्णन एकेश्वरवादी करते ही रहते है प्राय: इस नियन्त्रक को उच्चतम लोक के शासक प्रभु के रूप में वर्णित किया गया है। जिस उच्चतम लोक में पहुंचकर सदैव के लिये ईश्वर के साथ रहने की आकांक्षा एकेश्वरवादी साधक करता है। इसके अतिरिक्त उसी एक ईश्वर का सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान सक्रिय स्वरूप भी है जो सभी जगत् के व्यवहार का साक्षी है, कर्मफ़ल का देने वाला है, जिसकी मर्ज़ी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता और जो शरणागत भक्तों की सार-सँभाल करने वाला है, तथा सर्व समर्थ होते हुए भी अत्यन्त क्षमाशील, सहिष्णु, करुणा वरुणालय और दया सिन्धु है। कामिल फकीरों को उसका साथ इसी जीवन में प्राप्त है। उसकी प्राप्ति के लिये मरकर उच्च लोकों में पहुँचना अनिवार्य नहीं। इस प्रकार एकेश्वर निष्ठा वाले अनन्य भक्तों के लिए भी भगवान तीन रूपों में मान्य हो जाते हैं। ठीक तरह से समझने पर हमारे तीन रूपों की झाँकी, अनन्य भक्ति की विरोधिनी बिलकुल नहीं है। वस्तुत: उसमें श्री गोस्वामी जी की अनन्य भक्ति का ही प्रकाश है।

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चार प्रकार के पुरुषार्थ माने गए हैं। गोस्वामीजी द्वारा वर्णित ध्यान सकल कल्याण का देने वाला है। अर्थात् इस ध्यान से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों की प्राप्ति होती है। श्री गोस्वामीजी का यह चातुर्य है कि उन्होंने इस ध्यान को सकल कल्याशमय तो सभी के लिए बताया परन्तु कल्पवृक्ष विशेषत: अपने लिये ही बताया। इसमें रहस्य यह है कि इस ध्यान के सहारे सभी लोग साधन क्रम से चतुर्वर्ग कल्याण को प्राप्त हो सकते हैं परन्तु श्री गोस्वामीजी के लिए साधनक्रम नहीं हैं, वे श्री भगवान के प्रति ऐसी निष्ठा से सम्पन्न हैं कि उन्हें तो जो कुछ भी माँगें तुरन्त मिलेगा। वाइबिल में ईसा ने कहा है

कि खटखटाओ और द्वार तुम्हारे लिए खुलेगा, माँगो और अभीष्ट वस्तु तुम्हें दी जाएगी। (मैथिड ७.७)सच्ची श्रद्धा से सम्पन्न भक्त के लिए श्रीभगवान कल्पवृक्ष के समान तुरन्त ही मनोवांछित फल देने वाले हैं। इसीलिए श्री गोस्वामीजी के लिए यह ध्यान कल्पवृक्ष ही है।

यह भी समझ लेना चाहिए कि कल्पवृक्ष केवल कल्याणमय नहीं होता उसके समीप जाकर अनिष्ट कल्पना हो जाय तो उस अनिष्ट की भी प्राप्ति हो जाकगी परन्तु भगवान उस पेड़ की तरह नहीं हैं। वे परम कृपालु हैं। हमारी अनिष्ट कल्पना को पूरा नहीं करेंगे। कल्याणमयी कल्पनाओं को पूरा करेंगे। इसलिए सभी के लिए वे कल्पवृक्ष के समान हैं, ऐसा कहना ठीक न होगा। कल्पवृक्ष की अपनी सीमा भी है वह मोक्ष-दायक नहीं हो सकता, परन्तु भगवान सकल कल्याणमय हैं। चित्रकूट की झाँकी का ध्यान मोक्ष देने में समर्थ है। जिन भक्तों की संसार की सभी तृष्णा क्षय हो गई है, उनकी चेष्टा, उनकी स्पृहा, उनकी याचना केवल भगवद् भक्ति के अपूर्व रसामृत के लिए है। भगवान की दिव्य रसमयी लीला में प्रविष्ट ऐसे अनन्य रसिक भक्तों की लिए भगवान की अपार कृपा का प्रसाद सदैव उपलब्ध रहता है। पराभक्ति में डूबा हुआ विशुद्ध अनन्य अन्तःकरण भगवान की लीला सम्बन्धी, भगवत् प्रीतिमयी कल्पनाएँ ही करता है और भगवान की दिव्य लीला में उसकी जो भी याचना होती हे उसकी पूर्ति तत्काल होती है। इसलिए विशेषतः श्री गोस्वामीजी के लिए यह ध्यान कल्पवृक्ष ही है।

श्री गोस्वामीजीं के आदर्श श्री भरतजी हैं। भरतजी के भाव को लेकर ही श्री गोस्वामीजी भगवान के सम्मुख हुए हैं। यह समझना चाहिए कि अपनी साधना में श्री गोस्वामीजी भरतजीके भाव में ही प्रतिष्ठित हैं। श्री भरतजी ने भी चित्रकूट वासी सरकार को कल्पवृक्ष ही कहा—

जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोचु।
माँगत अभिमत पाव जग, राव रंकु भल पोचु। अयोध्याकाण्ड

जिस प्रकार श्री भरतजी ने श्रीरामजी का स्वभाव कल्पवृक्ष के समान माना है—'देव देवतरु सरिस सुभाऊ' इसी प्रकार की गोस्वामीजी की भी निष्ठा है, अत: मंगलाचरण में वर्णित ध्यान सभी लोगों के लिए सकल कल्याणमय है, परन्तु श्री गोस्वामीजी के लिए वह कल्पवृक्ष के समान नहीं वरन् साक्षात् कल्पवृक्ष ही है। इसी से श्री गोस्वामीजी ने उपमा के स्थान पर रूपक का प्रयोग किया। अत: हम सबके लिए यह अभीष्ट है कि पाँच वृक्षों से घिरे हुए चित्रकूट के सतसंग स्थल में केन्द्रीय वट वृक्ष की छाया में श्री महाराणीजी के द्वारा बताई गई वेदिका पर बिराजमान् तीनों सरकारों के ध्यान में मग्न हों और सकल प्रकार के कल्याण के भाजन बनें। इसी सकल कल्याण के अन्तर्गत यह भी है कि इस परम मंगलमय ध्यान से हमें ऐसी भगवत् कृपा की प्राप्ति हो कि हम इस दिव्य प्रभाव से युक्त संक्षिप्त ग्रन्थ वैराग्य संदीपनी का वास्तविक अर्थ, तात्पर्य, सन्देश, हृदयंगम कर सकें और इस गागर में जो सागर भरा है, केवल वासठ छन्दों में 'अखिल ज्ञान का सार' रख दिया गया है, इसे समझें और धारण करने में और अपने को कृतकृत्य करने में समर्थ हों।

हमारे तीनों सरकार रामनाम के र, अ और म के रूप में भी हैं। उनकी झाँकीं श्री रामनाम की झाँकी है। श्री हनुमन् नाटक में केवल श्रीराम नाम की ही वन्दना प्रारम्भ में की गयी है और श्रीराम नाम को ही 'कल्याणानां निधानं' कहा गया है। श्री गोस्वामीजी भी श्रीराम नाम के अनन्य अनुरागी हैं—

शंकर साखि जो राखि कहौं कछु तो जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम नामहि ते, तुलसिहि समुझि परो।

(विनय पत्रिका)

अत: श्रीं गोस्वामीजी श्रीरामनाममय और सकल कल्याण निधान झांकी से ग्रन्थारम्भ करते हैं।

तुलसी मिटै न मोह तम, किये कोटि गुन ग्राम।
हृदय कमल फूलै नहीं बिनु रबि कुल रवि राम ॥२॥

श्री गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि करोड़ों गुण समूहों के अर्जित करने और बरतने से भीं मोह का अन्धकार नहीं मिटता। सूर्य वंश के भी सूर्य के समान भगवान श्रीरामचन्द्रजी के प्रताप के आदित्य के प्रकाशित हुए बिना हृदय कमल नहीं खिलता।

पूज्यपाद श्री गोस्वामींजी प्रथम दोहे द्वारा मंगलाचरण करके इस दूसरे दोहे में ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय प्रारम्भ करते हैं। ग्रन्थ का प्रयोजन वैराग्य को बढ़ाने का है। ग्रन्थ समास शैली में सूत्र मात्र प्रस्तुत करता है। वैराग्य स्थापना के लिए पूर्व पक्ष मोह है। मोह के क्षय और विनाश से ही वैराग्य प्रकट व उद्दीप्त होगा। यह ग्रंथ मुमुक्षु जनों के हितार्थ प्रणीत किया गया है। जो विषयी जन ससार को हीं सुख का धाम जानते हैं, और उसमें नितान्त आसक्त हैं, उन्हें जगत् के प्रति राग है, और इस राग से वे सन्तुष्ट हैं, ऐसे लोगों को यह अभिलाषा ही नही है कि वे वैराग्य को प्राप्त करें। परन्तु विकास क्रम में जीव किसी समय उस सोपान पर पहुँच जाता है, जहाँ वह संसार के व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं रहता। किसी वड़ी विपत्ति या किसी कठिनाई के समय संसार से या अपने जीवन से असन्तुष्ट होने का अवसर आता है। परन्तु जहाँ केवल

इतनी ही चिन्ता होती है कि प्राप्त विपत्ति या कठिनाई कैसे हल हो वहाँ न वैराग्य की प्राप्ति होती है न उसकी खोज़ होती है। परन्तु समय समय पर विभिन्न विपत्तियों और कठिनाइयों के आते रहने पर धीरे धीरे यह अनुभव होने लगता है कि जीवन को सुखी बनाने के लिए एक एक विपत्ति का निवारण पर्याप्त नहीं है, क्योंकि नई नई विपत्तियाँ हमेशा आतीं ही रहेंगी और पुरानी विपत्तियाँ भी पुन: आ सकती हैं। लौकिक उपायों से एक एक विपत्ति का तात्कालिक निवारण कर भी सकें तो उससे काम नहीं चलेगा। ज़ीब का वास्तविक प्रयोजन यह है कि दुख का अत्यन्ताभाव हो जाय, सभी दुख मिट जायँ और नये दुखों की प्राप्ति का सिलसिला भी समाप्त हो जाय। जब जीव अपने इस लक्ष्य को पहचान लेता है, तब उसे अध्यात्म की ओर मोक्ष की प्रेरणा होती है, क्योंकि विशिष्ट विपत्तियों के निवारण के साधनों के अनुष्ठान से दुख का अत्यन्ताभाव कभी नहीं हो सकता।

जब यह संसार सत्यं शिवम् सुन्दरम् का स्वरूप न जान पड़े, जब जीव अपने अज्ञान के प्रति सचेत हो जाय और वास्तविक सत्य को पहिचानने के लिये, सांसारिक बन्धनों से छूटने के लिए, प्रेरित हो तब वह मुमुक्षु कहलाता है। जगत् की आसक्ति को सुख रूप जानने वाला आसक्ति के बन्धन को दृढ़ रखना चाहता है, तोड़ना नहीं चाहता, परन्तु अज्ञानवश यह जीब भव कूप में पड़ा है और कर्म बन्धन में निबद्ध है। जान बूझकर कोई भी धोखे या अज्ञान की दशा को पसन्द नहीं करता। अपना अज्ञान ही मोह का कारण है। अपने मोह को पहचान लेने से अवश्य उसके निवारण की प्रेरणा होगी। मोह में विपरीताभास होता है। विपरीताभास से जगत् के पदार्थों में आसक्ति होती है। आसक्ति से बंधन और दुख की प्राप्ति होती है। मुमुक्षु जनों ने पहचान लिया है कि जीवों के व्यावहारिक कार्य में उन्हें जो सत्य असत्य, हानि लाभ, सुख दुख आदि का आभास होता है वह सत्य नहीं हैं। आसक्त अन्त:करणों को

मिथ्याभास होता है और इस मिथ्याभास के कारण अनेक अनर्थों की प्राप्ति होती है। विपरीताभास होना ही मोह है।

मोह सकल व्याधिन कर मूला।
तेहि ते पुनि उपजहिं बहु शूला।।

मोह से अनर्थों की प्राप्ति होती है इसलिए मुमुक्षु जो इस तत्व को जानता है मोह से छूटने के लिये आकांक्षा रखता है। श्री वैराग्य संदीपनी का अधिकारी मुमुक्षु जन है जो मोह के दुष्परिणामों को जान और समझ चुका है। अतः ग्रन्थकार ने मोह के दुष्परिणामों का विवेचन आवश्यक नहीं समझा उसे अन्धकार रूप बताना ही पर्याप्त समझा . मोह का यहाँ वास्तविक अर्थ वही है जो महर्षि पतंजलि कथित अविद्या का है। महर्षि पतंजलि ने कहा है कि--

"अविद्या अस्मिता, राग द्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः"
(साधन पाद २/३)

महर्षि ने यह भी कहा है कि अविद्या अन्य क्लेशों का कारण है-

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। (पाद २/४)

इसी अविद्या को श्रीराम चरित मानस में व इस ग्रन्थ में मोह कहा है--अज्ञानवश विपरीताभास होना ही अविद्या है और यही मोह है। योग दर्शन में कहा है--

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य शुचि सुखात्मख्यातिर विद्या।
(योगसूत्र २/५)

अनित्य वस्तु में नित्य का आभास होना अपवित्र वस्तु में पवित्र का आभास होना, असुख वस्तु में सुखाभास होना तथा अनात्म वस्तु में आत्म स्वरूप का आभास होना ऐसा विपरीत अनुभव ही अविद्या है। श्री गोस्वामीजी ने लिखा है कि—

साचे कहूँ झूठो समुझि झूठे कहूं साँचो जानि।
को न गयो को न जात है, को न जैहै करि हित हानि।(वि०प०)

इस प्रकार मिथ्याभास ही अनर्थों की जड़ है। मोह वश संसार रमणीक और सुखकारी प्रतीत होता है—

जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे।
धुवां के से धौरहर देख तू न भूलि रे। (वि० प०)

जगत् जिस रूप में हम लोगों को दिखाई पड़ता है और हमारे अनुभव में आता है वह रूप सत्य नहीं है उसमें जो सुख दिखाई पड़ता है वह भी मिथ्याभास है--

तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रैंकाल ज़ल नाहीं जहाँ।। (वि० प०)

श्री कवितावली में गोस्वामीजी कहते है --

झूठो है झूठो है, झूठो सदा है जग,
वेद पुरान सुसंत कहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक,
काढ़त दन्त करंत हहा है
ज्ञान पनी को गुमान बड़ो,
तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी जीवन जान न जान्यो,
तो ज्ञानी कहावत जान्यो कहा है।।

इस प्रकार विपरीत ज्ञान वाला मोह वश है और सत्य ज्ञान वाला मोह से रहित ज्ञानी है। स्पष्ट है कि मोह जन्य मिथ्याभास के कारण जगत् सुखमय भासता है और इसी से उसमें आसक्ति होती है। जहाँ जिसको सुख भासता है वहीं उसकी आसक्ति होती है—

सुखानुशयी रागः (पातंजलि, योग दर्शन पाद २/७)

इसी प्रकार जहाँ जगत् में दुख भासता है तो उसके निवारण या अभाव की कामना होती है—

दुखानुशयी द्वेषः (पतंजलि, योग दर्शन पाद २/८)

हमारा भौतिक शरीर स्वयं अनित्य अपवित्र, असुख व अनात्म है। परन्तु इसमें नित्य पवित्र, सुख, आत्म भाव की प्रतीति होती है। अनात्म शरीर में आत्म भाव होने से अस्मिता उत्पन्न होती है हम अपने को देह समझने लगते हैं। असुख शरीर में सुख बुद्धि होने से देहासक्ति पैदा होती है। अत्यन्त आसक्ति जहाँ भी हो मोह कहलाती है।

ग्रन्थकार ने मोह को अन्धकार रूप माना है। मोह वश जो मिथ्याभास होता है उसको अवास्तविक होने के कारण, असत्य होने के कारण, स्वप्न के समान माना गया है—

मोहनिशा सब सोवनिहारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा।।
एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।।

जानिय तबहिं जीव जब जागा। जब सब विषय विलास विरागा।।
होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।।

हम लोग मोह रूपी रात्रि में सो रहे हैं और मिथ्याभास जनित हमारी अनुभूति स्वप्न की तरह है। दिन और रात में से दिन सुप्रकाशित

है। रात्रि में अन्धकार रहता है। मोह निशा में हम सोते हैं तो मोह को अन्धकार कहना ही ठीक है। साधारण बात में खुशी और प्रकाशका का सम्बन्ध चलता है और दुख शोक से भरा हुआ घर अँधियाला कहलाता है। सुख और प्रसन्नता की अत्यन्त प्राप्ति होने पर घर या जीवन या समाज प्रकाशमान कहा जाता है। खुशी मनाने के लिए दीपावली सजाई जाती है या बिजली के बल्बों की सजावट की जाती है। नाटकों में भी जहाँ अत्यन्त सुखकारी अभिनय होता है, वहाँ रंगमंच पर तेज़ रोशनी की व्यवस्था की जाती है, जबकि दुख, शोक, मृत्यु आदि दृश्यों में मन्द प्रकाश की व्यवस्था की जाती है। तत्व विचार में ही नहीं, लोक व्यवहार में भी सुख और प्रकाश का सम्बन्ध माना गया है तथा दुख और अन्धकार का। घरों में विवाह आदि अवसरों पर प्रबल प्रकाश अच्छा लगता है और दुख या मृत्यु आदि के अवसरों पर प्रकाश को मन्द कर दिया जाता है। मनुष्य प्राय: शयन रात्रि में ही करता है और अँधेरे स्थान में नींद अच्छी आती है और नींद में ही स्वप्न का मिथ्याभास प्राप्त होता है। इस प्रकार सम्यक विचार से प्रतीत होता है कि मोह को तम रूप अर्थात् अन्धकार रूप ही मानना चाहिए।

प्रकाश में ही चीजें दिखाई पड़ती हैं अन्धकार में नहीं दिखाई पड़ती हैं। यह ठीक है कि जिस अन्धकार में हमें कुछ नहीं दिखाई पड़ता उसमें उल्लू या बिल्ली जैसे जीवों को दिखाई पड़ता है। परन्तु विज्ञान की दृष्टि से मानना पड़ेगा कि हमारे लिए जो अन्धकार है वह उल्लू की आँख के लिए नहीं है, उल्लू की आँख के लिए जो प्रकाश है उसी में उसे दिखाई पड़ता है, अन्धकार में नहीं। कभी कभी प्रकाश की कमी में यदि कोई दृष्टि भ्रम होता है तो विशेष प्रकाश लाकर अच्छी तरह देखकर भ्रम निवृत्ति करते हैं। सभी तरह प्रकाश और ज्ञान का सम्बन्ध स्पष्ट है तथा सन्देह अज्ञान, मतिभ्रम या विपरीत ज्ञान का सम्बन्ध अन्धकार से है इसलिए मोह को अन्धकार कहना स्वाभाविक और सही है।

एक बात और है, सांख्य दर्शन और योग दर्शन का सामंजस्य है। दोनों का तत्व ज्ञान एक ही है। साँख्य दर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति दो तत्व माने गये हैं, गीता में भी कहा है—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धचनादी उभावपि" (गीता १३।१६)

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष में ज्ञान है परन्तु क्रिया नहीं, जबकि प्रकृति में क्रिया है ज्ञान नहीं। इस तत्व को समझने के लिये पुरानी कहावत का प्रयोग किया जाता है कि —

राम बनाई जोड़ी। एक अन्धा एक कोढ़ी।।

प्रकृति ज्ञान से रहित होने के कारण अन्धी है। पुरुष क्रिया से रहित होने के कारण कोढ़ी (लँगड़ा) है। इस जोड़ी के लिए गतिमान् होना तभी सम्भव है जब लँगड़ा अन्धे के कंधे पर सवार हो जाय। इसी प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार शरीर प्रकृति का विकार है, उसमें क्रिया है, ज्ञान नहीं सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष इस अन्धे पर सवार है उसमें ज्ञान है क्रिया नहीं। साख्य दर्शन के अनुसार पुरुष प्रकृति की क्रिया का दृष्टा है, परन्तु मोहवश उसे ऐसा मालूम पड़ता है कि वह स्वयं कर्ता है। इस प्रकार प्रकृति की क्रियाओं को अपना लेने के कारण पुरुष बन्धन को प्राप्त है। मिथ्याभास ही उसका बन्धन है। इस प्रकार जड़ चैतन्य की ग्रन्थि पड़ गई है। इस भ्रम के निवारण होने पर प्रकृति लुप्त हो जाती है और पुरुष अकेला रह जाता है। यही उसका मोक्ष है। "अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। सन्त पुरान निगम आगम वद"।। श्री रामचरित मानस में जीव के बन्धन का वर्णन इस प्रकार है—

ईश्वर अंश जीव अविनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी।।
सो माया बस भए गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं।।
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। यद्यपि मृषा छूटत कठिनाई।।
जीव हृदय तम मोह विसेषी। ग्रंथि छूटि किमि परइ न देखी।।

इस वर्णन के अनुसार जिस आवरण के कारण प्रकृति और पुरुष की गाँठ दिखाई नहीं पड़ती और इसलिए सुलझाई नहीं जा सकती तो उसे अन्धकार रूप मानना ही ठीक है। सांक्ष्य कारिका के लेखक श्री ईश्वर कृष्ण ने कहा है कि "प्रकृति से बढ़कर कोई शर्मीली लड़की दुनियाँ में नहीं है।" दूसरी दूसरी लड़कियाँ यदि किसी के द्वारा देख लिए जाने पर शरमा जाती हैं तो लज्जित होकर भाग जाती हैं परन्तु ऐसा नहीं होता कि फिर जीवन भर कभी उसके सामने न आयें। परन्तु पुरुष के द्वारा अपने से भिन्न रूप में देख और पहचान लिये जाने पर प्रकृति सदैव के लिए अदृष्ट हो जाती है। और पुरुष को कैवल्य (अकेलापन, मोक्ष) प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार दिखाई पड़ते ही ग्रथि खुल जाती है, ऐसा कहा जा सकता है। इसलिए मोह अन्धकार है और वही बन्धन है, ज्ञान के प्रकाश से उसका नाश हो जाना मोक्ष है।

मोहान्धकार के विवेचन के बाद उसकी निवृत्ति का प्रश्न उठता है। एक बार मोह को अन्धकार रूप जान लेने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसकी निवृत्ति का उपाय प्रकाश ही है, अन्य कुछ नहीं। अतः मोह नाश और मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान का प्रकाश एक मात्र साधन है ज्ञान प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य गुणों का साधन या कोई अन्य साधन व्वबस्था सक्षम और उपयुक्त नहीं हो सकती।

ग्रन्थकार ने कहा है कि करोड़ों गुण समूहों का संग्रह करने से भी मोह रूपी अन्धकार का नाश नहीं हो सकता। साधारण विचार के साधक का यह अनुमान हो सकता है कि सम दम संयम नियम आदि गुणों या साधनों का मोहतम के नाश करने में उपयोग है। परन्तु ग्रन्थकार ने प्रबल शब्दों में कहा कि करोड़ों गुण भी मोहतम को नहीं मिटा सकते। उसके लिए भगवतानुभूति का प्रकाश चाहिए। किसी किसी को यह खटक सकता है कि मोहान्धकार का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार को

वराग्य का वर्णन करना चाहिए था। आशा की जा सकती थी कि वैराग्य से मोह का नाश बताया जाता, और तब वैराग्य से ज्ञान की प्राप्ति का निरूपण होता। जो शब्दावली यहाँ दूसरे दोहे में प्रयुक्त है। उसमें यह सकेत मिलता है कि ज्ञान से ही मोहतम मिटेगा यानी वैराग्य होगा, न कि वैराग्य से मोह का नाश होगा और तव ज्ञान की प्राति होगी। इस दूसरे दोहे से तो ऐसा जान पड़ता है कि श्री गोस्वामीजी महाराज ज्ञान सदीपनी लिख रहे हैं, न कि वैराग्य संदीपनी। परन्तु हमें ज्ञान के सार रूप इस अत्यन्त संक्षिप्त ग्रंथ में ग्रंथकार के प्रयोजन को समझने में सावधानी बरतनी चाहिए। शास्त्र सम्मत जो तत्व ज्ञान है उसे पूज्य ग्रथकार ने कम से कम शब्दों में प्रस्तुत कर दिया है। सूत्र या समास शैली में दिये गये संकेतों को ठीक ठीक समझने में गहन विचार और सतत् सावधानी की आवश्यकता है।

वैराग्य दो प्रकार का है। एक वह जो राग का उल्टा है। कहा गया है--

विरागी विषयद्वेष्टा, रागी विषयलोलुप:।

विरागी विषयों से द्वेष करता है और रागी विषयों की लालच करता है। रागी को विषयों में सुख जान पड़ता है इसलिए वह विषयों को पाने के लिए लालायित रहता है, विरागी विषयों को दुख रूप जानता है इसलिए उनसे बचना चाहता है, दूर भागता है। इस प्रकार रागी राग से पीड़ित है, विरागी द्वेष से पीड़ित है। महर्षि पतंजलि ने राग और द्वेष दोनों को क्लेशों में गिना है। जब तक जो जिससे बचना चाहता है, डरता है, भागता है. तब तक उसकी धाक उसके दिल में जमी है। साँप को देखकर हम भागते हैं, क्योंकि उससे क्लेश की आशंका है परन्तु यदि यह सिद्ध हो जाय कि सर्प की प्रतीति मिथ्या है, वस्तुत: वहाँ रस्सी है,

तो फिर हम डर कर भागेंगे नहीं। इस प्रकार जब तक विषयों का आकर्षण या विकर्षण हमारे अन्त:करण में प्रबल है तब तक विषयों का महत्व हमारे अन्त:करण में प्रतिष्ठत है। विषयों में चाहे सुखाभास हो या दुखाभास, दोनों की सम्भावना तभी तक है, जब तक विषवों में सत्याभास है। मिथ्याभासहोने पर विषय महत्वहीन हो जायँगे। न वे अर्थ रूप रहेंगे न अनर्थ रूप रहेंगे। छाया प्रतिध्वनि, प्रतिबिम्ब, परछाहीं, स्वप्न-दृश्य, सिनेमा के पर्दे के दृश्य या टेलीविजन के पर्दे पर दृश्य या रंगमंच पर किया हुआ अभिनय, जैसे इनमें से किसी में भी हमारी वस्तुबुद्धि या सत्यबुद्धि नहीं होती, इनमें मिथ्याभास बुद्धि ही होती है, और हम इनके प्रति वास्तविक आकर्षण या विकर्षण का अनुभव नहीं करते, उसी प्रकार सच्चा वैराग्य तभी होगा जब आकर्षण के बाद विकर्षण की भावना भी शान्त हो जायेगी। विषयों के मिथ्यात्व ज्ञान से उनका महत्व एकदम निर्मूल हो जायेगा।

महर्षि पतंजलि ने वैराग्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्। (१।१५)

देखे हुए और सुने हुए विषयों में उत्पन्न तृष्णा को वश में करने का नाम वैराग्य है। यहाँ दृष्ट से मतलब इस दुनिया के अनुभव किए हुए विषयों से है। आनुश्रविक (सुने हुए) विषय वे कहे गये हैं, जो अनुभूत नहीं हैं, परन्तु शास्त्र श्रवण आदि से जिनकी सूचना मिलती है। ऐसे विषयों में सुख का आभास होना और प्राप्ति की लालसा होना, विषयासक्ति है, इस आसक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होना, उसका निरसन होना ही वैराग्य है। साधारण विषयी व्यक्ति इस जगत् के दृष्ट [अनुभूत] विषयों के आकर्षण से ही कर्त्तव्य भ्रष्ट हो जाता है। परलोक के, स्वर्गादि लोकों के सुख इनसे कहीं अधिक मूल्यवान हैं। अत: श्रद्धा विश्वास और किंचित्

विवेक रखने वाले को परलोक के विषयों का अधिक आकर्षण होता है, और वह उसे इस लोक के जीवन में कर्तव्य पालन की प्रेरणा देता है। क्योंकि धर्म पालन से ही परलोक में सद्गति होगी। इस प्रकार का साधक परलोक के विषयों में आसक्त रहता है। क्षुद्र विषयों से श्रेष्ठतर विषय मे उसकी आसक्ति रहती है। शास्त्र का कथन है कि "अदृष्टमपि दृष्टवत्" परलोक के अदृष्ट सुख भी इस लोक के विषयों की ही तरह हैं, उतने ही नश्वर, असार, तुच्छ, व्यर्थ, मिथ्याभासयुक्त हैं। इसलिए —

कहिय तात सो परम विरागी।
तृण सम सिद्धि तीन गुन त्यागी ।। (रामचरित मानस)

श्री हनुमान् जी "ब्रम्ह लोकादि वैभव विरागी" [वि० प्र०] हैं। परलोक तक के किसी विषय में उन्हें कोई आकर्षण नहीं जान पड़ता।

श्रीमद्भगवद् गीता में कहा है कि विषयों का सेवन न करने से वे विषय ही वाह्य जगत में छूटते हैं, उनमें सुखाभास, रमणीयता का भास, रसाभास नहीं समाप्त होता, पर तत्व के दर्शन से वह निवृत्त होता है। (गीता २/५९] जब तक सत्य स्वरूप परमात्मा का अनुभव नहीं होता, जगत् के "दुखालयमशाश्वतं [गीता ८/१५] दुखमय, क्षणभंगुर स्वरूप का ठीक ठीक निश्चय भी नहीं होता। मोह बना रहता है। विपरीताभास होता है असुख में सुखबुद्धि होती है। वाह्य बिषयों का स्वरूप से त्याग देना व्यर्थ नहीं है, शास्त्र के अनुसार वैसा करना आध्यात्मिक विकास में सहायक है। परन्तु इस प्रकार के त्याग को बढ़ाते रहने से ही सच्चा और पक्का वैराग्य नहीं हो सकता। जैसे कोई स्वप्न में सन्यासी हो जाय तो स्वप्न के भीतर ही उमका वैराग्य है, परन्तु स्वप्न की सारी दुनिया से वैराग्य तब होगा जब वह जाग जायगा और सम्पूर्ण स्वप्न सृष्टि ही उसके लिए मिथ्या ठहरेगी। 'एहि जग जामिनि जागहिं योनी।" इस प्रकार जागने वाले योगीजन ही है इस प्रकार मोह

नाश की पूर्णता और वैराग्य की परिपक्वता भगवत् प्राप्ति से ही सम्भव है अन्यथा नहीं। परन्तु भगवत् प्राप्ति संयोग से नहीं होती वह तमाम साधनों का सुन्दर फल है। इस तत्व को द्वितीय दोहे में बड़े ही सुन्दर ढँग से पिरोया गया है।

शास्त्रकारों के समक्ष एक विरोधाभास आता है। भगवान की प्राप्ति में साधन का भी हाथ है, भगवत कृपा का भी। परन्तु दोनों को बराबर रखते हुए निरूपण नहीं किया जा सकता। साधन को कुछ भी महत्व न दें भगवत् कृपा को ही सब महत्व दें, तो साधन को अनाबश्यक मानना होगा, परन्तु विषयासक्त पुरुष को संयोग से भगवान नहीं मिल जाते। निरमल मन जन से मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।। यह साधन का महत्व है। परन्तु यह गुन साधन से नहि होई। तुम्हारी कृपा पाव कोइ कोई। (रा०च०मा०) में भगवतकृपा का महत्व प्रदर्शित है। विरोधाभास प्रतीत होते हुए भी दोनों का उपयोग है।

परमार्थ निरूपण में अधिकारी भेद से भिन्न भिन्न प्रकार का निरूपण करना पड़ता है। कर्म, उपासना, ज्ञान कोई भी क्षेत्र हो उसकी ऊँची से ऊँची बातें प्रारम्भिक साधक के लिए समझ के बाहर की हो सकती हैं, और उसके द्वारा नासमझी से दुरुपयोग होने का भी डर रहता है। वैराग्य और ज्ञान के प्रसग में भी हमेशा इसका विचार रखना पड़ेगा। यदि नये साधकों को ज्ञान की ऊंची ऊँची बातें बताई जायँ और निरूपण में उनको महत्व दिया जाय तो यह आशका रहेगी कि साधक की साधना में प्रवृत्ति नहीं होगी या अत्यन्त मन्द प्रवृत्ति होगी। वेदान्त शास्त्र में भी साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ज्ञानोपदेश प्राप्त करने का अधिकारी माना गया है, अन्य पुरुष अधिकारी नहीं। साधन चतुष्टय में विवेक वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व है। नित्य और अनित्व बस्तु का भेद अनुभूति में स्पष्ट होना विवेक है। इस लोक के और परलोक के भी फल भोगों

में अनासक्ति होना वैराग्य है। शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान यह छः लक्षण षट्सम्पत्ति कहलाते हैं। इन तीनों के होते हुए फिर मोक्ष की इच्छा होना यही मुमुक्षुत्व कहलाता है। इस प्रकार इन सब लक्षणों के बिना केवल बौद्धिक जिज्ञासा से किसी को ज्ञान का अधिकारी माना नहीं जा सकता इसमें वेदान्त वालों की ज्ञान को छिपा रखने की कोई वृत्ति मान्य नहीं है। अधिकारी का निरूपण इसीलिए है कि अनधिकारी के सामने यदि ज्ञान का निरूपण किया भी जाय तो वह भली भाँति उसके समझ में नहीं आएगा और उसे ज्ञान की अनुभूति न हो सकेगी। इसलिए सुनी हुई बातों का दुरुपयोग हो जाने की आशंका है। इसलिए प्रारम्भिक साधकों को ऐसा उपदेश मिलना आवश्यक है, कि वे अमुक अमुक नियमों के अनुसार आचरण करें तथा अमुक अमुक गुणों को धारण करें। इसलिए रामचरित मानस में विभीषण शरणगति के प्रसंग में श्रीरामचन्द्र जी ने जो यह कहा है कि—

निरमल मन जन सों मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

इस वचन का बड़ा उपयोग है। विषयी लोगों को ऐसा उपदेश नहीं मिलना चाहिए कि वे छल कपट पाप आदि में लिप्त रह सकें। जब भगवान की अहैतुकी कृपा होगी तो भगवान स्वयं उनको पतित से पावन बना देंगे, जीव न कुछ कर सकता है न कुछ करने का उसका उत्तर दायित्व है। ज्ञान की ऊँची ऊँची बातें यदि नये साधकों के आलस्य और प्रमाद के पुष्टिकरण में ही प्रयुक्त हुईं तो वह बेचारे मोक्ष से और दूर हो जायँगे और उनका माया का बन्धन और भी दृढ़ हो जायगा। इसलिए अधिकार का ज्ञान किए बिना ज्ञान की ऊँची से ऊँची बातें सब लोगों को समझाने की चेष्टा में हानि और पतन की बहुत आशंका है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त यह भी विचार करना चाहिए कि भगवान किसी कर्म का परिणाम नहीं है तो किसी भी फल के रूप में प्राप्त नहीं हो सकते। इसलिए किसी भी साधन को कर लेने के बाद हम यह दावा नहीं कर सकते कि अब हम भगवान की प्राप्ति के अधिकारी हो गए, भगवान हमको अवश्य मिलने चाहिए। [illegible] न भूलना चाहिए कि किसी भी अच्छे से अच्छे साधक को भी अ[illegible]भास हो जाय कि उसने मन को बश में कर लिया है और अब उस[illegible] विकार ग्रस्त नहीं हो सकता तो यह उसका भ्रम है। ऐसा आभास होना सचमुच अभिमान के उत्पन्न होने का द्योतक है। ऐसे अभिमान से युक्त पुरुष माया से छटा नहीं बल्कि उसकी ससृप्ति का मूल और भी दृढ़ हो गया। अनेक साधन कर लेने के बाद और बहुत से गुणों का उपार्जन कर लेने के बाद भी यह समस्या बाकी रहती है कि अभिमान का निरसन कैसे किया जाय। अभिमान विचित्र रूपों में प्रकट होता है। विद्या का अभिमान, ज्ञान का अभिमान, सन्त स्वभाव का अभिमान, योग सिद्धि का या चमत्कार का अभिमान यहाँ तक कि उत्तम भक्त होने का अभिमान, दीनता का अभिमान या अभिमान न होने का अभिमान–इन सब रूपों में अभिमान प्रकट हो सकता है, होता है। ऐसी दशा में अन्य प्रकार के साधनों और विविध गुणों के उपार्जन से यह समस्या नहीं सुलझती। बहुत से शुभ कर्मों का अनुष्ठान होने से पुण्य तो होता है परन्तु अधिक अभिमान से पुण्य का अनुष्ठान करने से उतना उत्तम फल भी नहीं होता। तथापि हमारे लिए मुख्य बात यह हैं कि पुण्य से सुख ही मिलेगा परन्तु अभिमान के गलित हुए बिना किसी भी कर्म या साधन से मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं। इसलिए उच्च सोपान पर पहुँच कर साधक के सामने अभिमान के त्याग की समस्या आ जाती है। और इस त्याग हेतु कोई भी बाह्य कर्म या अनुष्ठान पर्याप्त नहीं। अभिमान का निरसन तभी होगा जब हमारी अनुभूति में यह बात आ जाय कि हमारे समस्त शुभकर्म और साधन हमारी सामर्थ्य से

हमारे द्वारा किए गए कर्म हैं ही नहीं,वे हमारे द्वारा करा लिएगएहैं । जब यह अनुभूति आएगी तब हम किसी भी शुभ कर्म या साधन का श्रेय लेना बन्द कर देंगे और समस्त शुभ का श्रेय भगवान को देंगे। परन्तु ऐसी दशा में भगवान की उद्धारक शक्ति को क्रियमाण पाते हुए हम अशुभ कर्मों का दायित्व भगवान पर नही डालेंगे, अपने ही ऊपर लेंगे । इस प्रकार विशुद्ध भक्ति की वह रहनि सिद्ध होती है जो रामचरित मानस में कही गयी है कि—

गुण तुम्हार समझै निज दोसू ।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसू ।।

यही भाव परमोत्कृष्ट रूप में भरतजी में पाया जाता है जिन्होंने भक्ति विभोर होकर कहा कि, "जो परिहर्रहिं मलिन मन जानी । जो सनमार्नहिं सेवक मानी ।। मोरे शरण राम की पनहीं, । रामसुस्वामि दोसु सब जनहीं ।

इस प्रकार के भक्ति भाव से अभिमान सहज ही निरस्त हो जाता है, और मोक्ष का द्वार खुल जाता है । इस कारण से भी कहा गया है कि मोक्ष साधन की सकल सामग्री में भक्ति ही श्रेष्ठ है । इससे हमें उपनिषद् के उस मन्त्र का रहस्य भी समझ में आ जायगा जिसमें यह कहा गया है कि, जिसकी ईश्वर में परम भक्ति हो और जैसी ईश्वर में हो वैसी ही गुरु में हो उसी के प्रति महात्मा लोग उपनिषद् के अर्थों को प्रकाशित करते हैं । श्वेता० ६.२३, इस प्रकार भक्ति अन्तःकरण की शुद्धि, अभिमान की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति का साधन है । वैराग्य सदीपनी के दूसरे दोहे में अत्यन्त कुशलता और चतुरता पूर्वक भक्ति का पुट भी दिया गया है और ज्ञान का एक उत्तम रहस्य भी पिरोया गया है ।

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो तत्व माने गये हैं और दोनों को अनादि माना गया है । श्रीमद्भगवत् गीता में भी कहा है कि—

प्रकृति पुरुषम् चैव विद्धयनादी उभावपि (गीता १३/१९)

सांख्य के अनुसार सारी क्रिया प्रकृति में है पुरुष में नहीं, पुरूष में केवल ज्ञान है। जो विवेकी यह समझ लेता है कि प्रकृति के तीन गुण ही समस्त क्रिया के कारण हैं वह अपने को कर्ता नहीं मानता। अहंकार से मोहित होकर अथवा होने पर ही पुरुष अपने को कर्त्ता मानता है। (गीता ३/२७) सांख्य दर्शन के इस विवेचन में भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि पुरुष कुछ कर नहीं सकता उसे केवल कर्ता बनने का भ्रम है समस्त क्रिया प्रकृति ही करती है तो फिर बद्ध पुरुष अपने मोक्ष का साधन भी कैसे कर सकता है? इसके उत्तर में सांख्यवादियों ने यह माना है कि भोग और मोक्ष दोनों से सम्बन्धित सभी क्रियाएं प्रकृति ही करती है, पुरुष नहीं। इसी तत्व को समझाने के लिए भारतीय दर्शन में माया को ''उभयतोवाहा'' नदी बताया गया है। अर्थात् माया एक ऐसी नदी है जो दोनों तरफ़ बहती है। उसका एक प्रवाह भगवान से दूर ले जाता है और दूसरा प्रवाह संसार से भगवान की ओर ले जाता है। इसी तत्व को समझाने के लिए माया के दो भेद माने गये हैं। एक अविद्या माया, और दूसरी विद्या माया। अविद्या माया भव बन्धन में लिप्त करती है और भवसिन्धु में डुबो देती है विद्या माया भवसिन्धु में नहीं डुबोती, भगवद् भक्ति को और दृढ़ करती है। श्री गोस्वामी जी ने रामचरित मानस के उत्तर काण्ड में कहा है कि—

हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या।
प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि विद्या॥

ताते नासु न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै विहंग वर॥

इससे भी हमें पता चल जाता है कि भगवान का उत्तम भक्त भी माया के वश में रहता है, परन्तु वह विद्या माया के वश में रहता है।

जिस समय भक्त को यह अनुभूति हो जाती है कि वह सब प्रकार से भगवान के हाथों में है और भगवान ही उसके हित की रक्षा करेंगे तो भगवान को परम सुहृद जानकर उसे शान्ति प्राप्त होती है (गीता ५।२९) उसे निश्चय रहता है कि भगवान की कृपा से उसे विद्या माया ही व्यापेगी, अविद्या माया नही व्यापेगी। वह भव बन्धन में नहीं पड़ेगा। भगवान का लीला परिकर रहेगा और उसकी भेद भक्ति दृढ़ होगी। इस प्रकार सांख्य विचारधारा और दार्शनिक मत का सहारा लेने पर भी उच्च सोपान पर पहुँच कर अभिमान निरसन ही करना पड़ता है, अभिमान पूर्वक साधन करने से मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती ऐसा परिणाम निकलता है।

अब सीधे अद्वैत विचार और वेदान्त निरूपण के अनुसार तत्व ग्रहण में प्रवृत्त हों तो भी हमें इस दूसरे दोहे में ज्ञान के मार्ग का एक अपूर्व तत्व गूँथा हुआ मिलेगा। "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" ऐसा उपदेश करने वाले यह बताते हैं कि यह जगत् स्वप्न के समान है अथवा अपने ही चित्तरूपी दर्पण में प्रतिबिम्ब स्वरूप प्रतीत होने वाली नगरी के समान हैं। तत्वत: जगत् का स्वरूप कैसा भी हो, व्यवहार में यह सत्य जान पड़ता है और इसे सत्य समझने वाले माया से बद्ध जीव को मुक्त कराने में ही ज्ञान की सार्थकता है। सारा वेदान्त निरूपण बद्ध जीवों के लिए ही है, परन्तु यदि स्वप्न की बात को सही मानें तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि स्वप्न देखने वाले जीव को जगाने के लिए उसके स्वप्न के भीतर ज्ञानोपदेश व्यर्थ है उसकी नींद खुल जाना ही स्वप्न भ्रम के निवारण का उचित उपाय है। इसी तरह साधन के उच्च सोपान पर पहुँच कर हमें इस बात का सामना करना पड़ेगा कि न केवल हमारे साधारण व्यावहारिक अनुभव स्वप्न के अंग हैं, बल्कि हमारे साधन प्रवचन आदि भी इसी दैवी स्वप्न मय जगत् के अंग हैं जैसा कि विनय पत्रिका जी में श्री गोस्वामीजी ने कहा है —

कहैं वेद बुध तू तो बूझि मन माँहि रे।
दोष दु:ख सपने के जागे ही पे जाँहि रे।।

परम पूज्य शकराचार्य जी ने भी मात्र वाचिक ज्ञान को महत्व नहीं दिया—

वाग्वैखरी, शब्दझरी, शास्त्र व्याख्यान कौशलम्।
वैदुष्यम्विदुषाम् तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये।। तथा

अकृत्वा शत्रु संहारम् अगत्वाऽखिल भूश्रियम्।
राजाऽहंमिति शब्दान्नो, राजा भवितुर्महति।।
विवेक चूड़ामणि

इस प्रकार आदि शंकराचार्य के मत से भी विद्धत्तापूर्ण शास्त्र व्याख्यान भोग के लिए हैं मोक्ष के लिए नहीं तथा जब तक काम क्रोधादि शत्रुओं को नाश करके ब्रह्मानन्द की प्राप्ति न कर ली जाय तब तक "अहम् ब्रह्मास्मि" कहने मात्र से ब्रह्म नहीं हो सकता। तो फिर हमें इस बात का सामना करना पड़ेगा कि सोता हुआ व्यक्ति स्वयं अपने जागने पर निर्भर करता है। अत यदि हम स्वप्न के पुरुष के समान हैं तो अन्ततः हमारा प्रबोध प्रबुद्ध सत्ता के ही आश्रित है। यथा—

"तुलसिदास यह जीव मोह रजु, जोई बाँधै सोइ छोरै।"
(वि० प०)

पाशुपत दर्शन का भी यही उपदेश हैं कि माया में पड़े हूए जीव पशु के समान हैं। भगवान हो इन पशुओं के मालिक हैं, पशुपति हैं। मालिक ने इन जानवरों को मोह की रस्सी में बाँध रखा है बँधा हुआ जानवर स्वयं अपने को खोल नहीं सकता। मालिक ही इसे खोलता है। इस तरह भी बोध भगवान के आश्रित हैं उपनिषद् में भी कहा गया है कि—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। (कंठ १ २.२२) जिस को यह आत्मा स्वयं चुन लेता है उसी के द्वारा यह जाना जाता है।

रामचरित मानस में भी कहा है कि—

तुम्हारी कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन, जानत भगत भगति उरचंदन।

इस प्रकार उच्च सोपान पर जाकर यह सिद्ध होता है कि अन्ततः भगबत् प्राप्ति भगवत् कृपा साध्य है।

तुलसिदास हरि गुरु करुणा बिनु विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावइ कोई।।(वि०प०)

इस प्रकार यह उचित जान पड़ता है कि जब तक हम मायावश अपने कर्तापन की अनुभूति कर रहे हैं तब तक हमें भगवान गुरु व शास्त्र की आज्ञा के अनुसार अपने कर्तव्य के पालन में अखण्ड परिश्रम करते जाना चाहिए। जब यह अनुभूति बदले और हम समस्त क्रिथा को प्रकृति के तीन गुणों से प्रेरित देखने लगें उस समय हम भगवान की शरणागति को धारण करके उनकी कृपा के सहारे अपने को छोड़ सकते हैं और यह विश्वास कर सकते हैं कि—

हरि सेवकहिं न व्याप अबिद्या।
प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहिं विद्या।।

जव हम सन्तोष पूर्वक प्रारध्ध को भोगते हुए, भगवान के चरणों का पूरा सहारा लेकर उनकी कृपा की बाट जोहते रहेंगे तो भगवान अपनी कृपा अवश्य करेंगे। विनय पत्रिका जी में कहा है कि, "जेहि गुन ते बस होहु रीझिकरि सो तो न समुझि परयो। तुलसिदास निज भवन

द्वार पर दीजै रहनि परयो।(वि०प०)तथा नाथ कृपा ही को पंथ चितवत दींन हौं दिन राति। होइ धौं केहि काल, दीन दयालु जानि न जाति।।

श्री गोस्वामी जी ने परम चतुरता पूर्वक इस दूसरे दोहे में सीधे-सीधे इस विवाद को नहीं उठाया है। कि मोह का नाश और ज्ञान की प्राप्ति साधक के अपने संकल्प और साधन पर आश्रित हैं या भगवान के संकल्प पर। परन्तु पूर्वार्ध से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि करोड़ों गुणों का संग्रह करने पर भी मोह का अन्धकार नहीं मिटता। मोह रात्रि के समान है "मोहि निसा सब सोवनि हारा" रात्रि दीपक आदि के प्रकाश से नहीं मिटती, सूर्योदय से ही मिटती है। रामचरित मानस में कहा है—

राका पमि षोडस उवहिं, तारा गन समुदाय।
सकल गिरिन्ह दव लाइये, बिनु रवि रात न जाय।।

शरत् पूर्णिमा के यदि सोलह चन्द्र उदित हो जायें, सारे तारे भी चमक रहे हों (बादल न हों) तथा सारे पहाड़ों में भी आग लगाई जाय तो भी बिना सूर्योदय हुए रात्रि नहीं मिटती। भगवान का ज्ञान होने से सूर्योदय होता है, उसी से मोह रूपी रात्रि का नाश होता है।

श्री गोस्वामीजी ने अत्यन्त कुशलता पूर्वक एक यौगिक रहस्य भी दोहे में रख दिया है। हृदय को कमल के समान माना गया है, योगियों के अनुसार साधारण माया बद्ध जीव का हृदय कमल नीचे की ओर लटका हुआ कमल है। जो विकसित भी नहीं है। भगवान के नाम की साधना करने से और सूर्यमण्डल के समान प्रकाशित भगवान के स्वरूप का ध्यान करने से यह हृदयकमल धीरे धीरे उर्ध्व मुख हो जाता है और खिल भी जाता है। ऐसा भगवद् स्वरूप का दर्शन अलौकिक सुख का देने वाला है और मोह के अन्धकार को नष्ट करने वाला है। श्रीगोस्वामी जी महाराज के इष्टदेव श्री रामचन्द्रजी महाराज जिस वंश में अवतार

लिए हैं वही सूर्यवंश है तथा श्रीरामचन्द्रजी उस सूर्य वंश में भी सूर्य के समान प्रतापी हैं। इसीलिए उन्हें रविकुल रवि राम कहा। श्रीरामचन्द्रजी सूर्य वंश के भी सूर्य हैं—श्रीराम स्तवराज में जो ध्यान बताया गया है वह इस प्रकार है--

"सूर्य मण्डल मध्यस्थं रामम् सीतासमन्वितम्"

युगुल सरकार के उपासक श्रीराम जानकी के रूप का ध्यान करते हैं और वह भी सिंहासनस्थ श्रीराम जानकी का ध्यान। रामचरित मानस में श्रीराम के राजतिलक प्रसग में श्रीराम के राजसिंहासन को सूर्य के समान प्रकाशमान बताया गया है—रवि सम तेज सो वरणि न जाई। बैठे राम द्विजन सिरुई नाई ।। इस प्रकार सूर्य के समान प्रकाशमान सिंहासन पर विराजमान् श्रीराम जानकीं का ध्यान उस सूर्योदय के समान है जो अन्त.करण के महान्धाकार को नष्ट कर देता है। अन्धेरे को दूर करने की तरकीबें बहुत सी हैं, हम लोग रात के अँधेरे को दूर करने के लिए मोमबत्ती, चिराग, लालटेन, गैसबत्ती, बिजली आदि का प्रयोग करते ही हैं। इन ज्योतियों से हम कुछ काम निकाल लेते हैं परन्तु रात नहीं मिट पाती। साथ ही यह बात भी विचारणीय है कि अन्य प्रकार की रोशनी करने से कमल नहीं खिलता वह सूर्य की किरणों को प्राप्त करके ही खिलता है। इसी तरह करोड़ों प्रकार की तरकीबें करने से भी और काम निकल जाते हैं परन्तु मोह रूपी रात्रि समाप्त नहीं होती और हृदय कमल का विकास भी नहीं होता है। भगवान् के प्रकाशमय स्वरूप दर्शन से मोह रूपी रात्रि भी मिटती है, हृदय कमल भी आनन्द से खिल उठता है और जीव कृतकृत्य हो जाता है।

हमारे मर्यादानिधान श्रीगोस्वामीजी ने इस दूसरे दोहे में ऐसे सुन्दर शब्द रखे हैं जो पुरुषार्थ या साधन का निषेध नहीं करते परन्तु

उसकी मर्यादा को सूचित करते हैं। अन्ततोगत्वता भगवत् स्वरूप की प्राप्ति से ही मोह का नाश होता है, विषयों में सुखाभास की निवृत्ति होती है—

"परं दृष्ट्वा निवर्तते" (गीता २/५९)

इस प्रकार परिपक्व वैराग्य भगवत् प्राप्ति के बाद ही है और इसका सहज परिणाम है। योग वासिष्ठ में कहा है कि "सतामुत्तम वैराग्यम् विवेकादेव जायते।" सत् पुरुषों का उत्तम वैराग्य केवल विवेक से ही पैदा होता है। यदि भगवद् प्राप्ति से हृदय कमल आनन्द विभोर और विकसित नहीं हुआ और भगवान प्राणा प्यारे नहीं बने तो सारा ज्ञान मिथ्या है। श्रीगोस्वामीजीने कवितावली में कहा है—

झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अंतु लहा है।
ताको सहै सठ संकट कौटिक, काढ़त दन्त करंत हहा है॥
ज्ञानी पनें को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी जीवनु जान न जान्यो तो ज्ञानी कहावत जान्यो कहाँ है॥
(कविताघली उत्तरकाण्ड ३६)

————

सुनत लखत श्रुति नयन बिनु रसना बिनु रस लेत।
बास नासिका बिनु लहै परसै बिना निकेत ॥३॥

जो बिना कान के सुनता है बिना आँख के देखता है बिना जीभ के रस लेता है बिना नाक के गन्ध लेता है और बिना शरीर (त्वचा) के स्पर्श करता हैं।

जो नास्तिक है ईश्वर के होने में विश्वास नहीं करता वह इस ग्रथ का अधिकारी नहीं है। साधकों के वैराग्य को दृढ़ करना और भगवान की प्राप्ति यह इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। ईश्वर के निराकार सर्व व्यापी स्वरूप का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव का ही प्रमाण मानने वाले अविश्वासी लोगों के सामने ईश्वर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसीलिए उपनिषद् में कहा है कि "अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथतद् उपलभ्यते"। (कठ० २.३.१२)

"है" ऐसा कहने वाले को छोड़कर किसी अन्य के द्वारा ईश्वर कैसे प्राप्त किया जा सकता है। जर्मन दार्शनिक काण्ट ने बड़ी योग्यता से यह प्रदर्शित किया है कि ईश्वर के होने या न होने के विषय में जितने भी तर्क दिये जाते हैं, वह ठहर नहीं सकते। उपनिषद् का ही वचन है कि "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठ० १.२.९) तर्क से यह बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। रामचरित मानस में भी श्री शंकर जी का वाक्य है कि—

"राम अतर्क्य बुद्धि मन वाणी" (बाल काण्ड)

तथापि भगवद् विश्वास का एक अनुभूत और अकाट्य प्रमाण श्री गोस्वामीजी ऊपर दूसरे दोहे में बता ही चुके हैं। जगत् का जो वास्तविक स्वरूप है उसका साधारण जीव को विपरीत ज्ञान रहता है। यही मोह है, मोह का अन्धकार बिना भगवान् के साक्षात्कार के मिटता नहीं। मोह जो जगत् के तमाम दुखों का कारण है उसके निवारण के लिए जिस ईश्वरीय शक्ति की आवश्यकता है उसके अस्तित्व से इन्कार कैसे किया जा सकता है? प्रस्तुत तीसरे दोहे में भगवान के निर्गुण निराकार स्वरूप का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है। श्रीमद्भगवद् गीता में भी कहा गया है कि—

सर्वेन्द्रिय गुणाभासम् सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। (१३/१४)

सब इन्द्रियों से रहित होने पर भी सब इन्द्रियों के गुणों से युक्त है। निराकार ब्रह्म के वर्णन में उपनिषद् में भी कहा है–

अपाणि पादो जवनों ग्रहीता, पश्यचक्षु: सश्रृणोत्यकर्णः। (श्वेता० ३०१९)

बिना पैरों के चलता है बिना हाथ के पकड़ता है बिना आँख के देखता है और बिना कान के सुनता है। श्री रामचरित मानस में भी निराकार रूप का वर्णन किया गया है। वैसा कि इस ग्रंथ में भी आगे चौथे पद्य (सोरठे) में भी कहा गया है। रामचरित मानस में बालकाण्ड में कहा है—

आदि अन्त कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनत रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घान बिनु बास असेखा।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिया जासु जाइ नहिं बरनी।।

जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दशरथ सुत भगत हित, कोसल पति भगवान ।।
(बाल काण्ड)

भौतिकवादी मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करने और तदनुकूल व्यवहार करने का अभ्यस्त है। अतः उसके लिए इन्द्रियातीत अनुभव या ज्ञानेन्द्रियों के बिना ही उनके गुणों का व्यवहार उसकी समझ में नहीं आता। परन्तु यह बात विवेक पूर्ण नहीं है कि माया के वश में रहने वाला जीव यदि ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव से सीमित है तो माया का प्रेरक शिव स्वरूप परमात्मा भी उसी तरह ज्ञानेन्द्रियों के आश्रित होना ही चाहिए। अधिक सही बात यह है कि ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति भी परमात्मा की दी हुई है। आँख उनकी दी हुई नजर से देखती है। इसी तरह कान परमात्मा की दीं हुई ताकत से सुनता है। परमात्मा किसी कान की मदद से नहीं सुनता। परमात्मा किसी ज्ञानेन्द्रिय के आश्रित नहीं। केन उपनिषद् में इस बात को भली भाँति स्पष्ट किया गया है और यहाँ तक कहा गया है कि—

यन् मनसा न मनुते, येनाहुर्मनोमतं ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदमयदिदमुपासते ।

जो मन से नहीं सोचता है जिसकी शक्ति से मन सोचता है उसी को तुम ब्रह्म जानो, न कि जिसकी लोग उपासना करते हैं। (केन १ ५)

ईश्वर इस संसार का रचने वाला माना गया है। ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियाँ और कर्मेन्द्रियों की शक्तियाँ जगत् की रचना के बाद व्यवहार में प्रकाशित होती हैं, यदि ईश्वर भी इन्हीं शक्तियों के आश्रित हो और उनके बिना काम न कर सके तो वह जगत् की रचना कर ही कैसे सकता है। उस रचना के समय यह इंद्रिय शक्तियाँ प्रकट ही नहीं हुई थीं। अतः परमात्मा के कार्य और ज्ञान को दिव्य और अलौकिक मानना ही पड़ेगा।

विचार करने पर यद्यपि परमात्मा की अलौकिक शक्ति मान्य करनी पड़ती है तो भी साधारण मनुष्य के लिए कर्मेन्द्रियों के बिना कार्य करने और ज्ञानेन्द्रियों के बिना ज्ञान होने की कल्पना करना कठिन है। परन्तु हमारे साधारण जीवन में भी ऐसे संकेत मिलते हैं जिससे हम इन्द्रियातीत स्थिति को जान सकते हैं।

श्री स्वामी रामतीर्थ जी ने अपने एक प्रवचन में यह कहा कि आँख (नज़र) प्रकाश के होने पर ही देखने का काम करती है, जहाँ कोई प्रकाश नहीं, वहाँ अन्धेरे में आँख नहीं देखती। परन्तु सन्तवर श्रीराम-तीर्थ जी ने श्रोताओं से पूछा कि जब आप लोग स्वप्न देखते हैं तो वह किस रोशनी में देखते हैं। सोता हुआ आदमी अन्धेरे कमरे में आँख बन्द किए पड़ा है परन्तु उसे स्वप्न में पूरी सृष्टि दिखाई पड़ती है यह सृष्टि वह अपनी भौतिक आँख से नहीं देखता, न व्यावहारिक जगत् की रोशनी उसे उपलब्ध है, जिसकी सहायता से वह स्वप्न की सृष्टि देख सके। इस तरह सिद्ध हो जाता है कि एक साधारण जीव भी बिना आँखों के देखता है। यह कहा जा सकता है कि स्वप्न देखना एक महत्वहीन घटना है, भ्रम मात्र है। वह कैसी ही घटना हो परन्तु बिना आँखों की सहायता के और बिना किसी रोशनी के हम स्वप्न में देखते हैं। इसी प्रकार, कोई चतुर व्यक्ति यह कह सकता है कि उपर्युक्त तर्क ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे जाग्रत अवस्था में हम व्यावहारिक जगत् की आँखों से और व्याव-हारिक जगत् की रोशनी से सारी वस्तुएँ देखते हैं इसी प्रकार स्वप्नावस्था में हम स्वप्न की आँख से व स्वप्नावस्था वाली रोशनी से स्वप्न देखते हैं। ऐसा कहना ग़लत नहीं है, परन्तु इससे यह तो मान्य हो ही जाएगा कि भौतिक आँखों के अतिरिक्त भी आँख है और व्यावहारिक जगत् में काम करने वाली दृष्टि के अतिरिक्त भी दृष्टि है जो व्यावहारिक जगत् के प्रकाश के अतिरिक्त अन्य प्रकार से काम करती है। यदि स्वप्न दृष्टि को माना जाय तो हम दिव्य दृष्टि को कैसे अमान्य कर सकते हैं?

इसलिए सन्तों और योगियों को जो दिव्य दृष्टि के अनुभव समाधि अवस्था में होते हैं वे योग निद्रा के स्वप्न की तरह हैं, ऐसा मानना पड़ेगा।

स्वप्न को मिथ्या कहकर स्वप्न के दृष्टान्त और उसके फलित परिणामों से बचा नहीं जा सकता। उससे तो अनुभूत सृष्टि के सत्य या असत्य होने का विवाद छिड़ जाएगा जो यहाँ प्रासंगिक नहीं। अद्वैत वेदान्तियों के निरूपण में हमारे जाग्रत अवस्था वाले संसार को ही स्वप्न तुल्य माना गया है।

संसार स्वप्नतुल्यो हि, रागद्वेषादिसकुलम्।
स्वकाले सत्यवद्भाति, प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत ।।

राग द्वेष से भरा हुआ संसार स्वप्न के समान है। अपने आभास के समय वह सत्य मालूम होता है परन्तु प्रबोध (जागरण या ज्ञान) होने पर वह असत्य के समान हो जाता है।

यहाँ प्राप्त अनुभवों के सत्यासत्य का निर्णय करने का हमारा प्रयोजन नहीं है, न उनका प्रसंग है, परन्तु साधारण से भिन्न दृष्टि और साधारण चक्षुओं के बिना रूप का अनुभव स्वप्न दर्शकों को भी होता है और तत्व दर्शी योगी को भी होता है, इसलिए इन्द्रियातीत अनुभव कभी असम्भव या आश्चर्यजनक कार्य नहीं है।

ऊपर स्वप्न के दृष्टान्त में चक्षु इन्द्रिय को लेकर विवेचन किया गया है, परन्तु अन्य ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में भी वह लागू है, स्वप्न में हम केवल आँख से रूप का ग्रहण नहीं करते बल्कि वहाँ की आभासमान् अन्य ज्ञानेन्द्रियों से उनके अन्य विषयों, शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध को भी ग्रहण करते हैं जब कि शरीर की सभी ज्ञानेन्द्रियाँ सुप्तावस्था में

विश्राम पर होती हैं, क्रियमाण नहीं होतीं। इस प्रकार साधारण जीव भी स्वप्नावस्था में बिना आंख के देखता है, बिना कान के सुनता है, बिना त्वचा के स्पर्श करता है, बिना नाक के सूंघता है, जीभ के बिना ही स्वाद लेता है, तो फिर परमात्मा अगर ज्ञानेन्द्रियों के बिना उनके गुणों से युक्त कहा गया तो इसमें असम्भव या समझ में न आने वाली बात नहीं है।

ऊपर हम योगियों के इन्द्रियातीत अनुभव का जिक्र कर आये हैं इस अनुभव की साधारण भौतिकवादी मनुष्य को प्राय: कोई जानकारी नहीं होती। परन्तु योगियों का इन्द्रियातीत अनुभव एक सुनिश्चित तथ्य है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। महर्षि पतंजलि ने दूर श्रवण दर्शनम् दूरस्थ वस्तु के सुनने और देखने की सिद्धि का वर्णन किया है। यदि हिमालय में बैठा हुआ योगी कलकत्ता या बम्बई के किसीं दृश्य को ठीक ठीक देखता है तो उस समय उसकी आँख कलकत्ता या बम्बई में नहीं होती वह तो उसके शरीर के साथ हिमालय में ही रहती है, परन्तु बिना भौतिक आँख की मदद के योगी दूरस्थ दृश्य को देखता है इसी प्रकार वह दूरस्थ शब्द का श्रवण भी करता है, दूरस्थ वस्तु का स्वाद भी ग्रहण करता है दूरस्थ वस्तु का स्पर्श भी करता है इस प्रकार योगियों का इन्द्रियातीत अनुभव सिद्ध है। योगियों का अनुभव इसी भौतिक जगत् के दूरस्थ दृश्यों तक सीमित नहीं है उनका विशेष अनुभव उस अलौकिक जगत् का है जो साधारण ज्ञानेन्द्रियों की पकड़ के बाहर है, योगियों को समाधि अवस्था में दिव्य विभूतियों देवताओं और ऋषियों से साक्षात्कार होता है। भेंट और वार्ता भी होती हैं। यह सारा अनुभव इन्द्रियातीत अनुभव ही है, क्योंकि समाधि अवस्था में यदि किसी को देवर्षि नारद का दर्शन हुआ तो यह दर्शन उसकी चर्म चक्षु द्वारा नहीं हुआ, वह दिव्य और अलौकिक इन्द्रियातीत अनुभव ही है। यौगिक प्रक्रिया में शब्द का भी इन्द्रियातीत ग्रहण होता है। आदि शंकराचार्य जी ने भीं नादानुसंधान का वर्णन किया है। अनहद शब्द से बहुत से लोग परिचित हैं। शुद्ध

संस्कृत शब्द अनाहत है। जो शब्द शारीरिक अंगों द्वारा उच्चरित नहीं होता वही अनाहत शब्द है। जिसे अजपा जप कहते हैं, उसमें कोई उच्चारण नहीं किया जाता, बिना उच्चारण किया हुआ शब्द सुनाई पड़ता है। यह अनहद शब्द भौतिक कान से नहीं सुनाई पड़ता न वह साधारण हवा से गुंजरित होता है, न वह भौतिक कान से सुना जाने वाला शब्द है। दूसरे दूसरे शब्दों के साथ उसका ग्रहण नहीं होता। भौतिक कोई शब्द हमारे कानों तक न पहुँचे अथवा उसको रोकने के लिए कान बन्द किया जाय तो अनहद शब्द के ग्रहण करने में सुविधा होती है। योगाभ्यासी नेत्र बन्द करके सारी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके दिव्य शब्दों को ग्रहण करते हैं। हम कह सकते हैं कि योगियों के अनुभव वाले इस प्रकार के शब्द, भौतिक जगत् के शब्द हैं ही नहीं। समझने और याद रखने लायक तर्क यह है कि जिन राजयोगियों को इस प्रकार के दिव्य रूप और शब्द अनुभव में आने लगते हैं उनके लिए सारे संसार के भौतिक पदार्थ और ऐश्वर्य तुच्छ हो जाते हैं। उन्हें इस भौतिक जगत् के स्थान पर दिव्य जगत् का ही बराबर सम्पर्क बनाए रखना सुखद और कल्याणकारी जान पड़ता है, ऐसे योगी भौतिक जगत में जीवित रहते हुए भी उसके प्रति उदासीन होते जाते हैं अर्थात जगत् के सुखों और दुखों से प्रभावित नहीं होते। यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके अन्त.करण में दूसरे के दुख को देखकर करुणा उत्पन्न नहीं होती। (गीता १२/१३)

योगियों को समाधि अवस्था में रूप और शब्द के अतिरिक्त रस स्पर्श और गन्ध का भी ग्रहण होता है। योगियों के अनुभव में विभिन्न प्रकार की सुगन्धियाँ आतीं हैं। अलंकारिक भाषा में इसे विभिन्न कमलों का खिलना बताया गया है। जिस समय योगी को इस प्रकार का अनुभव होता है, उसे अपना कमरा सुगन्धि से भरा जान पड़ता है। परन्तु दूसरा कोई व्यक्ति उस कमरे में वैठा हो, जो योगी न हो तो उसकी नासिका के

द्वारा किसी ऐसी सुगन्धि का अनुभव नहीं होता । इसी से स्पष्ट है कि वह सुगन्ध दिव्य है और हमारी भौतिक नासिका उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं है ।

योगियों को दिव्य रसों का भी अनुभव होता है और स्पर्शों का भी । जिस प्रकार का सुख परम प्रिय व्यक्ति के स्पर्श से होता हैं उस प्रकार का या उससे भी कहीं अधिक स्पर्श सुख योगी को प्राप्त होता है । और उससे वह आनन्द विभोर और पुलकित होता है । रवीन्द्रनाथ टैगोर ने गीतांजलि में कहा है कि हमें शरीर रहित, रूप रहित भगवान (शक्ति) का समग्र आलिंगन प्राप्त हुआ है । यह समाधिगत स्पर्श सुख का ही संकेत है ।

इस प्रकार से हम देखते हैं योगियों को साधारण व्याबहारिक जगत् से भिन्न एक दिव्य जगत् की अनुभूति होती है । और उसमें शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध पाँचों का इन्द्रियातीत अनुभव होता है अतः ज्ञानेन्द्रियों को बिना ही ज्ञानेन्द्रियों के उनके गुणों का आभास होना असम्भव नहीं वरन् एक अनुभूत तथ्य है, तो भगवान के लिए ऐसे अनुभव में कोई भी असम्भावना अथवा कठिनाई कैसे हो सकती हैं ?

सभी आस्तिक लोगों को यह भी विचार करना चाहिए कि ईश्वर में विश्वास करने की सार्थकता तभी है, जब हम उसे सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ मानें । यदि ऐसा न माने तो हमारा ईश्वर को मानना व्यर्थ होगा, यदि ईश्वर को हम मानते हैं तो ईश्वर शब्द से ही यह अर्थ निकलता है कि वह जगत् का नियन्त्रक है, ईशित्व शक्ति रखता है । यदि ईश्वर सर्वव्यापी न हो तो स्वयं वह ईशित्व करने के लिए प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध नहीं होगा । अतः वह उसी प्रकार राजतन्त्राश्रित हो जायगा जैसे साधारण राजा लोग होते हैं । ईश्वर का सर्वव्यापी होना जितना आवश्यक हैं उतना ही सर्वज्ञ और सर्व समर्थ होना भी । इसके

बिना वह हर समय प्रत्येक स्थान पर स्वयं ईशित्व नहीं कर सकेगा। अत: उसकी ईश्वरता सार्थक नहीं होगी। इसी से ईश्वर को मानने वाले सभी चिंतक उसे सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्व समर्थ भी मानते हैं, जिस धर्म में ईश्वर का वास किसी उच्च लोक में या उच्चतम् सप्तमू आकाश में माना जाता है उस में भी ईश्वर को सर्व दृष्टा, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सब जगह हाजिर और नाजिर, सर्वत्र उपस्थित और सर्व शक्तिमान् माना जाता है। यदि भगवान का विशेष वास किसी उच्च लोक में माना जाय तो सर्व व्यापी होने पर भीं वे सब जगह की बातों को कैसे देख सुन सकेंगे ? अपने लोक में भगवान भले ही साकार रूप में और ज्ञानेन्द्रियों के सहित हों परन्तु उनका सर्वत्र व्याप्त स्वरूप ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से रहित ही है। इसलिए जब तक यह कल्पना रहेगी कि ज्ञानेन्द्रियों से रहित होने पर भगवान को ज्ञान नहीं हो सकता और कर्मेन्द्रियों से रहित होने पर भगवान कर्म नहीं कर सकता, तब तक सर्वव्यापी भगवान को ज्ञान और कर्म से रहित मानना पड़ेगा। ऐसी व्यापकता का प्रमाण ही क्या हो सकता है जिसके साथ न कोई ज्ञान है न क्रिया है। ऐसी व्यापकता का कोई प्रयोजन या प्रभाव भी नहीं रह जाता है। अत: यह स्पष्ट है कि जब तक गीता के अनुसार सर्वेन्द्रियगुणा भासम्सर्वेन्द्रियविवर्जितम्" पर हम विश्वास नहीं करेंगे तब तक सर्वव्यापी ईश्वर में हमारा विश्वास सार्थक नहीं हो सकता।

इस प्रकार श्री वैराग्य संदीपनी के तीसरे दोहे में निर्गुण निराकार स्वरूप का जो वर्णन हुआ है वह तनिक भी अप्रासगिक नहीं। जब हम ईश्वर को सर्वत्र, सर्वदा उपस्थित और सभी चीजों पर पूर्ण समर्थ समझेंगे तभी हमारी आस्तिकता सफल होगी।

इस निरूपण का यह प्रयोजन भी है कि यदि शास्त्र के वचनों पर हमें दृढ़ निष्ठा हो जाय और दोहे में लिखित सत्य हमारे अन्त:करण में

जम जाये तो हम ईश्वर को प्रत्येक वस्तु और परिस्थिति का मालिक समझेंगे और उसे पूर्ण समर्थ समझकर चल सकेंगे। तभी यह स्थिति सिद्ध होगी कि मेरा मुझमें कुछ नहीं है जो कुछ है, सो तोर। तेरा तुझको सौंपते क्या लागै है मोर ।।

इसी स्थिति से सच्चा वैराग्य सधेगा और भगवत् प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होगा।

स्वासा समय शरीर धन, सब स्वामी रघुबीर।
समुझि चलै भवनिधि तरै, युत विवेक मति धीर ।।

श्री गोस्वामी जी सगुण साकार सरकार के उपासक थे, वैष्णव मात्र, अन्य देवों के उपासक भी, सगुण साकार की उपासना करते हैं, परन्तु साकार के एक देशीय होने का भ्रम कभी नहीं होना चाहिए। ईश्वर को सर्वव्यापी मानने वाला यह नहीं कह सकता कि वह मन्दिर में या मूर्ति में नहीं है, परन्तु वह यह कह सकता है कि ईश्वर केवल यहीं तक सीमित नहीं है। इसी प्रकार मन्दिर और मूर्ति में निष्ठा रखने वाला साकार का उपासक अपनी उपासना करे, परन्तु इस भ्रम में न पड़े कि दूसरी जगह भगवान नहीं हैं क्योंकि वैसे भ्रम का परिणाम यह होगा कि वह मन्दिर के बाहर भगवान को अविद्यमान् जानकर अशुभ आचरण कर सकता है और यह आशा कर सकता है कि उसका अशुभ फल उसे नहीं मिलेगा। इससे साधन विपर्यय हो जायगा और यह परिणाम आ सकेगा कि घण्टे आध घण्टे मूर्ति के सामने पूजा करने के बाद पूजा करने वाला अन्य समय और अन्य स्थानों में अशुभ आचरण करने के लिए स्वतन्त्रता पा जायगा। इस प्रकार के विकृत साधन से परमार्थ की प्राप्ति न हो सकेगी यदि कोई जबान से कह भी दे कि हमारे जो सरकार मन्दिर में विराजमान् हैं, वह सब जगह और हर समय पूर्ण ज्ञान शक्ति और कर्मशक्ति के साथ

उपस्थित हैं तो भी ईश्वर की व्यापकता में उसका विश्वास नाममात्र का ही रहेगा प्रभावी नहीं होगा। प्रह्लाद विष्णु के उपासक थे उन्हें इष्टदेव की सर्वव्यापकता में पूर्ण और सक्रिय विश्वास था इसीलिए हिरण्यकश्यप के यह पूछने पर कि क्या खम्भे में भी है ? उन्होंने कहा 'हाँ'। फिर यह प्रश्न किया गया कि दिखाई क्यों नहीं पड़ते ? श्रीमद्भागवत में लिखा है कि इसी परिस्थिति में अपना सर्व व्यापकता और अपने भक्त की बात को सच सिद्ध करने के लिए भगबान खम्भे से प्रकट हो गये। श्रीगोस्वामीजी ने भी श्री कवितावली जी में लिखा है कि—

"प्रेम बदौ प्रहलादहि को जिन पाहन ते परमेश्वर काढ़े।"

इस प्रकार यह देखा जायगा कि तृतीय दोहे में वर्णित तत्व उपासना, वैराग्य और ज्ञान की दृष्टि से सम्बद्ध, आवश्यक और हितकर है। ऐसा आवश्यक निरूपण इस ग्रन्थ में छोड़ा नहीं जा सकता था क्योंकि—

"यह बिराग संदीपनी, अखिल ज्ञान को सार"।

———

अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुन रहित जो ।
माया पति सोइ राम, दास हेतु नर तनु धरेउ ।।४।।

जो जन्म रहित है, अद्वितीय है, नाम रहित है, अलक्ष्य है, (प्राकृत) रूप और (माया के तीनों) गुणों से रहित है और माया का स्वामी है, वही तत्व श्रीरामचन्द्र जी हैं, जिन्होंने (अपने) दास भक्तों के लिए मनुष्य शरीर धारण किया है ।

प्रस्तुत सोरठे में श्रीगोस्वामी जी ने श्री भगवान के निराकार स्वरूप का और भी वर्णन किया है, और तब उन्हीं भगवान के अवतार लेने का भी उल्लेख किया है । इस सोरठे में भगवान के लिए पहला विशेषण 'अज' दिया गया है । अज का अर्थ है अजन्मा, जिसका कभी जन्म नहीं होता । "अज" विशेषण में भगवान सम्बन्धी बहुत बड़ा रहस्य छिपा हुआ है । यह समझ लेना अच्छा होगा कि भगवान का स्वरूप "अवाङ्मनसगोचरम्" (वाणी, मन और इन्द्रियों) से परे है । वाणी भगवान के स्वरूप का पूरा और ठीक ठीक वर्णन नहीं कर सकती । मन और बुद्धि भी भगवान के स्वरूप को ठीक ठीक समझने में समर्थ नहीं है । उपनिषद् में कहा है कि —"यतोवाचोनिवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह" (तैत्त २.४.१) जहाँ से वाणी लौट आती है, और वह मन से भी प्राप्त नहीं होता ।) श्रीराम चरित मानस में भी कहा है कि "मन समेत जेहि जान न बानी ।" शास्त्रों में जब भगवत् स्वरूप का वर्णन आता है तो वाणी से प्रकट न करने योग्य तत्व होने के कारण शब्दशः विरोधाभास आ जाता है । इसका पूरा पूरा शमन वाणी से और तर्क से नहीं हो पाता । यद्यपि

आचार्यगण अपने भाष्य या विवेचन में विरोधाभास का शमन करने की चेष्टा करते हैं परन्तु उनका विवेचन भी प्रत्येक धीमान् के लिए एक सा सन्तोषप्रद नहीं हो पाता, क्योंकि "नैषातर्केणमतिरापनेया" । (कठ० १.२.९) तर्क से यह विचार बोधगम्य नहीं । श्रीराम चरित मानस में भी श्री शंकर ने कहा है कि "राम अतर्क बुद्धि मन बानी । मत हमार अस सुनहु भवानी ।। अन्यत्र भी कहा है कि—'तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ।" अनुमान करने वाले लोग तर्क लगाकर भी नहीं जान सकते ।

प्रस्तुत सोरठे में भगवत् स्वरूप के निरूपण में सहज प्राप्त विरोधाभास का बड़ा उत्तम उदाहरण है । भगवान को अज कहा है अर्थात् वे जन्म से रहित हैं परन्तु सोरठे के अन्त में कहा है कि ऐसे भगवान ने भी अपने भक्तों के हित के लिए नर शरीर धारण किया अर्थात् जन्म लिया । अजन्मा भी हैं, जन्म भी लिया, यहीं विरोधाभास है, परन्तु यह विरोधाभास श्री गोस्वामी जी के निरूपण में कुछ नया नहीं पैदा हुआ । वेद में ही मन्त्र है उसी में यह विरोधाभाष पाया जाता है ।

"ॐ प्रजापतिश्चति गर्भेऽन्तरअजायमानों बहुधाविजायते ।
तस्य योनिम् परिपश्यन्तिधीरा: तस्मिन् हि तस्थुर्भुवनानिविश्वा: ।
(यजुवेद ३१/१९)

(जो सब प्रजा का मालिक है वह गर्भ के अन्दर विचरण करता है, अजन्मा होते हुए भी बहुत बार जन्म लेता है । उसके स्वरूप को धीर पुरुष ही देख पाते हैं । सभी लोक उसी स्वरूप के भीतर हैं । इसी विरोधाभास को श्रीराम चरित मानस में, श्रीराम जन्म के प्रसंग में बड़ी चतुरतापूर्वक श्री गोस्वामी जी ने दर्शाया है—

'ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया, रोम रोम प्रति वेद कहै ।
मम उर सो बासी यह उपहासी, सुनत धीर मति थिर न रहै ।"

साधारण तर्क से व्यक्ति यही सोच सकता है कि अजन्मा का जन्म नहीं हो सकता, इसलिए या तो भगवान को "अज" न कहा जाय और या उनके जन्म लेने की बात न कही जाय परन्तु शास्त्रों में इस मामले में या किसी और मामले में भी व्यर्थ का विरोबाभाष नहीं लाया गया है अनिवार्य होने से ही विरोधाभास प्राप्त हुआ है। ठीक ठीक विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

इस भौतिक संसार का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक और दार्शनिक लोगों को जगत् के व्यवहार में कार्य कारण परम्परा का दर्शन होता है। कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है परन्तु एक ही वस्तु किसी वस्तु का कारण होती है और दूसरे कारण का कार्य भी हो सकती है। जैसे भूख भोजन करने का कारण हो सकती है परन्तु भोजन करना रस रक्त बनने का कारण हो सकता है इम प्रकार एक कारण कार्य श्रंखला चल रही है और इसी से जगत् का व्यवहार चलता है। यदि हम प्रत्येक वस्तु का कारण ढूंढ़ते चलें तो जगत् की प्रत्येक उत्पन्न की गई वस्तु को हम सकारण पायेंगे, परन्तु यह नियम उत्पन्न हुई वस्तुओं तक ही चलेगा। मूल कारण का पता लगाते हुए हम यहाँ तक पहुंच जायेंगे कि सबसे पहला कारण ऐसा होना चाहिए जो उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए उसका कारण कुछ नहीं है। जहाँ तक उत्पत्ति है उसका कारण है। अनुत्पन्न कारण ही प्रथम या मूल कारण हो सकता है। जो उत्पन्न नहीं हूआ सदैव से है और सदैव रहेगा वही सबका कारण है और उसका कारण कुछ नहीं। जो किसी भी कारण से और किसी भी समय उत्पन्न हुआ नही उसी को हम कह सकते हैं कि वह आदि रहित अर्थात् जन्मरहित है। जो जन्मरहित है वही "अज" है। जो कोई भी भगवान को मानता है उसे भगवान को सृष्टिकर्ता के रूप में मानना पड़ेगा, और जो सृष्टिकर्ता है वह सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है। सृष्टि उसका कारण नहीं हो सकती। इस प्रकार ईश्वर को मानने वाला

अवश्य ही उसे जगत् का कर्ता, जगत का नियन्त्रक, जन्म मरण से रहित, शाश्वत मानेगा। इस तरह भगवान का "अज" स्वरूप मानना एक अनिवार्य आवश्यकता है। अब इसके साथ अवतार लेने की बात का मेल कैसे बैठेगा इस पर हम आगे यथास्थान विचार करेंगे। पहले अन्य उल्लिखित गुणों पर भी विचार करना ठीक होगा।

जो दूसरा विशेषण भगवान को दिया गया है वह "अद्वैत" है। भगवान अद्वैत है कि इसी से यह स्पष्ट हो गया कि भगवान एक ही है अनेक नहीं। भगवान को "एकमेवाद्वितीयं कहा है। (छान्दोग्य उपनिषद् ६.२.१) इस एक विशेषण से उस महान् आपत्ति का निराकरण हो जाता है, जो हिन्दू दर्शन के विरुद्ध प्राय: उठाई जाती है कि हिन्दू बहुदेववादी हैं, एक ईश्वर को नहीं मानता, बहुत से देवताओं को अलग अलग मानता है। एक और अद्वैत दोनों का अर्थ बिलकुल एक सा नहीं है। अद्वैत में यह अर्थ है कि एक है और दूसरा कुछ नहीं है, एक ही है। जैसा कि "एकमद्वितीयम्" का अर्थ है। अरबी में वाहिद शब्द का भी वैसा ही अर्थ है इसलिए जहाँ एक ईश्वर का ही साक्षात्कार होता है और दूसरी कोई सत्ता नहीं रह जाती उस दशा को सूफी विचारधारा में वहदत् कहा है। अद्वैत मे भी एक ब्रह्म को छोड़कर किसी अन्य सत्ता को मान्य नहीं किया गया है। जगत् के मिथ्यात्व का विचार भी इसमें आता है क्योंकि एक ब्रह्म की सत्ता के अतिरिक्त जगत् की स्वतन्त्र सत्ता मानने से अद्वैत नहीं रहता, द्वैत आ जाता है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब एक भगवत् सत्ता के अतिरिक्त कोई और सत्ता मान्य नहीं है तो फिर हिन्दू अनेक देवताओं को क्यों मानता है? अलग अलग देवताओं के मन्दिर क्यों बने हैं और उनमें विभिन्न उपासना पद्धतियाँ क्यों प्रचलित हैं। जब श्री स्वामी विवेकानन्द जी ने विदेशों में भ्रमण किया और प्रवचन किया तो उन्हें भी इस प्रश्न

का सामना करना पड़ा। उन्होंने गौरव पूर्वक वेदमन्त्र उद्धृत किया जिसमें स्पष्ट कहा गया था कि जिसको इन्द्र, वरुण, यम, अग्नि आदि कहते हैं वह तत्व एक ही है। "एकम्सद्विप्राः बहुधा वदन्ति" सत् एक ही है ज्ञानी लोग उसका बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं। हमारे इस प्रस्तुत सोरठे में भगवान को रूप और नाम से भी रहित कहा गया है। परन्तु उपासना के लिए नाम और रूप चाहिए। अतः इष्ट भेद, रुचिभेद, निष्ठा भेद, अधिकार भेद आदि के अनुसार विभिन्न इष्टदेवों की अराधना है और उपासना पद्धतियाँ भी अलग अलग हो गई हैं, परन्तु वास्तविक उपास्यदेव एक ही है। संस्कृत में भगवान की स्तुति में कहा गया है कि—

रुचीनाम् वैचित्र्याद्ऋजु कुटिल नाना पथजु षाम्।
नृणामेको गम्यसत्वमसिपयसामर्णव इव॥

रुचिभेद से सीधे और टेढ़े अनेक मार्गों से चलते हुए सारे मनुष्यों के लिए, हे भगवान् आप ही एक मात्र गंतव्य स्थान हो, जैसे सभी जल प्रवाहों के लिए एक मात्र गंतव्य स्थान समुद्र ही है। हिन्दू विचार में जो बहुदेवतावाद दिखाई पड़ता है उसके होते हुए भी एक ईश्वर की ही उपासना इष्टदेव के रूप में मान्य है और विचारशील अध्येता के लिए बड़ा ही सुन्दर समन्वय सम्भव है। हमारे श्री गोस्वामी जी स्वयं श्री रामचरित मानस में विविन्न देवताओं की स्तुति करते हैं परन्तु इससे यह बात असिद्ध नहीं होती न कमजोर पड़ती है कि वे श्री रामजी के अनन्योपासक थे। इस ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण में तीनों सरकारों की झाँकी प्रस्तुत की गई है परन्तु इससे भी श्री गोस्वामीजो की अनन्योपासना में कोई कमी नहीं आती। एकेश्वरवाद और बहुदेववाद सम्बन्धी विवाद या एतद् विषयक् समन्वय विचार यह हमारा मुख्य विषय नहीं है। "अद्वैत" पर विचार करते समय उक्त कुछ बातें प्रासंगिक समझ कर कही गई हैं।

यह स्पष्ट है कि अद्वैत में यह विचार समाया हुआ है कि एक ईश्वर के सिवा कोई और इष्ट नहीं हो सकता। इसलिए ईश्वर के सिवा कोई पूज्य नहीं ऐसी अनन्य भावना का विचार "अद्वैत" में समाया हुआ है।

भगवान को "अनाम" भी कहा है अर्थात् भगवान का कोई नाम नहीं हैं। यहाँ भी विरोधाभास है। यदि भगवान का और कोई नाम न भी हो तो यह "अनाम" ही उनका नाम हो जाएगा। यह याद रखना रखना चाहिए कि जब हम किसी भी तत्व का निरूपण करें तो हमें विषय निर्देश करना पड़ेगा अर्थात् उसका नाम बताना पड़ेगा। जब यह कहा गया कि वह अज है, अद्वैत है, "अनाम" है, अलख है, "रूप और गुण से रहित है, माया का पति है, तो यह भी बताना पढ़ेगा कि वह कोन है। उसका नाम क्या है और इसी प्रयोजन से श्री गोस्वामी जी ने राम नाम का उल्लेख किया है, यथा मायापति सोइ राम। इस प्रकार यहाँ भी विरोधाभास की प्राप्ति होती है। भगवान को अनाम मानने के पर्याप्त कारण हैं, अकारण ही उन्हें अनाम नहीं कहा गया है, परन्तु दूसरी दृष्टि से भगवान के अनन्त नाम हैं। अत: यह विचार करने और समझने की बात है कि अनाम भगवान के अनन्त नाम कैसे हैं ? हम दोनों पक्षों को शास्त्रों में पाते हैं। परन्तु शुष्क तर्क या कुतर्क से इन दोनों का समन्वय सध नहीं सकता। भगवान को अनाम कहने के भी पूरे पूरे कारण हैं और उनके अनन्त नाम भी ठीक हैं और यह अनन्त नाम अनन्त प्रभाव वाले है ऐसा रहस्यमय भगवान का स्वरूप है।

भगवान को सृष्टिकर्ता कहा गया है। वे सृष्टि से पहले भी थे, इसलिए तत्वदर्शियों को विचार होता है कि सृष्टि से पहले जो था वही भगवान का मूल और असली स्वरूप है। व्यावहारिक जगत् में नाम रूप और क्रिया है। यह सृष्टि का अंग है। सृष्टि के पहले या प्रलय के बाद की दशा में नाम रूप और क्रिया का अभाव रहता है। इसलिए सृष्टि

कर्ता के अपने स्वरूप में नाम रूप क्रिया कैसे हो सकती हैं अत वह अनाम है। किसी का नाम एक शब्द होता है। कान से सुनाई पड़ने वाला शब्द उन तरंगों की सहायता से ग्रहीत होता है जो वायु में प्रवाहित होती है। अथवा और भी सूक्ष्म दृष्टि से कहा गया है कि शब्द आकाश का गुण है। शब्द की तरंगें आकाश में होती हैं। वायु और आकाश दोनों ही पाँच तत्वों में से हैं। यह दोनों तत्व सृष्टि के सिलसिले मे बनाये गये, सृष्टि के पहले नहीं थे इसलिए सृष्टि के पहले शब्द की कल्पना नहीं हो सकती थी। इसलिए सृष्टि के पहले जो था वह बेनामी था, नाम वाला नहीं। इससे उसका नाम अनाम हुआ।

भगवान के जिस अव्यक्त स्वरूप का वर्णन सोरठे मे किया गया है वह ज्ञान मार्गियों और अद्वैत निरूपकों की दृष्टि में अधिष्ठान रूप है। स्वयं व्यवहार में प्रवृत्त न होते हुए भी वह समस्त व्यावहारिक जगत् का आधार है जैसे नाटक रंगमच पर ही होता है, परन्तु रगमच नाटक में कोई हिस्सा नहीं लेता वह केवल आधार का काम करता है। परन्तु आधार टूट जाय या हटा दिया जाय, तो नाटक चल नहीं सकता। इसी प्रकार भगवान के आधार या अधिष्ठान की कल्पना है। इसलिए भी भगवान अनाम है। सृष्टि के पहले भगवान को पुकारने वाला कोई नहीं था, इसलिए नाम की जरूरत भी नहीं थी इस दृष्टिकोण से भगवान अनामी ठहरते हैं। परन्तु किसी और दृष्टि से भगवान के अनेक नाम हैं। उन नामों की अनन्त महिमा है। यही विरोधाभास है।

हम जिस भौतिक जगत् में हैं, वहाँ नाम रूप और क्रिया को छोड़कर व्यवहार चल नहीं सकता। अत: विभिन्न व्यक्तियों, वस्तुओं, स्थानों और परिस्थितियों को अलग अलग संज्ञाएँ दे दी गई हैं। हम जिस वस्तु का स्मरण करते हैं उसका नाम पहले मन में आता है. रूप बाद मे। यदि कोई वस्तु हाथ पर रख भी दी जाय तो भी उसका नाम नही जानने तक यही

कहना पड़ता है कि हम इसे नहीं पहचानते । श्रीरामचरित मानस में भी कहा गया है कि--

समुझत सरिस नाम अरु नामी । प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी ।
रूप विशेष नाम बिनु जाने । करतल गत न परत पहिचानें ।।

तथा—

सुमिरिय नाम रूप विनु देखे । आवत हृदय सनेह विशेखे ।।

सृष्टि का कर्ता ईश्वर, सृष्टि के पहले कैसा था इसका विवाद साधकों के लिए अधिक उपयोगी नहीं है । इनकी समस्या वह है कि आज भगवत् प्राप्ति के लिए हम क्या कर सकते हैं । भगवान के स्मरण के बिना भगवत् प्राप्ति नहीं हो सकती और भगवत् स्मरण के लिए भगवान का नाम आवश्यक है । भगवान के नाम के बिना हम भगवान का ठीक ठीक स्मरण नहीं कर सकते । इसलिए तत्वत: भले ही भगवान अनामी हों उनको बहुत से नामों से याद किया गया है । कई प्रकार के सहस्त्र नाम लिखे गए हैं और प्रचलित हैं । इनमें से श्री विष्णु सहस्त्र नाम पर आदि शकराचार्य जी का भाष्य भी उपलब्ध है । यह बात ध्यान देने लायक है कि भगवान के जो उपासक साकार रूप की उपासना नहीं करते उनके लिए भी भगवन् नाम का सहारा आवश्यक हैं । आर्य समाजी सगुण साकार के उपासक नहीं हैं परन्तु प्रणव जप साधना में उनका विश्वास है । इस्लाम के मुख्य धर्म ग्रन्थ कुरान का प्रत्येक अध्याय करुणा सिन्धु भगवान के नाम से प्रारम्भ होता है । बाइबिल में भी बारम्बार भगवन् नाम की कीर्ति गाई गयी है । तमाम शास्त्रों में भगवान के नाम के जो प्रमाण भरे पड़े है उन्हें एकत्रित करके अयोध्यावासी सन्तबर स्व० श्री युगुलानन्य शरण जी ने श्री सीता राम नाम प्रताप प्रकाश की रचना की थी और यह ग्रन्थ

प्रकाशित भी हुआ था। श्रीगोस्वामीजी ने श्रीराम चरित मानस में बड़े ही मार्मिक ढंग से कहा है कि—अगुण सगुण विच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ।। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान के परात्पर निराकार स्वरूप के प्रतिपादन के समय उन्हें अनाम कहा जाता है परन्तु साधनकाल में निराकार या साकार किसी भी रूप के उपासकों का भगवन् नाम के बिना काम नहीं चल सकता इसलिए निराकार के उपासक भी भगवान के नाम का सहारा लेते हैं।

महाप्रभु श्री चैतन्यदेव जी ने कहा है कि हे भगवान आपकी इतनी बड़ी कृपा है कि आपने अपने बहुत से नाम बनाए और उनमें से हर एक में अपनी पूरी शक्ति रख दी तथा नाम स्मरण में समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया, मेरा दुर्भाग्य भी ऐसा है कि इनमें से किसी में भी प्रेम नहीं हुआ (चैतन्याष्टक)।

हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि निराकार और निर्गुण एक ही अर्थ वाले शब्द नहीं हैं आकार न होना एक बात है, और भी गुण न होना दूसरी बात है। निराकार के उपासक भी जब भगवान को सृष्टिकर्ता, न्यायकर्ता, फलप्रदाता, बुद्धि का प्रेरक आदि मानते हैं और वैसा निरूपित करते हैं तो उनका भगवान गुणरहित नहीं गुण सहित हो जाता है। निराकार के उपासक भी सगुण निराकार के उपासक हैं, निर्गुण के नहीं। अर्य समाजी निराकार भगवान को मानते हैं परन्तु उनके विश्वास के अनुसार भगवान सृष्टिकर्ता, न्यायकारी, दयालु, अनादि अजन्मा और अनन्त है। इतने सारे गुणों से युक्त भगवान निर्गुण कैसे माने जा सकते हैं। इसलिए एक विवेकी विद्वान आर्य सन्त ने निर्गुण शब्द का दूसरा ही अर्थ किया। गुणहीन के अर्थ में उन्होंने निर्गुण का प्रयोग नहीं किया उन्होंने कहा कि—

निर्गुता: गुणा: यस्मात् स निर्गुण:

जिसमें से सब गुण निकले हैं वह निर्गुण है। इस विवेचन का यहाँ औचित्य यह है कि जब तक भगवान के गुण माने जायँगे तब तक इन गुणों के वाचक शब्द भगवान के नाम बन जायेंगे। और भगवान अनामी नहीं हो सकते। श्री गोस्वामीजी ने कहा है कि—

राम नाम अवलम्ब बिनु, परमारथ की आस।
बरसत वारिद बूंदें गहि चाहन चढ़त अकास॥ (दोहावली)

माण्डूक्य उपनिषद् में घोषित किया गया है कि जो कुछ हो चुका है जो है व जो होगा वह सब प्रणव ही है।

इस प्रकार भूमिका, सोपान, सन्दर्भ साधना आदि के भेद से भगवान को अनाम भी कहा गया है। परन्तु यह भी सही है कि—

"चहुँ दिस चहुँ युग नाम प्रभाऊ"।

भगवान को अलख भी कहा है अलख शब्द का यह अर्थ भी समझा जा सकता है कि "जो देखा नहीं जा सकता" परन्तु संस्कृत में इस शब्द के लिए अदृश्य शब्द है। यहाँ इस सोरठे में यदि अलख का यही अर्थ मानें कि जो देखा नहीं जा सकता तो यह कठिनाई होगी कि इस अर्थ के लिए इसी सोरठे में रूप रहित शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवान रूप रहित हैं इसलिए दिखाई नहीं पड़ सकते। इसीलिये अलख शब्द का उससे कुछ भिन्न अर्थ करना ही ठीक होगा। यहाँ सोरठे में यह समझना चाहिए कि अलख शब्द संस्कृत के अलक्ष्य शब्द का तद्भव है। अलक्ष्य शब्द का अर्थ यह है जिसका लक्ष्य न किया जा सके, अर्थात् जो किसी संकेत से भी समझाया न जा सके। वेद में कहा है कि "पादोऽस्यपिश्वा-

भूतानि त्रिपादोऽस्यामृतम्दिवि ।" भगवान के एक चरण में विभिन्न लोक और अनेक जीव हैं और तीन चरणों में अमृतमय दिव्य लोक है। इसके बाद श्री भगवान की त्रिपादूर्ध्वं अनन्त विभूति मानी गई है। परात्पर स्वरूप का साक्षात् वर्णन सम्भव नहीं है। इसीलिए भी वेद में नेति नेति शब्द का प्रयोग किया गया है। किसी भी पदार्थ का नकारात्मक शब्दों में वर्णन न्याय शास्त्र मान्य नहीं हैं। इसीलिए भगबान के विषय में भी यह बताना काफी नहीं है कि भगवान क्या नहीं हैं। इसलिए नेति नेति वाला वर्णन सदैव अधूरा ही रहेगा। परन्तु परात्पर स्वरूप सकारात्मक शब्दों से लक्षित नहीं किया जा सकता। इसीलिए श्रुति ने विवशतापूर्वक नेति नेति द्वारा निरूपण किया है।

परात्पर स्वरूप भले ही वाणी की पहुँच से परे हो, सकारात्मक शब्दों द्वारा वाच्य न हो और अचिंत्य व अवर्णनीय भी हो, परन्तु भगवत् प्राप्ति की साधना करने वाले मनीषियों का कार्य नहीं चल सकता जब तक वे भगवान का वर्णन न करें, उनके गुणानुवाद न गाएँ। श्री गोस्वामी जी ने माना है कि भगवत् कथा का कोई पार नहीं पा सकता —तदपि कहे बिनु रहा न कोई (तो भी सन्तजन बिना कहे नहीं रहे)।

श्री सूरदास जी महाराज ने बड़ी कुशलतापूर्वक इसी अलक्ष्य रूप का लक्ष्य करके श्रीकृष्ण के साकार रूप की उपासना का पक्ष प्रबल किया है—

रूप रेख बिनु, जाति युक्ति बिनु, निरालम्ब मन चक्रित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं, ताते सूर सगुन लीला पद गावै।।

श्री गोस्वामी जी ने भी दोहावली जी में कहा है कि—

तुलसी अलखहिं का लखै, राम नाम जपु नीच।

जब वेद की श्रुतियाँ भी श्री भगवान के परात्पर स्वरूप का सकारात्मक वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं तो भक्ति के आचार्यों को यह कहने का अवसर मिला कि श्रुतियाँ भी भगवान के स्वरूप का अनुसंधान करती रहती हैं, परन्तु सफल नहीं होतीं। श्रीमद् भागवत के एक प्रसिद्ध श्लोक में उद्धव जी ने गोपियों की स्तुति की है जिन्होंने श्री भगवान की उस पदवी का सेवन किया जिसे श्रुतियाँ भी ढूँढ़ती रहती हैं।

भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् (श्रीमद्भागवत १०.४७.६१)

भक्ति के आचार्यों और रसिकों की दृष्टि में श्रुतियों के द्वारा निरन्तर खोजे जाने वाले भगवान ही गोपियों के साथ लीला विहार रत् हुए। सोरठे में कवि का भी तात्पर्य यही है कि परात्पर भगबान ने स्वयं दासों पर कृपा करने के लिए नर रूप धारण किया। इस प्रकार अलक्ष्य रूप लक्ष्य हो गया। रसखान जी के प्रसिद्ध छन्द में इस विषय का सरस वर्णन है।

शेष महेश गनेश दिनेश, सुरेशहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड, अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रटैं, पचिहारे तऊ मुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरिया, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

श्री गोस्वामी जी के समकालीन प्रसिद्ध प्रकाण्ड विद्वान् श्री मधुसूदन सरस्वती जी अद्वैत–सिद्धि के भी लेखक थे और हरि भक्ति रसायन के भी। इन्होंने भी उपर्युक्त तत्व का वर्णन बड़े प्रभावशाली ढंग से एक मार्मिक श्लोक में किया है।

उपदेशं परमिदम् आद्रियध्वम्, निगम बनेषु नितान्त चार खिन्नाः।
विचिकुत भवनेषु व्रज बल्लवीनाम्, उपनिषदमर्थमुलूखले निबद्धं॥

जो लोग वेद के वन में वहुत भटकते-भटकते थक गए हों वे इस परम कल्याणकारी उपदेश को सुने और आदर करें। उपनिषदों के अर्थ को व्रज सुन्दरियों गोपियों के घरों में ढूंढ़ना चाहिए, वह अर्थ वहाँ ओखली में बँधा पड़ा है, भाग या छिप नहीं सकता। इसलिए इतना स्मरण रखना चाहिए कि अलक्ष्य शब्द भगवान के परात्पर स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है परन्तु यदि भगवान किसी रूप में कभी किसी को प्राप्त ही न हो सके तो शास्त्र लिखने और साधन करने का प्रयोजन ही समाप्त हो जाए। वेदादि समस्त शास्त्रों का प्रयोजन यही है कि वह भगवत् प्राप्ति साधना का मार्गदर्शन करें न कि उसे असम्भव सिद्ध करें, क्योंकि जो मन और वाणी से अगोचर है और किसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता उसका तो अस्तित्व भी प्रमाणित नहीं हो सकता और इससे तो नास्तिकता को ही बल मिलेगा।

भगवान के अव्यक्त स्वरूप के वर्णन में कवि ने भगवान को रूप और गुण से रहित बताया है। रूप रहित अर्थात् निराकार भगवान का परात्पर स्वरूप वेदान्त शास्त्रों में निराकार रूप से कथित है। कभी कभी निराकार के ही अर्थ में निर्गुण का प्रयोग हो जाता है। निराकार के उपासकों की परम्परा हिन्दी साहित्य में भी निर्गुण धारा के नाम से विख्यात है। इसी दृष्टि से कबीरपन्थी निर्गुनी कहे गए हैं और श्रीगोस्वामी जी व सूरदासजी सगुणोपासक माने गए हैं। यह भली भाँति समझ लेना अच्छा है कि शास्त्रों और सन्तों को भगवान के साकार और निराकार दोनों रूप मान्य हैं। रामायण में कहा है कि---

जय सगुण निर्गुण रूप राम, अनूप भूप शिरोमने।

यह भी कहा है--

अगुन अरूप अलख गति जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई।

भगवान को साकार और निराकार दोनों कहने में विरोधाभास आता है और प्रश्न उठता है कि--जो गुन रहित सगुन सो कैसे। इसका उत्तर दिया गया है कि—

जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे ॥

पाले के रूप में जल निराकार है जल के रूप मे द्रव है और ओले के रूप में ठोस है परन्तु तत्वतः वह जल ही है। इसी प्रकार सर्वव्यापी परात्पर रूप निराकार है परन्तु भक्त प्रेमवश व्यक्त हुआ स्वरूप साकार है। कहीं पर ओले गिर जाने से यह सिद्ध नही होता कि अन्य देशों में जल भाप के अव्यक्त रूप में व्यापक नहीं है। जल तत्व अव्यक्त भाप रूप में वायु में सर्वत्र व्याप्त है। द्रव्यरूप में जलस्रोतों में प्रवहमान है और बर्फ रूप में ऊँचे पहाड़ों की चोटियों पर जमा है। अथवा फैक्ट्रियों में तैयार होकर ठोस रूप में बाजारों में बिकता है। इस प्रकार जल तत्व स्वयं साकार व निराकार दोनों हैं। फिर भगवान के निराकार और साकार दोनों होने में असम्भावना कहाँ है ? इसलिए भगवान रूप रहित है। परन्तु सौन्दर्य निधान रूप सहित भी है, जिनके रूप पर प्राणी मात्र आकर्षित और मोहित हो सकता है। कहा जाता है कि एक बार गोस्वामी जी की पत्नी ने उनको एक पत्र लिखा था, जिसमें पत्नी त्याग को अनुचित बताया था और यह आशंका प्रकट की थी कि उनकी रातें किसी अन्य स्त्री के साथ न कटने लगें। उत्तर में श्री गोस्वामी जी ने लिखा था—

कटती है रघुनाथ संग, बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेम रस, पत्नी के उपदेस।

भगवान का जटाजूट धारी रूप श्री गोस्वामी जी को ईष्ट है और इस ग्रन्थ के मङ्गलाचरण का विषय भी है। इस प्रकार श्री भगवान के

निराकार रूप का संकेत कवि ने पूर्व पक्ष में किया है और उत्तर पक्ष में उन्हीं भगवान के द्वारा नर रूप धारण करने का उल्लेख करके कवि ने साकार रूप को प्रधानता दी है।

भगवान को गुण रहित कहने का दो प्रकार का प्रयोजन हो सकता है एक तो ब्रह्म रूप में भगवान केवल अधिष्ठान रूप हैं और इसलिए उस रूप में समस्त गुग से रहित हैं निरीह, निष्चैष्ट, निष्पक्ष, निष्काम हैं, शुभाशुभ सबमें समान हैं। यह भगवान का निरपेक्ष रूप है। वेदान्त शास्त्रों में अन्वय और व्यतिरेक पद्धति मे भगवान का निरूपण हुआ है। प्रत्येक वस्तु में समस्त संसार में भगवान को व्याप्त देखना यह अन्वय पद्धति है। श्रीराम चरित मानस में श्रीरामजी ने श्री हनुमान जी को अनन्य भक्ति का उपदेश देते हुए कहा है।

सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त।। (कि०कां०)

चराचर में भगवान का रूप देखना यह अन्वय पद्धति है। गीता में भी कहा है कि "वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:" (गीता ७/१९) सब कुछ प्रभु रूप है ऐसा अनुभव करने वाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

व्यतिरेक पद्धति में भगवान जगत् के समस्त पदार्थों से भिन्न और परे माने जाते हैं। अत: व्यतिरेक पद्धति से भगवान जगत् और उसके तमाम गुणों से भी प्रथक और अछूते हैं। गीता में भगवान ने कहा है कि "तस्यकर्त्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम्" (गीता ४/१३)। मुझ अव्यय स्वरूप को उसका कर्ता होते हुए भी तुम अकर्ता जानो।

भगवान को साकार और निराकार दोनों कहने में विरोधाभास आता है और प्रश्न उठता है कि--जो गुन रहित सगुन सो कैसे। इसका उत्तर दिया गया है कि—

जल हिम उपल विलग नहिं जैसे ।।

पाले के रूप में जल निराकार है जल के रूप मे द्रव है और ओले के रूप में ठोस है परन्तु तत्वत: वह जल ही है। इसी प्रकार सर्वव्यापी परात्पर रूप निराकार है परन्तु भक्त प्रेमबश व्यक्त हुआ स्वरूप साकार है। कही पर ओले गिर जाने से यह सिद्ध नही होता कि अन्य देशों में जल भाप के अव्यक्त रूप में व्यापक नहीं है। जल तत्व अव्यक्त भाप रूप में वायु में सर्वत्र व्याप्त है। द्रव्यरूप में जलस्रोतों में प्रवहमान है और वर्फ रूप में ऊँचे पहाड़ों की चोटियों पर जमा है। अथवा फैक्ट्रियों में तैयार होकर ठोस रूप में बाजारों में बिकता है। इस प्रकार जल तत्व स्वयं साकार व निराकार दोनों हैं। फिर भगवान के निराकार और साकार दोनों होने में असम्भावना कहाँ है ? इसलिए भगवान रूप रहित हैं। परन्तु सौन्दर्य निधान रूप सहित भी है, जिनके रूप पर प्राणी मात्र आकर्षित और मोहित हो सकता है। कहा जाता है कि एक बार गोस्वामी जी की पत्नी ने उनको एक पत्र लिखा था, जिसमें पत्नी त्याग को अनुचित बताया था और यह आशंका प्रकट की थी कि उनकी रातें किसी अन्य स्त्री के साथ न कटने लगें। उत्तर में श्री गोस्वामी जी ने लिखा था—

कटती है रघुनाथ संग, बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेम रस, पत्नी के उपदेस।

भगवान का जटाजूट धारी रूप श्री गोस्वामी जी को ईष्ट है और इस ग्रन्थ के मंगलाचरण का विषय भी है। इस प्रकार श्री भगवान के

निराकार रूप का संकेत कवि ने पूर्व पक्ष में किया है और उत्तर पक्ष में उन्हीं भगवान के द्वारा नर रूप धारण करने का उल्लेख करके कवि ने साकार रूप को प्रधानता दी है।

भगवान को गुण रहित कहने का दो प्रकार का प्रयोजन हो सकता है एक तो ब्रह्म रूप में भगवान केवल अधिष्ठान रूप हैं और इसलिए उस रूप में समस्त गुण से रहित हैं निरीह, निष्चैष्ट, निष्पक्ष, निष्काम हैं, शुभाशुभ सबमें समान हैं। यह भगवान का निरपेक्ष रूप है। वेदान्त शास्त्रों में अन्वय और व्यतिरेक पद्धति से भगवान का निरूपण हुआ है। प्रत्येक वस्तु में समस्त संसार में भगवान को व्याप्त देखना यह अन्वय पद्धति है। श्रीराम चरित मानस में श्रीरामजी ने श्री हनुमान जी को अनन्य भक्ति का उपदेश देते हुए कहा है।

सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त ।। (कि०कां०)

चराचर में भगवान का रूप देखना यह अन्वय पद्धति है। गीता में भी कहा है कि "वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ:" (गीता ७/१९) सब कुछ प्रभु रूप है ऐसा अनुभव करने वाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

व्यतिरेक पद्धति में भगवान जगत् के समस्त पदार्थों से भिन्न और परे माने जाते हैं। अत: व्यतिरेक पद्धति से भगवान जगत् और उसके तमाम गुणों से भी प्रथक और अछूते हैं। गीता में भगवान ने कहा है कि "तस्यकर्त्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम्" (गीता ४/१३)। मुझ अव्यय स्वरूप को उसका कर्ता होते हुए भी तुम अकर्ता जानो।

यह ऐसा ही है कि सोते समय जो स्वप्न दिखाई देता है उस स्वप्न में सचमुच देखने वाले की सता को छोड़कर कोई अन्य सत्ता नहीं रहती। इसलिए देखने वाला समस्त स्वप्न में व्याप्त है, परन्तु सोने वाला जो स्वप्न देख रहा है वह स्पप्न की समस्त घटनाओं हानि लाभ, जय पराजय, मान अपमान अथवा हर्ष विषाद, क्रोध आदि विकारों से परे निद्रा निमग्न है। इससे हम समझ सकते हैं कि भगवान समस्त गुणों से परे नितान्त निर्गुण है परन्तु सभी गुण उसी के कारण हैं, उसी से निर्गत हुए हैं निकले हैं।

जिस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत सोरठे में किया गया है वैसा ही राम चरित मानस में भी है। मानस में भी अव्यक्त रूप का वर्णन करके अन्त में कहा गया है।

जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोई दशरथ सुत भगत हित, कोसल पति भगवान ।।

तथा अन्यत्र भी कहा है कि—

सोइ अज प्रेम भगति बस, कौसल्या की गोद।

यह ग्रन्थकार का चातुर्य है कि इस ढँग पर सूत्र रूप में अवतारवाद का प्रबल प्रतिपादन है। गोस्वामी जी कहते हैं कि जो अज, अद्वैत, अनाम अलक्ष्य, रूप और गुण से रहित हैं उन्हीं मायापति राम ने दासों के हित के लिए नर रूप धारण किया। माया त्रिगुणात्मिका है जगत् का व्यवहार सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का प्रवाह है। इन तीनों गुणों से परे होने के कारण भी भगवान को निर्गुण कहा जाता है। वे गुणातीत हैं त्रिगुणात्मिका माया के पति हैं। माया पति शब्द में बहुत सा अर्थ भरा हुआ है। भक्ति के आचार्य जीव और शिव का भेद मानते हैं। रामचरित मानस में कहा है कि—

माया ईस न आपु, कहँ, जान कहिय सो जीव।
बन्ध मोक्ष प्रद सर्व पर, माया प्रेरक सीव।

उत्तर काण्ड में भी कहा है कि—

परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता।।

तथा—

ज्ञान अखण्ड एक सीतावर। माया वस्य जीव सचराचर।।

इस प्रकार जीव और शिव के भेद से भक्ति की सम्भावना बनती है। जीव मायाबस है, ईश्वर उसका मालिक है। जीव पशु की तरह है ईश्वर इसका मालिक है। जीव माया के बन्धन में बँधा है। विनय पत्रिका जी में श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि—

तुलसिदास यह जीव मोह रजु, जोइ बाँधै सोइ छोरै।

रस्सी से बँधा हुआ जानवर स्वयं अपने बन्धन को खोल नहीं सकता। उसका स्वामी ही उसे खोल या खुलवा सकता है। इसलिए मायाबश जीव के लिए मायापति का आराधन आवश्यक है। इसी प्रकार वह बन्धन से मुक्त हो सकता है। सोरठे में मायापति राम का उल्लेख है। पुराण प्रसिद्ध राम तीन हैं—परशुराम, दशरथ पुत्र राम तथा बलराम। इसके अतिरिक्त—"रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः" जिसमें योगी लोग रमण करते हैं वह राम हैं। जो चराचर में व्याप्त है, घट घटवासी है, वह राम है ऐसा अर्थ भी राम शब्द से निकलता है। दशरथ पुत्र राम जी ही गोस्वामी जी के इष्ट थे परन्तु यहाँ उनके मायापति रूप से कवि का प्रयोजन है।

माया पति शब्द में ही भक्ति दर्शन का सूत्र समाया हुआ है। बहुत से भक्तजन माया को भगवान की आदि शक्ति मानते हैं और युगुल सरकार

की उपासना करते हैं। अद्वैत दर्शन में माया को एक रहस्यमय शक्ति बताया है जिसे न सत्य कहा जा सकता है न असत्य। यदि माया को सत्य मानें तो ब्रह्म और माया के भिन्न भिन्न तत्व मान्य हो जायेंगे। इससे अद्वैत खण्डित होगा और सांख्य दर्शन प्रतिष्ठित होने लगेगा। माया को असत्य मानें तो दर्शन के निरूपण में उसका प्रसग ही न रहे। अत: उसे आदि शकराचार्य ने भी सत्य और असत्य से प्रथक एक रहस्य मय शक्ति माना है। भक्ति के आचार्यों ने माया को शक्ति स्वरूपा देवी माना है और इष्टदेव के साथ शक्ति स्वरूपा देवी की प्रतिष्ठा करके युगुल सरकार की उपासना की है। इसलिए मायापति ही वास्तविक आराध्य हैं और समस्त उपासना के आधार हैं।

शब्द माया पति में एक और संकेत है। भक्ति के आचार्यों ने भक्ति साधना के फलस्वरूप जीव के मोक्ष की सम्भावना बताई। मुक्त होने पर जीव माया के बन्धन से छूट जाता है। इसलिए यह माना जाता है कि वह भगवान के समान हो जाता है परन्तु भक्ति के आचार्यों का कहना है कि यह समानता प्रत्येक विषय में नहीं होती। विशेषत: सृष्टि को उत्पन्न करने, चलाने तथा उसका प्रलय करने की शक्ति ईश्वर में ही रहेगी, प्रत्येक मुक्त जीव को नहीं मिल सकती अत: मुक्तजीव के द्वारा भी सृष्टि के नियन्त्रक ईश्वर की उपासना सम्भव व उचित है। श्रीरामानुजाचार्य महाराज का कहना है कि "मुक्ता: अपि लीलया विग्रहंकृत्वा भगवतम् भजन्ते। मुक्त जीव भी लीला पूर्वक दिव्य देह धारण किए हुए भगवान का भजन करते हैं। इस तरह समझने पर सारी उपासना माया पति के साथ जुड़ी हुई है। पहले कबि ने भगवान के अव्यक्त, अचिंत्य, अलक्ष्य रूप का वर्णन किया जो वस्तुत: अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म का वर्णन है फिर उसी रूप का मायापति राम के साथ एकत्व प्रदर्शित किया। वेदान्त के अनुसार "सर्वं खलुविदं ब्रह्म (यह सब कुछ ब्रह्म ही है) इस

दृष्टि से अद्वैत का प्रतिपादन है। परन्तु सृष्टि के बन जाने के बाद सृष्टि के व्यवहार में सृष्टि नियन्त्रक ईश्वर और नियंत्रित जीव का भेद अपरिहार्य है। गुण रहित होना ब्रह्म का लक्षण हो सकता है ईश्वर का नहीं। ईश्वर तो ईशित्व गुण के कारण ही ईश्वर कहलाता है और ईशित्व करने में बहुत से अन्य गुणों का भी प्रदर्शन आवश्यक है इसलिए ईश्वर गुणों के बन्धन से परे हो सकता है, गुणों से रहित नहीं हो सकता। इसी तरह हम ब्रह्म को भले ही सृष्टि निरपेक्ष माने परन्तु ईश्वर जो सृष्टि का शासक है उससे निरपेक्ष नहीं रह सकता इसलिए सृष्टि के सुसचालनार्थ आवश्यक होने पर उसका मनुज रूप में प्रगट होना और नर लीला करना सहज और स्वाभाविक है। इसमें कोई अनहोनापन या असम्भावना नहीं है।

एक और बात सदैव स्मरण रखने योग्य है। जैसे प्रजाजन को कष्ट पाने पर राजा के समक्ष आवेदन करने की, प्रार्थना करने की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार बन्धन और कष्ट में पड़े हुए जीव को सृष्टि के नियन्त्रक से प्रार्थना करने की प्रेरणा होती है। परन्तु प्रार्थना तभी की जाती है जब यह आशा हो कि उस पर कार्यवाही की जाएगी। यदि कोई राजा प्रार्थंना पत्रों पर कोई विचार ही न करे, न कोई आदेश पारित करे तो ऐसे राजा से कोई भी प्रार्थंना क्यों करेगा। इसी प्रकार ईश्वर के अन्दर भक्त वत्सलता, पतितपावनता, कारुण्य, शरणागत–प्रतिपालकता आदि गुणों के होने की मान्यता करके ही विनय, प्रार्थना या पूजा की जाती है। भक्तों के लिए मायापति राम करुणासिन्धु हैं। वे भक्ति भावना के उत्तर में कृपा करते हैं। इसीलिए उपासना की सार्थकता है नहीं तो उपासना का कोई आधार नहीं बनेगा। मायापति होने से हीं ईश्वर का कारुण्य आदि गुणों से युक्त होना सहज और सम्भव है। यदि कोई व्यक्ति भगवान को केवल न्यायकारी माने, दयालु न माने तो वह ईश्वर की उपासना नहीं कर सकता क्योंकि कर्मानुसार फल देने की तो

ईश्वर की ओर से सहज और प्राकृतिक व्यवस्था है, परन्तु भगवान की भक्त वत्सलता भक्तों की भावना के अनुरूप उत्तर के रूप में उदय होती है और अपना चमत्कार दिखाती है। इसी कारुण्य का यह प्रकाश है कि—

जब जब होइ धर्म कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।।
तब तब प्रभु धरि विविध शरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।

यदा यदा हि धर्मस्यग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्हम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

(गीता ४/७-८)

संसार को पार करने के लिए ऋषियों ने धर्म को पुल के समान माना है।

"श्रुति सेतु पालक राम तुम"

इसी तरह "धर्म सेतु पालक तुम ताता"। राम ने अपने अपने काल में भविष्य में होने वाले राजाओं से प्रार्थना की थी कि वे अपने अपनें समय में धर्म रूपी पुल की रक्षा करते रहें। श्लोक निम्नवत् है—

भूयो भूयो, भाविनों भूमिपाला:, नत्वा नत्वा याचते रामचन्द्र:।
सामान्योऽयम् धर्मसेतुर्नराणाम् काले काले पालनीया भवद्‌भि।।

उपर्युक्त के अनुसार सत् पुरुषों की रक्षा दुष्टजनों का संहार और धर्म स्थापना के लिए ही भगवान का अवतार होता है। परन्तु यहाँ

सोरठे में कहा गया हैं कि दास हेतु नर तनु धरेउ। देखने में यह एक नया और भिन्न ही कारण मालूम होता है। श्री रामचरित मानस में भी श्री रामचन्द्र जी ने विभीषण से कहा है कि—

तुम सारिखे सन्त प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥

यहाँ दासों का हित करना अवतार का एक मात्र कारण कहा गया है, और कोई निहोरा मान्य नहीं किया गया है। तो फिर गीता और रामचरित मानस में कहे हुए अन्य कारणों का क्या होगा? दोनों प्रकार के वचनों में मेल कैसे बैठेगा? एक तो यह समझना चाहिए कि श्री गीता जी में और रामचरित मानस में जो अवतार का प्रयोजन कथित है उसमें साधुजनों की रक्षा पहले नम्बर पर है। इसी रक्षा हेतु आवश्यकता अनुसार दुष्टजनों का संहार है, तथा साधुजनों के मार्ग को निष्कंटक बनाने के लिए और जन कल्याणार्थ धर्म की स्थापना भी है। साधुजन भगवान के दास ही हैं। जब उन्हें बहुत कष्ट होता है तब भगवान को उस कष्ट के निवारण के लिए स्वयं अवतार ग्रहण करने की प्रेरणा होती है।

यह भी कहा जा सकता है कि श्री भगवान् के और और प्रयोजन अवतार लिये बिना भी पूरे हो सकते हैं और किसी अश तक पूरे होते रहते हैं। अन्य महापुरुषों द्वारा भी धर्म स्थापना कार्य हो सकता है और हुआ है। परन्तु अपने शरणागत भक्तों के तीव्र कष्ट को दूर करने के लिए भगवान को स्वयं लीला-प्रवृत्त होने की प्रेरणा होती है। जैसे किसी अत्यन्त धनी व्यक्ति के घर पर उसका कोई अति निकटवर्ती घनिष्ट मित्र आवे तो धनी को इससे संतोष नहीं होता कि मित्र के लिए जलपान का सामान नौकर से भिजवा दे। इसलिए अपने अतीव प्रिय भक्तों के लिए श्री भगवान स्वयमेव कुछ

करना चाहते हैं। प्राकृतिक उपायों से कष्ट निवारण सम्भव भी हो तो भी उससे भगवान को सन्तोष नहीं होता।

यह सही है कि अवतार काल के अतिरिक्त भी भगवान के भक्तों को कष्ट झेलने पड़े हैं और बहुत बार ऐसा हुआ हैं कि सन्त भगवन्त की कृपामय शक्ति के द्वारा ही उन कष्टों का शमन हुआ है। जब भगवान किसी भक्त को ध्यान में दर्शन देते हैं और आवश्यक आदेश, निर्देश, उपदेश, आशिर्वाद अथवा वरदान देते हैं तो भी यही कहना पड़ेगा कि भगवान ने अपनी ओर से उस भक्त का कल्याण किया। कभी कभी ऐसे अवसर भी आते हैं कि भगवान भक्त को ध्यानावस्था में नहीं वरन् साक्षात दर्शन देते हैं और कृपा करते हैं। इस प्रकार अवतार काल के अतिरिक्त भी श्री भगवान भक्तों के लिए अपनी ओर से बहुत कुछ करते रहते हैं। परन्तु जहाँ सतपुरुषों की पीड़ा एक सामूहिक समस्या बन जाती है वहाँ अवतार लेकर साक्षात् हस्तक्षेप करना सुगम और स्वाभाविक मार्ग बन जाता है। जैसे रावण के समय में राक्षसों ने ऋषि मुनियों का भक्षण करके हड्डियों का भारी ढेर लगा दिया था। बनवास काल में श्री राम जी ने उस ढेर को देखा और उसके विषय में पूछताछ की। वास्तविक तथ्यों को जानकर श्री राम करुणा से भर गये और—

निशिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ प्रन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमनि, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

इस प्रसंग से भी स्पष्ट हो जाता है कि श्री भगवान को ऋषि मुनियों का सामूहिक संकट देखकर उसके निवारणार्थ ही निशिचर संहार की प्रेरणा हुई।

एक अन्य बात भी विचारणीय है। लंका विजय और निशिचर संहार महामारी आदि के द्वारा भी हो सकता था। परन्तु अनन्य भक्तों की

प्रेम सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति अन्य उपायों से सम्भव नहीं थी। दर्शन और सत्संग के लिए साकार रूप धारण करना आवश्यक था। इसी प्रकार हम देखते हैं कि स्वयंभू, मनु और शतरूपा की दीर्घकालिक प्रेम भरी तपस्या के कारण उन्हें वरदान प्राप्त हुआ और उस सम्बन्ध में प्रभु को अवतार लेना पड़ा। इस प्रकार अपने अनन्य भक्तों की अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए श्री भगवान का अवतार होता है। यही मुख्य कारण है परन्तु अवतारकाल में भगवान का कुछ कार्यक्रम भी होता है। अवतार कर्म बन्धन के कारण नहीं होता। इसलिए भगवान के अवतार का कार्यक्रम भगवान की स्वतन्त्र इच्छा से निर्णीत होता है यद्यपि इस कार्यक्रम के पीछे पूर्व घटनाओं का सन्दर्भ तथा प्रतीतिमान् कारण रह सकता है।
एक रहस्य और है—

> जग विस्तारहिं विशद यश, राम जनम कर हेतु।
> सोइ यश गाइ भगत भवतरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं।।

भगवान साधु संरक्षण, दुष्ट दलन, धर्म संस्थापना, भक्त वत्सलता और पतित पावनता से भरी हुई ऐसी अनुपम लीला करते हैं कि वे अपनी स्थाई निर्मल कीर्ति जगत् में स्थापित कर देते हैं। बाद में भक्त जन इसी दिव्य लीला का ध्यान और इसी निर्मल यश का गान करके भवसागर से पार होते रहते हैं। भक्तों का हित करना, उनका मनोरंजन करना तथा कल्याण करना एक ऐसा प्रयोजन है जो अवतार काल में और उसके बाद भी चलता रहता है। इस प्रकार दास हेतु नर तनु धरेउ में श्री भगवान के अवतार और अवतार में की गई समस्त लीला का रहस्य सूत्र रूप में पिरोया हुआ है।

————

तुलसी यह तनु खेत है, मन वच कर्म किसान ।
पाप पुण्य द्वै बीज हैं, बवै सो लवै निदान ॥५॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि यह (मानव) शरीर खेत है, मन वचन और कर्म किसान हैं, पाप-पुण्य दो बीज हैं । जो बोया जायगा अन्त में वैसी ही फसल काटनी होगी । (कर्मानुसार फल होगा ।)

अखिल ज्ञान के सारभूत इस ग्रन्थ रत्न में इस एक ही दोहे में कर्म सिद्धान्त का सूत्र रख दिया गया है ।

भौतिक जगत् में जैसे ऊर्जा के संरक्षण का सिद्धान्त है, ऊर्जा का व्यर्थ लोप मान्य नहीं है, इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में व नैतिक क्षेत्र में भी कर्म की ऊर्ज़ा (शक्ति) है । उसका भी लोप नहीं होता । लोप का आभास तो होता है, परन्तु यथार्थ लोप नहीं होता । भौतिक ऊर्जा 'प्रकाश विद्युद् ध्वनि चुम्बकोष्मा ।' (रोशनी, बिजली, शब्द, चुम्बक शक्ति व गर्मी। का भी लोपाभास होता है । जैसे सूर्य का प्रकाश चारों ओर हर समय फैल रहा है, वह सृष्टि में लुप्त होता प्रतीत होता है । यह आभास सत्य नहीं है । बिजली की धार जमीन में जाने लगे तो वह लुप्त होती जान पड़ती है, परन्तु विज्ञान वेत्ता इसे लोपाभास मानते हैं, वास्तविक लोप नहीं मानते । वैसा ही कर्म शक्ति के विषय में भी है । विज्ञजनों, ऋषियों, सूक्ष्म-दर्शियों की दृष्टि में कर्म का परिपाक होता है, कर्म व्यर्थ नहीं जाता । कर्म का भी लोप आभासित होता है, वह वास्तविक लोप नहीं है । देखने में बहुत सा शुभ कर्म व्यर्थ जाता है, उसका कोई शुभ

फल नहीं होता, उसी तरह बहुत सा अशुभ कर्म भी फलित नहीं होता, ऐसा आभास होता है, परन्तु सचमुच ऐसा नहीं है। निष्फलता का आभास इसलिए होता है कि कर्म का फल हमारी आशा या इच्छानुसार अभीष्ट रूप में फलित नहीं होता। शीघ्र फलित नहीं होता। इससे एकदम निष्फल होना सिद्ध नहीं होता। ऋषि दृष्टि से तो परिपाक होता ही है।

यदृशं कुरुते कर्म, तादृशं फलमाप्नुयात्।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।।
[श्री देवी भागवत ६.९.६७]

जो जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है, किए हुए शुभ अशुभ कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है।

यह बात महत्वपूर्ण है कि सभी धर्म कर्म सिद्धान्त को मानते हैं। आस्तिक धर्म ही नहीं नास्तिक धर्म भी। हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म ईश्वरोपासना के प्रतिपादक हैं। यह सब कर्म सिद्धान्त को मानते हैं, बौद्ध धर्म व जैन धर्म ईश्वरोपासना के प्रतिपादक नहीं हैं, तथापि कर्म सिद्धान्त को मानते हैं। भारतीय दार्शनिकों में नास्तिक भी हुए हैं, जो ईश्वर को नहीं मानते थे, परन्तु चार्वाक् दर्शन को छोड़कर कर्म-सिद्धान्त को सभी दार्शनिक मानते थे, मानते हैं।

पुण्यमय पथ में ही जीवन है, परन्तु असत्पथ मृत्यु की ओर ले जाता है। [बाइबिल। प्रॉवर्ब्स १२ २८]। अल्लाह रोजे हिसाब का मालिक है [कुरान। सूरे फ़ातिहा] यह अल्लाह बहुत जल्दी हिसाब लेने वाला है [कुरान] जो अपनी सम्पत्ति पर भरोसा करता है वह क्षीण होगा, परन्तु पुण्यात्मा व्यक्ति हरी पत्ती की तरह रहेगा। [बाइबिल। प्रॉवर्ब्स

११.२८ धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित:। [धर्म ही हनन करने वाले का हनन करता है, धर्म की रक्षा की जाय तो वह रक्षा करता है। जो सत्पथ पर है, पुण्य ही उसका रक्षक है। [प्रॉवर्ब्स १३.६] दुर्भाग्य पापियों के पीछे पड़ा रहता है, पुण्यात्माओं को सम्पन्नता का इनाम मिलता है। [प्रॉवर्ब्स १३.२१] ईश्वर दुष्टों से घृणा करता है, परन्तु सदाचारी उसकी कृपा पाते हैं। [प्रावर्ब्स १४.९] किए हुए कर्मो का फल भोगे बिना प्राणी का छुटकारी नहीं होता। [श्री महावीर तीर्थंकर] अल्लाह नेकी करने वाले को अच्छा फ़ल देगा। [कुरान] सब लोग भगवान के हुकुम में हैं, उसके बाहर कोई नहीं [श्री गुरुनानक] बौद्ध धर्म के अष्टांग साधन में 'सम्यक् कर्म' है, और निर्वाण के लिए 'धम्मं शरणं' धर्म की शरण लेना आवश्यक है।

साधारण व्यवित को कर्म सिद्धान्त पर सन्देह होता है जब वह देखता है कि पापी को सफलता या समृद्धि मिली हुई है, पुण्यात्मा, गरीबी बीमारी या अन्य विपत्ति से पीड़ित है। परन्तु ऋषियों, सन्तों, पैगम्बरों ज्ञानियों को ऐसा सन्देह नहीं होता, क्योंकि उनमें विवेक से आलोकित दृष्टि है। सन्देह का अवसर इसलिए मिलता है कि हम परिपाक होते हुए कर्मफल को देख नहीं पाते। इसलिए हमें उल्टे सुल्टे परिणाम दिखाई पड़ते हैं। निम्न बातों को हम उचित महत्व नहीं दे पाते—

[१] जो सुखी है उसका सुख पूर्व कर्मों का परिपाक है वर्तमान कर्मो का नहीं। जो दुखी है उसका दुख भी पूर्व कर्मों का परिपाक है, वर्तमान् कर्मों का नहीं।

(२) शीघ्र फल न मिलने से या अभीष्ट फल न मिलने से सन्देह होता है परन्तु कर्म का परिपाक यथा समय होगा, तुरन्त नहीं। हम अपने शुभ कर्मों का वाञ्छित फल तुरन्त चाहते हैं, परन्तु परिपाक विधानानुसार ही होगा, हमारी इच्छानुसार नहीं।

नाऽधर्मश्चरितः लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ।।

अधर्म का आचरण करने से वह तुरन्त फल नहीं देता, जैसे गाय ख़रीद लाइये तो तुरन्त बछड़ा (व दूध) नहीं देती । परन्तु पाप बराबर करते रहने से वह कर्ता की जड़ों को काटता है ।

अधर्मेणैधते पुंसः, ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः कामानवाप्नोति, समूलं तु निकृन्तति ।।

अधर्म से पुरुष की उन्नति होती है, फिर उसे कल्याण दिखाई पड़ता, तब वह अपनी इच्छाएँ पूरी करता है, अन्त में जड़ से कट जाता है । इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि जो फल हम भोग रहे हैं वह पूर्व कर्मों का परिपाक है, वर्तमान कर्मों के आधार पर नहीं हैं । वर्तमान् कर्मों का उससे अधिक सम्बन्ध नहीं है । कुछ सम्बन्ध तो आता है, जैसे बीमारी पर चिकित्सा का असर पड़ता है । प्राप्त विपत्ति के उपशम में या प्राप्त सम्पत्ति के उपयोग, संरक्षण, क्षय आदि में वर्तमान् कर्मों का प्रभाव देखा जाता है । प्राप्त फल कितना सुखदायी या दुखदायी होगा यह अपनी परिस्थिति व मनःस्थिति पर भी निर्भर है ।

कर्म-विपाक को पूरा पूरा समझ जाना सम्भव नहीं है । गहना कर्मणो गतिः (गीता ४.१७) कर्म की गति गहन है । समझ में नहीं आती ।

प्राणिनां देह सम्बन्धे गहना कर्मणो गतिः ।
दुर्ज्ञेया सर्वथा देवैर्मानवानां तु का कथा ।।

देह में फँसे प्राणियों के कर्मों की गति गहन है, देवताओं के लिए भी उसका जानना कठिन है, मनुष्यों की तो बात ही क्या है ?

पापों का फल जल्दी नहीं मिलता इसलिए मनुष्य पाप में प्रवृत्त हो जाता है। (बाइबिल ऐक्लीजियास्टीज़ ८.११)

यदि पापियों को फलते फलते देखकर किसी की यह कल्पना हो कि पाप का स्वाभाविक परिणाम सुख समृद्धि है तो उसे यह सोचना चाहिए कि सभी पापी सम्पन्न और सुखी क्यों नहीं होते ? क्यों नहीं हो सकते ? मानना पड़ेगा कि इसमें अदृष्ट का, प्रारब्ध का, भाग्य का हाथ है। श्री गीता जी के अठारहवें अध्याय में कर्म के पाँच हेतु (कारण) बताये हैं। दैव (भाग्य) इनमें पाचवां है। दुःख कोई नहीं चाहता। वह न मिले इसके सब तरह के उपाय किए जाते हैं, परन्तु वह आ ही जाता है, रुकता नहीं। उसी विधान से सुख भी आता है, वह भी रोके नहीं रुकता। कोई उसे रोकता नहीं इसलिए उसकी अनिवार्यता छिपी रहती है। दुख की तरह सुख भी "सर्वत्र लभ्यते दैवाद्" भागवत ७.६.३) सब जगह भाग्यवश प्राप्त होता है।

कर्म सिद्धान्त को समझने समझाने के लिए खेती का रूपक अति उपयोगी है। खेती में बीज बोते ही फसल नहीं मिलती। उसके पकने की राह देखनी पड़ती है। इसलिए वह रूपक कर्म सिद्धान्त को समझने समझाने के लिए उपयोगी है। श्री गोस्वामीजी ने भी अपने विवेक से कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए खेती के रूपक का आश्रय लिया है। इसलिए इस रूपक का विशद विस्तृत विचार होना चाहिए। परन्तु पहले यह समझ लेना अच्छा होगा कि इस ग्रन्थ में कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन क्यों आवश्यक है। 'ज्ञान कि होइ विराग बिनु' अथवा 'बादि बिरति बिनु ब्रह्म विचारू' के अनुसार वैराग्य ज्ञान का साधन है। साधन चतुष्ट्य– विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व में वैराग्य दूसरे नम्बर पर गिनाया गया है। कर्म सिद्धान्त पर सम्यक् विचार करना वैराग्य के लिए सहायक है, अतः इस ग्रंथ के क्षेत्र के अन्तर्गत है।

मनुष्य जितना अधिक विषयासक्त होता है, उतना ही वह अभीष्ट भोगों की प्राप्ति के लिए उतावला रहता है, धैर्यवान् नहीं रहता। अत: भोग प्राप्ति की आतुरता उसे सत्पथ से अलग कर देती है। वह नीति और मर्यादा का पालन करता हुआ फलोदय की बाट नहीं देख सकता। उसका पुष्ट विश्वास कर्म सिद्धान्त पर नहीं हो सकता।

साधारण अज्ञानीं विषयासक्त पुरुष शास्त्रों के श्रवण के बाद भी कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करके तदनुसार कार्य नहीं करता। मोहवश वह कर्मं सिद्धान्त से बचना चाहता है, उसकी अनिवार्यता को असिद्ध करना चाहता है। महर्षि व्यास का महाभारत में कथन है–

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवा:।
न पापफलमिच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नत:।।

लोग पुण्य की इच्छा नहीं करते, पर पुण्य के फल की इच्छा करते हैं, पाप के फल की इच्छा नहीं करते परन्तु यत्नपूर्वक पाप करते हैं।

ऊर्ध्वं बाहुर्विरोम्येष, न हि कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्म: किं न सेव्यते।।

मैं हाथ उठा-उठाकर रोता चिल्लाता हुँ, कोई मेरी नही सुनता, धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, आप लोग उस धर्मं का पालन क्यों नहीं करते ?

इस प्रकार लोग दोनों ओर से कर्मं सिद्धान्त को काटना चाहते हैं, बिना शुभ कर्म किए हुए ही शुभ फल चाहते हैं और पाप करते हुए भी उसके फल से बचना चाहते हैं। अर्थात् भगवान के विधान को इंसान उलट देना चाहता है। यह भगवान से विद्रोह है, उपासना नहीं है।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन मानै जोई।।
(रा॰ च० मा०)

'वही मेरा सेवक है वही मेरा परम् प्यारा है, जो मेरी आज्ञा माने।' 'पुण्य और न्याय का कार्य करना भगवान को अधिक पसन्द (स्वीकार) है, बलिदान चढ़ाने की अपेक्षा। (बाइबिल प्रॉवर्ब्स २१.३)। दुष्टों की हिंसा ही उन्हें नष्ट कर देगी, क्योंकि वे उचित कर्म करने से इन्कार करते हैं। (प्रॉवर्ब्स २१.७) कोई बुद्धिमानी, सूझबूझ या सलाह भगवान के विरुद्ध काम नहीं देगी। (प्रॉवर्ब्स २१ ३०)

बड़े बड़े प्रतिभाशाली विजेताओं, राजनीतिज्ञों, चालाकों को भी जब दुर्दिन देखना पड़ता है तो उन्हें भी दैव की शक्ति भासित होती है। इसलिए भी भगवान को 'माया कोटि प्रपंच निधाना' कहा गया है। (रा० च॰ मा॰ उत्तर काण्ड)

श्री गोस्वामी जी ने कृषि का रूपक स्वीकार किया है, वह बहुत सार गर्भित है। उससे कर्म सिद्धान्त को समझने में सहायता मिलती है। अन्त:करण की भूमि है, शुभाशुभ कर्मो के संस्कार बीज हैं। उन संस्कारों के अनुरूप जाति आयु और भोग (योग सूत्र २.१३) प्राप्त होते हैं, इसमें समय लगता है। मूल कर्म उसी तरह अदृष्ट हो जाता है, जैसे बोया हुआ बीज। बीज स्वरूप से नष्ट हो जाने पर भी फल का कारण बनता है, वैसे ही कर्म फल-परिपाक का आधार है।

गोस्वामी जी कहते हैं कि यह शरीर खेत है। पापपुण्य बीज हैं। मन वचन और कर्म यह तीनों किसान हैं। बोए बीज के अनुरूप फसल काटनी होती है। अर्थात् कृत कर्मों के विपरीत परिपाक नहीं हो सकता। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। (देवी भाग ६.९.६७) कर्मैव हि महाराज देहारंभस्य कारणम्। (देवी भाग ६.१०.१६) देही नास्ति

वश: कोऽपि दैवाधीन: सदैव हि । जननं मरणं दु:खं सुखं प्राप्नोति चावश: ।। (देवी भाग ६ १०.२९) काल रूप तिन कहँ मैं ताता । शुभ अरु अशुभ कर्म फल दाता (रा० च० मा०) कर्म प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करै सो तस फल चाखा ।। (रा० च० मा०)

मन, वचन व कर्म तीनों को किसान कहा है। पाप व पुण्य को बीज कहा है, कर्म को नहीं, अत: शब्दश: यह प्रश्न नहीं उठता कि कर्म बीज और किसान दोनों कैसे होगा ? दूसरे कर्म का अर्थ यहाँ शारीरिक कर्म है। तीन प्रकार के कर्म हैं—मानसिक, वाचिक, कायिक (मन के, वचन के, भौतिक शरीर के) । तीनों में शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य का भेद है। मनु महाराज ने तीनों प्रकार के पाप समझाए हैं। पर द्रव्येष्वभि ध्यानं, मनसानिष्ठ चिन्तनम् । वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसं । (मनु स्मृति १२.५) । दूसरे की चीज हड़पने की सोचना, मन से दूसरे का बुरा सोचना, असत्य धारणा (नास्तिकता) यह तीन प्रकार के मानसिक पाप हैं। पारुष्य मनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वश: । असम्बद्ध प्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् (स्मृति १२.६) कठोर वचन झूठ, परदोष, कथन व असम्बद्ध भाषण, यह चार प्रकार के वाचिक (वाणी के) पाप हैं ।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानत: ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ।।

(स्मृति १२.७) दूसरे की वस्तु, जो उसने स्वयं दी न हो, ले लेना, विधान के अतिरिक्त हिंसा, परस्त्री गमन यह तीन शरीर के पाप हैं। यह सूची प्रमुख पाप की समझनी चाहिए, सम्पूर्ण की नहीं। इन पापों से उल्टे कर्म, मन वचन और शरीर के प्रमुख पुण्य हैं।

एक ही खेत के तीन किसान होने से झगड़ा लड़ाई का सवाल ही नहीं है, क्योंकि तन, मन, वचन स्वतन्त्र रूप से और एक दूसरे के विपरीत

कार्य नहीं करते, इनमें सहज सामञ्जस्य बना रहता है। पापी तीनों स्तरों पर पाप करता है, पुण्यात्मा तीनों स्तरों पर पुण्य करता है। परन्तु ऐसा नहीं होता कि पापी केवल पाप करे पुण्य बिलकुल न करे, पुण्यात्मा पुण्य ही करे पाप बिलकुल न करे। पाप पुण्य दोनों प्रायः सबके द्वारा होते हैं। सबका फल परिपाक होगा इसलिए प्रायः सभी को दुख और सुख दोनों ही मिलेंगे। मिला जुला प्रारब्ध बनेगा।

अनिष्टं मिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। [गीता १८.१२]
हानि लाभ जीवन मरण जस अपजस विधि हाथ ॥ [रा० च० मा०]

किसी किसी के जीवन में पाप की प्रबलता देखी जाती है, किसी किसी के जीवन में पुण्य की। फल परिपाक में सब कर्मों का परिपाक होता है, केवल एक ही प्रकार का नहीं। पाप और पुण्य की परिपाक काल में टकराहट नहीं होती परन्तु ऐसा प्रभाव देखा जाता है कि पूर्वकृत पापों के फल पाने पर अत्यन्त पुण्यात्मा व्यक्ति अधिक धैर्य से उसका सामना कर सके। सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं ॥ [रा० च० मा०] इसी प्रकार दानादि पुण्य कर्मों से प्राप्त विपत्ति का शमन भी होता है।

तीव्र भावना से किया हुआ कार्य, भला हो या बुरा, शीघ्र फलित हो सकता है। 'तीव्र संवेगानामासन्नः' [योग सूत्र १/२१] इसलिए तीव्र मनोभावना से किए हुए अनुष्ठान, प्रार्थना, जप, पूजा, दान आदि शीघ्र फलदायी होते देखे गए हैं। इसी प्रकार पूर्वकृत् पुण्यों से प्राप्त सम्पन्नता तीव्र भावना से किए हुए पापों के द्वारा क्षीण होती देखी गई है।

जैसे कर्म त्रिविधि हैं—मानसिक, वाचिक, शारीरिक, उसी प्रकार वे त्रिविधि हैं—इष्ट [पुण्य], अनिष्ट [पाप] और मिश्रित मिलेजुले,

जिनमें पुण्य व पाप दोनों हैं। इसीलिए त्रिविधं कर्मण: फलम् [गीता १८.१२] कहा है।

कर्मों का एक तीसरा विभाजन भी है—क्रियमाण, संचित, प्रारब्ध।

कर्मणस्तु त्रिधा प्रोक्ता गतिस्तत्व विदां वरै:।
संचितं वर्तमानं च प्रारब्धमिति भेदत:।।

(देवी भाग ६ १०.८)

तत्व वेत्ताओं ने संचित वर्तमान् व प्रारब्ध के भेद से कर्मों की तीन प्रकार की गति बताई है।

जो कर्म किए जा रहे हैं, वे क्रियमाण व वतमान कर्म कहलाते हैं। इनका यथा विधि यथा समय परिपाक होगा, फलोदय् होगा, तुरन्त नहीं। परन्तु कर्मफल परिपाक में हमेशा एक सा समय नहीं लगता। तीव्र व्याधि ग्रस्त मनुष्य की बदपरहेजी जल्दी असर दिखा सकती है, विद्यार्थी का अध्ययन वर्षान्त (सत्रान्त) में परीक्षाफल को प्रभावित करता है। गुप्तदान अधिक पुण्यकारी है, परन्तु उससे शीघ्र प्राप्त होने वाला यश नहीं मिलता। आसन्न सुख त्याग देने से भावी श्रेष्ठतर सुख की भूमिका बनती है। पुण्य से प्राप्त सुख का त्याग भी एक पुण्य है जिससे श्रेष्ठतर सुख का परिपाक होता है।

किसी ने एक रात डकैती की, उसके लिए उसे कई वर्ष के कारावास की सजा मिल सकती है। इस तरह कानून से ही एक रात के कर्म का फल कई बरस भोगना पड़ सकता है। इसी प्रकार एक दिन की बहादुरी के लिए किसी सैनिक की स्थाई तरक्की हो सकती है। एक ही महान् पुण्य से जीवन की धारा बदल सकती है, भविष्य की काया पलट सकती

है। इन उदाहरणों से विदित होता है कि जितने समय में कर्म किए जाते हैं, उससे कहीं अधिक समय उनके फल भोगने में लगता है। एक जन्म के किए हुए कर्मों का फलभोग उसी जन्म में समाप्त नहीं होता। इसलिए एक जन्म के कर्मों का लेखा जोखा उसी जन्म में पूरा नहीं होता। इसीलिए पुनर्जन्मवाद कर्म सिद्धान्त का अभिन्न साथी है। जन्म से ही जो सुख दुःख प्राप्त हैं वे पूर्व जन्म के कर्मों के फल मान्य हैं। इसी जन्म के कर्म जिनका फल भोगा नहीं गया है, आगे फल देंगे। इस प्रकार पुनर्जन्म आवश्यक है। यदि पुनर्जन्म और परलोक को न मानें तो मरने के ठीक पहले किए हुए महान् पुण्य कर्म या पापकर्म किस प्रकार फलित होंगे ?

किए हुए कर्म कुछ तो शीघ्र फलित होकर समाप्त हो जाते हैं शेष एकत्रित रहते हैं भविष्य में फल देने के लिए। एकत्रित यानी संचित। यह सचित कहलाते हैं। अनेक जन्मों के संचित कर्मों का एक विशाल भाण्डार रहता है। 'अनेक जन्म संजातं प्राक्तनं संचितं स्मृतं (देवी भाग ६.१०.९)

शुभं वाप्यशुभं भूप संचितम् बहुकालिकं। अवश्यमेव भोक्तव्यं सुकृतं दुष्कृतं तथा। (देवी भाग० ६ १०.१०) जन्म जन्मनि जीवानां सचितानां च कर्मणां। निःशेषस्तु क्षयो नाभूत् कल्प कोटिशतैरपि ।। (देवी भाग० ६.१०.११) संचित पुण्य पाप कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा और यह भोग सौ करोड़ कल्पों में भी समाप्त नहीं हो सकता। इतना समझ लेने पर कर्म बन्धन की दृढ़ता और भयंकरता स्पष्ट हो जाती है।

संचित कर्म एक प्रकार की स्थिर जमा धनराशि है। वह तुरन्त निकाल कर खर्च नहीं की जा सकती, परन्तु जितने कर्म इस जन्म में फल देने के लिए निर्दिष्ट हैं और जिनका फल भोग प्रारम्भ हो चुका है, वे 'प्रारब्ध' कहलाते हैं। प्रारब्ध चालू खाते की तरह है जिसमें से धन निकल

कर खर्च होता रहेगा। प्रारब्ध का भोग इस जन्म में भोगना है। फिर संचित में से अगले जन्म का प्रारब्ध बनेगा। संचित कर्म में से कुछ लेकर कालवश इस जन्म का प्रारब्ध देहारम्भ के समय बनता हैं। (देवी भाग ६.१०.१३)। इस प्रारब्ध का क्षय भोग से होता है (भोगात् तस्य क्षयः स्मृतः)। प्राणिभिः खलु भोक्तव्यं प्रारब्धं नात्र संशयः।। (देवी भाग ६.१०.१४) प्राणियों को प्रारब्ध भोगना है इसमें सन्देह नहीं। कर्म ही देहारम्भ का कारण है।

कर्म तत्व के विशेषज्ञों ने माना है कि पाप प्रायश्चित से भी शान्त हो जाता है फिर उससे फलोदय नहीं होता, प्रारब्ध नहीं बनता। अन्यथा प्रारब्ध बनता है और उसका भोग अनिवार्य है—

कह मुनीस हिमवन्त सुनु जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटन हार।।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

इसी प्रकार, निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।
(रा०च०मा० अयोध्या०)

इसी प्रकार यह भी शास्त्र सम्मत है कि भगवान के नाम से सब पापों का क्षय हो जाता है अथवा भगवद् यश वर्णन और श्रवण से पाप नष्ट हो जाते हैं। अध कि रहहिं हरि चरित बखाने अथवा भाविहु मेटि सकहिं त्रिपुरारी। इस प्रकार प्रारब्ध के भी बदलने की सम्भावना पाई जाती है।

मन्त्र महामनि विषय ब्यालके। मेटत कठिन कुअंक भालके।।
[बाल का०]

इसी प्रकार गीतोक्त वचन है कि ज्ञान की अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है [गीता ४/१९, ४/३७] । अध्यात्मिक शक्तियों का कर्म विपाक और प्रारब्ध भोग पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका विवेचन आगे यथा स्थान करना ठीक होगा । यहाँ यह कहना पर्याप्त है कि साधारण क्रम यह है कि पापी जन भजन निष्ठ नहीं होता, भगवत् शरणागति में नहीं जाता न ज्ञान प्राप्त कर सकता है—जौ पँ दुष्ट हृदय सो होई । मोरे सम्मुख आव कि सोई ।।

श्री गोस्वामी जी ने दोहे के अन्त में अत्यन्त सावधानी और विवेक का परिचय देते हुए लिखा है कि "बवै सो लवै निदान" अर्थात् अन्त में कर्मानुसार ही फल प्राप्त होगा । बीच में ऐसा आभास आ सकता है कि किया हुआ पाप समाप्त हो गया है, उसका अशुभ फल न हुआ, न होगा, न हो सकता है, परन्तु ऐसा आभास होने पर भी रहस्यमय ढँग से कर्म का परिपाक होता ही है और फल मिलता है । इसका पूर्व दर्शन ठीक ठीक प्राप्त हो जाय यह ऋषियों, मुनियों और योगियों के लिए भी दुर्लभ है । जो कुछ नियम और न्याय से होना चाहिए उसका उल्टा सुल्टा दिखा दे यही माया की तारीफ़ है--सेऽयं भगवती माया, यन्नयेन विरुद्धयते [श्रीमद् भागवत ३.७.९] । परन्तु माया के इस कर्तब से वस्तुत: भगवान का नियम या विधान खण्डित नही होता वह प्रवर्तित रहता है और समय आने पर उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । इसीलिए कहा गया है कि अन्त में जैसा बोया है वैसा ही काटना पड़ेगा ।

खेती में यह बात सर्व विदित और सुप्रसिद्ध है कि बीज के अनुसार ही पेड़ निकलेगा और फल होगा उससे भिन्न नहीं । इसीलिए कृषि के रूपक से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस प्रकार के कर्म होंगे उनका वैसा ही फल परिपाक होगा, नितान्त भिन्न प्रकार का फल परिपाक सम्भव नहीं है ।

श्री गोस्वामीजी ने कर्म सिद्धान्तका समस्त सूत्र इस दोहे में रख दिया है। इसके सहारे कर्म और उसके फल परिपाक तथा कर्मबन्धन आदि पर शास्त्र सम्मत विचार करने से संसार की आसक्ति कम होती है और वैराग्य की भूमिका बनती है। मांया के बन्धन का स्वरूप कर्म सिद्धान्त की सहायता से समझा जा सकता है और तब जीव को क्षुद्र भोगों की प्राप्ति की इतनी चिन्ता न होगी ज़ितनी कि कर्म बन्धन के काटने कीं। श्री भर्तृहरि जी ने वैराग्य शतक में कहा है—कदाशम्भो भविष्ययामि कर्म निर्मूलनक्षम:। (हे शंकर ज़ी! मैं कर्म बन्धन को निर्मूल करने में कब समर्थ होऊँगा?)। इस प्रकार यह कर्म सिद्धान्त का सूत्र भूमिका प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर आगे वैराग्य का समुचित निरूपण हो सकेगा।

प्रकृति के तीन गुणों की प्रेरणा से भी कर्म तीन प्रकार के हो जाते हैं—सतौगुणी, रजोगुणी, और तमोगुणी। फिर इन कर्मों के फल परिपाक में भी उसी प्रकार का अन्तर आ जाता है। तीनों गुणों के बन्धन से छूट कर गुणातीत पद में स्थित हो जाने से ही कर्म बन्धन कटेगा और मोक्ष की प्राप्ति होगी। अगले दोहे में श्री गोस्वामी जी ने कर्म बन्धन के कारण प्राप्त जीव का आवागमन और त्रयताप अनुभव प्रदर्शित किया है और मुक्त होने का उपाय क्या है इसका संकेत भी किया है।

———

तुलसी यह तनु तवा है, तपत सदा त्रयताप।
शान्त होइ जब शान्तिपद, पावै राम प्रताप ।।६।।

श्रीगोस्वामी जी कहते हैं कि यह देह तवा है, यह सदैव ही तीन प्रकार के तापों से तप्त रहता है। यह तभी शान्त हो सकता है जब (भगवत्कृपा व) भगवत् प्रताप से शान्ति (मोक्ष) पद मिले।

संसार के व्यवहार में ऐसी जटिलता रहती है कि साधारण दृष्टि वाला व्यक्ति कार्य-कारण श्रंखला का, कर्म विपाक का ठीक ठीक विश्लेषण नहीं कर सकता। यह स्पष्ट लक्षित नहीं होता कि किस कर्म का क्या फल मिला या मिलेगा। ऐसी स्थिति में कर्म की गति गहन होते हुए भी कर्म सिद्धान्त पर पूरा विश्वास रखना या तो सूक्ष्मदर्शी सन्तों व ज्ञानियों का काम है या फिर उन श्रद्धालुओं का जो कि उपर्युक्त सूक्ष्मदर्शियों के वचनों पर पूरी श्रद्धा रखते हैं।

जो कर्म सिद्धान्त पर पूर्ण निष्ठा रखते हैं, वे भगवान के विधान को मानते हैं और भावी मंगल के लिए शुभ कर्मों पर ही भरोसा रखते हैं, शस्त्र, दम्भ, कपट आदि पर नहीं। कर्म सिद्धान्त पर विश्वास होना अज्ञानी जीव का पहला विकास सोपान है, विवेक का प्रमाण है। शास्त्र का उपदेश है – 'अपने लिए पुण्य बोइये, और स्थिर प्रेम का फल प्राप्त कीजिये।' [बाइबिल होसीया १०.१२] सन्त जन भगवान के नियम को मानते हैं और भारी दुःख से भी विचलित नहीं होते, नीति पथ का त्याग नहीं करते। कोटि विघ्न ते सन्त कर मन जिमि नीति न त्याग [रा० च०

मा०] । शील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम । तुलसी रहिये एहि रहनि सन्त जनन को काम ।। [वै० सं० १७] (दोहावली) । जो सन्त सभी दुख सुखों को 'निज कृत करम भोग सब ताता' ऐसा मानते हैं, उनका दूसरों से राग द्वेष नहीं होता, न भगवान से ही शिकायत होती है, इस भूमिका में स्थित हो जाना समता व शान्ति का कारण है ।

इसके बाद विवेक का अगला सोपान आता है । उसमें जगत् की रमणीयता अस्त होती है, वह 'दुःखालयमशाश्वतं' [गीता ८.१५] दुःखमय, क्षणभंगुर प्रतीत होता है । जब तक ससार में सुख और दुख दोनों दिखाई देते हैं, तब तक यह प्रयास चलता है कि दुःख न मिले, सुख मिले और स्थिर रहे । इस भूमिका वाले को यह अनुभव नहीं आ सकता कि सभी कुछ व्यर्थ है [बाइबिल एक्लीजियास्टीज २.१७], दुःखमेव सर्वम् [योग सूत्र २.१५] श्री गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में कहा है-- 'अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी' । अतः वह विचार समझना चाहिए जिससे संसार की रमणीयता बाधित हो जाती हे भयंकरता प्रगट होती है ।

एक बार एक सन्त से एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया—गीता में तो संसार को 'दुखालय' [८.१५] कहा है, सन्त भी उसे दुःख रूप बताते हैं, परन्तु मुझे तो इस संसार में सुख दुख दोनों दिखाई पड़ते हैं । सन्त जल्दी में थे । विशद विवेचन की फुरसत नहीं थी । वे बोले । हो सकता है, आपका ऐसा ही अनुभव हो, परन्तु श्री गोस्वामीजी ने तो कुछ और ही लिख रक्खा है—

श्रुति, गुरु, साधु, स्मृति, सम्मत, यह दृश्य सदा दुःखकारी ।
तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति, विपति सकै को टारी ।।
[वि० ५०]

तुलसी यह तनु तवा है, तपत सदा त्रयताप ।
शान्त होइ जब शान्तिपद, पावै राम प्रताप ।।६।।

श्रीगोस्वामी जी कहते हैं कि यह देह तवा है, यह सदैव ही तीन प्रकार के तापों से तप्त रहता है। यह तभी शान्त हो सकता है जब (भगवत्कृपा व) भगवत् प्रताप से शान्ति (मोक्ष) पद मिले।

संसार के व्यवहार में ऐसी जटिलता रहती है कि साधारण दृष्टि वाला व्यक्ति कार्य-कारण श्रंखला का, कर्म विपाक का ठीक ठीक विश्लेषण नहीं कर सकता। यह स्पष्ट लक्षित नहीं होता कि किस कर्म का क्या फल मिला या मिलेगा। ऐसी स्थिति में कर्म की गति गहन होते हुए भी कर्म सिद्धान्त पर पूरा विश्वास रखना या तो सूक्ष्मदर्शी सन्तों व ज्ञानियों का काम है या फिर उन श्रद्धालुओं का जो कि उपर्युक्त सूक्ष्मदर्शियों के वचनों पर पूरी श्रद्धा रखते हैं।

जो कर्म सिद्धान्त पर पूर्ण निष्ठा रखते हैं, वे भगवान के विधान को मानते हैं और भावी मंगल के लिए शुभ कर्मों पर ही भरोसा रखते हैं, शस्त्र, दम्भ. कपट आदि पर नहीं। कर्म सिद्धान्त पर विश्वास होना अज्ञानी जीव का पहला विकास सोपान है, विवेक का प्रमाण है। शास्त्र का उपदेश है – 'अपने लिए पुण्य बोइये, और स्थिर प्रेम का फल प्राप्त कीजिये।' [बाइबिल होसीया १०.१२] सन्त जन भगवान के नियम को मानते हैं और भारी दुःख से भी विचलित नहीं होते, नीति पथ का त्याग नहीं करते। कोटि विघ्न ते सन्त कर मन जिमि नीति न त्याग [रा० च०

मा०] । शील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम । तुलसी रहिये एहि रहनि सन्त जनन को काम ।। [वै० सं० १७] (दोहावली) । जो सन्त सभी दुख सुखों को 'निज कृत करम भोग सब ताता' ऐसा मानते हैं, उनका दूसरों से राग द्वेष नहीं होता, न भगवान से ही शिकायत होती है, इस भूमिका में स्थित हो जाना समता व शान्ति का कारण है ।

इसके बाद विवेक का अगला सोपान आता है । उसमें जगत् की रमणीयता अस्त होती है, वह 'दुःखालयमशाश्वतं' [गीता ८.१५] दुःखमय, क्षणभंगुर प्रतीत होता है । जब तक संसार में सुख और दुख दोनों दिखाई देते हैं, तब तक यह प्रयास चलता है कि दुःख न मिले, सुख मिले और स्थिर रहे । इस भूमिका वाले को यह अनुभव नहीं आ सकता कि सभी कुछ व्यर्थ है [बाइबिल एक्लीजियास्टीज २.१७], दुःखमेव सर्वंमू [योग सूत्र २.१५] श्री गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में कहा है-- 'अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी' । अतः वह विचार समझना चाहिए जिससे संसार की रमणीयता बाधित हो जाती हे भयंकरता प्रगट होती है ।

एक बार एक सन्त से एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया—गीता में तो संसार को 'दुखालय' [८.१५] कहा है, सन्त भी उसे दुःख रूप बताते हैं, परन्तु मुझे तो इस संसार में सुख दुख दोनों दिखाई पड़ते हैं । सन्त जल्दी में थे । विशद विवेचन की फुरसत नहीं थी । वे बोले । हो सकता है, आपका ऐसा ही अनुभव हो, परन्तु श्री गोस्वामीजी ने तो कुछ और ही लिख रक्खा है—

श्रुति, गुरु, साधु, स्मृति, सम्मत, यह दृश्य सदा दुःखकारी ।
तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति, विपति सकै को टारी ।।
[वि० प०]

'सबकी सम्मति (सर्वं सम्मति) से तो यह दृश्यमान् संसार सदा दुःखकारी है, आप इसे कभी कभी सुखकारी मानते हैं। यह कैसे? अतः समझना चाहिए कि किस दृष्टि से संसार दुखरूप भासता है? और क्या वह दृष्टि ठीक है?

महर्षि पतंजलि का सूत्र है—

परिणाम, ताप, संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। [योग सूत्र २.१५]

विवेकियों के लिए सब संसार दुःखरूप है, क्योंकि उसमें परिणाम, ताप और संस्कार दुःख है और गुणों व वृत्तियों का विरोध है। ताप से यहां मतलब पश्चात्ताप (पछतावा) से है। संसार का कोई भी ऐसा [विषय भोग] सुख नहीं जो उपर्युक्त कारणों से दुःख से दूषित न हो। ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःख योनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय, न तेषु रमते बुधः [गीता ५.२२] इन्द्रियों के भोग दुःख गर्भित हैं, आदि अन्त वाले [क्षणिक] हैं, ज्ञानी उनमें नहीं रमते।

परिणाम दुःख—सभी इन्द्रिय सुख भोग काल में सुखद हैं, परिणाम में विषवत् सिद्ध होते हैं [गीता १८.३८]। इसलिए परिणाम को न जानने या उसकी उपेक्षा करने पर ही विषयों की रमणीयता कायम रह सकती है।

एक व्यक्ति कोमल और उज्जवल शैय्या पर लेटा है, उससे किसी ने कहा कि आपकी चारपाई पर साँप चढ़ रहा है। परिणाम की आशंका से शय्या का सुख तुरन्त समाप्त हो गया। यदि यह जानकारी होती कि बिस्तर में एक ओर से आग लग गई है, तो भी शय्या का सुख बाधित हो

जाता। यदि यह आशंका हो जाती कि इस शय्या पर ही अर्ध रात्रि को उसकी हत्या कर दी जायगी तो भी शय्या का सुख व निद्रा का सुख बाधित होता।

विद्यार्थी या वयस्क व्यक्ति जो कर्तव्य को छोड़कर इन्द्रिय सुख उठाने इधर उधर घूमते रहते हैं, वे परिणाम से अपरिचित अथवा उसके उपेक्षक हैं, विवेकीजन, जो परिणाम सचेत हैं, इन सुखों से आकर्षित नहीं होते। अभ्यस्त शराबी परिणामों की लापरवाही करके ही पीता है, गम्भीर व्याधि से ग्रस्त होने पर, परिणाम की उपेक्षा सम्भव न रह जाने पर उसे काफी परहेज करना ही पड़ता है, फिर भी जान बचे या न बचे। अतः विवेकी लोग व्यसन में प्रवृत्त ही नहीं होना चाहते। सिगरेट के व्यसन के भयंकर परिणाम कभी कभी बीस पच्चीस वर्ष बाद उदय होते हैं, परन्तु परिणाम सचेत व्यक्ति व्यसन में पड़ना ही नहीं चाहते। मरीजों को जो परहेज डाक्टर बताते हैं, वह दुष्परिणाम से बचाने के लिए। मरीज जो विवेकी होते हैं, उन परिणामों से बचने के लिए खुशी से परहेज करते हैं, बदपरहेजी का आकर्षण उन्हें नहीं होता। इस तरह संसार के सुख, परिणाम में दुःखरूप होने से विवेकियों की दृष्टि में उसी तरह त्याज्य है, जैसे ठग के दिए हुए लड्डू या विषाक्त भोजन।

अब परिताप (पश्चात्ताप) दुःख लें। कितने ही विद्यार्थी पढ़ाई की उपेक्षा करके तरह तरह के मनोविनोद में लगे रहते हैं, जब फेल होते हैं, तब दुःखी होते हैं, पछताते हैं। ऐसे मनोविनोद का आकर्षण विवेकी को नहीं होता। बड़ी और सफल डकैती करके डाकूदल एक लाख रुपया भी पा सकता है, परन्तु इस रुपए का समुचित लाभ दल वाले व उनके घर वाले नहीं उठा पाते और दस्यु जीवन खतरे से भरा और चिन्ताओं से घिरा रहता है। इसलिए अनेक बड़े बड़े और सफल डाकू उस जीवन से निकलना चाहते हैं, पर निकल नहीं पाते, पछताते रहते हैं और विवशता पूर्वक

कुमार्ग में अग्रसर रहते हैं। विवेकियों को ऐसे जीवन का आकर्षण नहीं होता। उसमें सुख का आभास नहीं होता। कोई कोई अनुचित उपायों से उपाधि प्राप्त करके भी अयोग्य सिद्ध होते हैं, असफल जीवन बिताते हैं, अपमानित होते हैं और पछताते हैं। कभी कभी ऐसा हुआ है कि किसी कुशल वकील ने किसी महान् अपराधी को दण्ड से बचा लिया, लोगों ने उसे इस सफलता पर बधाई दी, परन्तु घर आकर वह रोया, पछताया। शास्त्रों और सन्तों का उपदेश हैं कि जिसमें तुम्हें बाद में पछताना पड़े ऐसा काम मत करो। विवेकी व्यक्ति को जो इन्द्रिय सुख सुलभ हो उसका भी सुखाभास बाधित होता है, जब वह पछतावे की संभावना पर विचार करता है। इस कारण भी इन्द्रिय सुख विवेकी के लिए दुखरूप हैं।

तीसरा संस्कार दु:ख है। जिस किसी विषय सुख को बार बार भोगा जाता है, उसकी आदत हो जाती है। सुखानुभूति घटती जाती है। परन्तु निर्भरता बढ़ती जाती है। फिर उस सुख की उपलब्धि आवश्यक बन जाती है उसमें सुखानुभूति अभ्यास से नष्टप्राय: हो जाती है पर अनुपलब्धि दु:खकारी होती है, जबकि वह उस संस्कार से रहित व्यक्ति के लिए दु:खकारी नहीं होती। मदिरा, मांस या विलास के व्यसनी व्यक्ति को अभीष्ट भोग के अभाव में बड़ा दु:ख होता है, जो अनभ्यस्त व्यक्ति को बिलकुल नहीं होता। सड़क के किनारे बैठकर भीख माँगने वाले निर्धन व्यक्ति को एक दिन अच्छे कपड़े पहनाकर, अच्छा भोजन कराएँ और मोटर कार में बैठाकर खूब सैर करा दें, तो वह उसका चिरस्मरणीय सुख का दिन होगा, परन्तु जो करोड़पति इन चीजों का आदी है, उसे ऐसी कोई सुखानुभूति नहीं होती। कमी रह जाय तो दुख होता है। यह सब संस्कार का प्रभाव है। सुखी जीवन का आदी होने पर सुखों की अनुभूति मन्द हो जाती है, अभाव व दु:खों की अनुभूति तीव्र हो जाती है। तपस्वी जीवन की आदत होने पर दु:खों की अनुभूति क्षीण होती है, सुखों की

अनुभूति तीव्र होती है । सांसारिक सुखों के साथ संस्कार जन्य दुःख जुड़ा है । इसलिए भी वे दुःखरूप हैं या दुःख के कारण हैं ।

गुण वृत्ति विरोध—प्रकृति के तीन गुण हैं, सतोगुण, रजोगुण, तपोगुण । सांसारिक जीवन 'गुण प्रवाह' हैं । सुख भी गुणभेद से तीन प्रकार के हैं । (गीता १८.३६ ३९) मनुष्य जिस गुण के प्रभाव में रहता है, उसकी सुखी जीवन की कल्पना भी उसी के अनुरूप होती है । सतोगुणी का सुखी जीवन, रजोगुणी की दृष्टि में सुखी जीवन है ही नहीं, तमोगुणी का आलसी जीवन भी रजोगुणी की दृष्टि से सुखी नहीं । तप और स्वाध्याय का जीवन मूर्ख की दृष्टि में दुःखी जीवन है । योगी की दृष्टि में करोड़पति का जीवन दुःख और चिन्ताओं से भरा है । आलसी की दृष्टि से परिश्रम निष्ठ सम्पन्न व्यक्ति का जीवन दयनीय है । इस प्रकार गुण विरोध से वही जीवन किसी के लिए सुखी है, किसी के लिए दुखी है । यदि प्रमुख प्रभावशाली गुण बदल जाय तो सुख की कल्पना भी बदल जायेगी । तब अपने ही पूर्व जीवन के सुख दुख दूसरे ही रूप में दिखाई देने लगेंगे । जो एक के लिए सुख है वहीं दूसरे के लिए दुख है । अपनी वृत्ति बदल जाय तो जिसे हम हितकर मानते थे वही व्यक्ति भयंकर प्रतीत हो सकता है, जिस अतीत पर हमें गौरव था, उस पर ग्लानि हो सकती है । सुखी प्रतीत होने वाला जीवन दुखी प्रतीत हो सकता है, जैसे सिद्धार्थ गौतम (बुद्ध) या भर्तृहरि को प्रतीत हुआ । गुण और वृत्ति के विरोध से भी सुख असिद्ध हो सकता है ।

अतः विवेकी विचारशील व्यक्ति के लिए (सच्चा) सुख कहीं नहीं है, 'दुखमेव सर्वं' है । इसी से योगी या उच्च साधक जीवन के व्यावहारिक सुख से भी घबराता है । दर्देदिल इतने दिनों से है कि आदत हो गई । अब ज़रा तस्कीन होता है तो घबराता हूँ मैं ।।

साधारण व्यक्ति की दृष्टि में त्रयताप सदा तप्त नहीं करते, परन्तु अविचारी के लिए रमणीक होने पर भी संसार अति भयंकर है। (विनय पत्रिका)। इसलिए सुखी प्रतीत होने वाला व्यक्ति भी दयनीय और दुःखी सिद्ध हो सकता है। अपने को बादशाह समझने वाला पागल अपने को सुखी होने की कल्पना कर सकता है, परन्तु विचारवान् की दृष्टि में वह दयनीय और दुःखी है। सरसाम से पीड़ित व्यक्ति अपनी दृष्टि में सुखी हो तो भी दूसरों की दृष्टि में अत्यन्त दुःखी दयनीय है।

कर्मानुसार फल प्राप्त होता है अतः शुभ कर्म ही करना चाहिए, यह पहली भूमिका है। सुख भी दुखरूप ही है यह दूसरी भूमिका है। कोई जिसे पाने को व्याकुल है, दूसरा उससे छूटने के लिए आतुर है। यही माया का तमाशा है। विनय पत्रिका में कहा है—

जिन रघुबीर चरन अनुरागे। तिन सब भोग रोग सब त्यागे॥
काम भुजंग डसत जब जाही। विषय निम्ब कटु लगति न ताहीं॥

विषय भोग नीम के समान कटु हैं, मधुर नहीं।

हमारे सांसारिक जीवन में जो कभी कभी आराम मालूम होता है, वह शास्त्रानुसार ऐसा है—

यथा हि परुषों भारं, शिरसा गुरुमुद्वहन्।
तं स्कन्धेन स आधत्ते, तथा सर्वा प्रतिक्रिया॥

(श्रीमद्भागवत)

जैसे कोई आदमी सिर पर भारी बोझ रखे हुए जा रहा है तो सिर की तकलीफ घटाने के लिए उस बोझ को कन्धे पर रख लेता है, इसी प्रकार का व्यवहार में सभी दुखों का निराकरण होता है। अर्थात् दुःख मिटने का आभास मात्र होता है, वास्तव में दुःख का निर्मूलन कभी नहीं होता।

प्रह्लाद् जी ने कहा हैं–'दुःखौषधं तदपि दुःखम्' जो दुख की दवा है, वह भी दुख ही है ।

श्री गोस्वामी जी ने तवे का रूपक लिया, वह बहुत ही सार गर्भित और उपदेश प्रद है । तवा तो इसीलिए बनाया जाता है कि उसे आग पर चढ़ाया जाय और रोटी या पराठा बनाया जाय, या कोई और चीज भूनी जाय । यानी आग पर तप्त होना, यही उसका भाग्य है । उससे जब भी काम लिया जायगा वह तपाया जायगा । इसी प्रकार कर्मबन्धन में पड़ा हुआ जीव भी तीनों तापों से तप्त होता रहता है । तवा उसी समय तप्त होता है जब उसका परिपाक में उपयोग किया जाता है । इसी प्रकार पापों के फल परिपाक से प्रत्यक्ष ही दारुण कष्ट पाता हुआ जीव चिन्ता, शोक, वियोग, क्रोध आदि विकारों की अग्नि मे तपता है । जिस समय प्रबल पापों का फल नहीं भोग रहा होता है, उस समय जीवन आग पर से उतरे हुए तबे की तरह माना जा सकता है । तवा नित्य, चौबीसों घण्टे आग पर नहीं तपता, परन्तु यह बद्ध जीव सदा त्रयताप से तपा करता है, विबेकी की दृष्टि में ।

तवा कभी चूल्हे की आग पर तपता है, कभी अँगेठी की आग पर, कभी भट्ठी की आग पर । कभी कोयले की आग होती है, कभी लकड़ी की, कभी गैस कीं । इसी प्रकार जीब भी त्रयताप से तपता है ।

दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज्य नहिं काहुहि व्यापा ।
(रा०च०मा० उत्तर काण्ड)

ताप तीन प्रकार के हैं—दैहिक, दैविक, भौतिक ।

दैहिक तापों में देह सम्बन्धी दुःख गिने गए हैं और उनमें दुःखद मानसिक विकार, चिन्ता, शोक, क्रोध आदि भी सम्मिलित कर लिए

गए हैं। दर्द, बीमारी आदि देह के दुःख हैं। यह सब दैहिक माने गये हैं। सर्दी, गर्मी, लू, ठण्डी हवा, बिजली, ओले, वर्षा, बहिया आदि से प्राप्त दुःख आधिदैविक है। भूत का यहाँ अर्थ जीव है। अन्य जीवों से मनुष्यों पशुओं, पक्षियों, कीटों, वृक्षों से प्राप्त दुख आधिभौतिक है। विचार किया जाय तो यह जीव तीनों प्रकार के तापों से पूर्णतः मुक्त कभी नहीं होता। व्यावहारिक जीवन में कोई न कोई ताप हर समय सताए रहता है। इसीलिए 'तपत सदा त्रयताप' कहा है। यह अर्थ नहीं है कि तीनों प्रकार के ताप हर समय रहते हैं, यही अर्थ है कि तीनों तापों से नितान्त रहित दशा कभी नहीं होती। ताप रहित पूर्ण शान्त दशा कभी नहीं मिलती। जो भी व्यक्ति इस परिस्थिति को भली भाँति समझ लेगा कि कर्मानुसार फल 'अवश्यमेव भोक्तव्य' है, कर्मफल भोग कर चुकाया नहीं जा सकता, भोगकाल में नए कर्म बनेंगे, कर्म का बन्धन फल भोगने से कटने या समाप्त होने वाला नहीं है, करोड़ों वर्षों में भी हिसाब चुकता न हो सकेगा, तो फिर वह ऊवेगा। फिर यदि यह भी ज्ञात हो जाय कि यहाँ का सुख भी दुःखरूप है या दुःख का बीज है, तो फिर कर्म बन्धन और भी खलेगा, और उसकी अनिवार्यता असहनीय होगी।

सांसारिक विषय विष से भी भयंकर ठहरते हैं, विवेकी की दृष्टि में। विष तो खाने पर एक ही बार मृत्यु कारक है परन्तु विषय जन्म जन्मान्तर तक पीछा नहीं छोड़ते। बार बार मृत्यु के कारण बनते हैं। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति (उपनिषद्) माया का चक्र जिसमें 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं (बार बार जन्म, मरण व गर्भाभास) होता है, विवेकी के लिए अत्यन्त भयावह है। प्रसिद्ध बौद्ध लेखक अश्वघोष ने बुद्ध-चरित लिखा है। उसमें बुद्ध का वचन है—

नाशीविषेभ्यो हि तथा विभेमि,
न चाशनिभ्यो गगनच्युतेभ्यः।

न प.वकेभ्योऽनिल संहितेभ्यो,
यथा भय मे विषयेभ्य एव ।।

मैं सर्पों से इतना नहीं डरता, न आसमान से गिरती हुई बिजलियों से, न आँधी से बढ़ी हुई आग की लपटों से, जितना मैं विवयों से डरता हूँ। श्री अष्टावक्रगीता में उपदेश है—'विषयान् विषवत्त्यज। प्रह्लाद जी ने नृसिंह भगवान् की जो स्तुति की है उसमें कहा है, 'हे अजेय भगवान् मैं आपके भयानक मुख, दाढ़ों व दांतों से नहीं डरता हूँ, परन्तु इससंसार चक्रसे डरता हुं। [श्रीमद्भागवत् ७ ९,१५.१६] इस सबसे स्पष्ट हो जाता है कि ससार का असली स्वरूप अत्यन्त भयकर है। अत: भव बन्धन से छूटने का साधन करने में देर नहीं करनी चाहिए।

तीन गुणों [सत्, रज व तम] का प्रवाह रूप यह संसार है। इन गुणों की आसक्ति के रहते हुए आवागमन छूट नहीं सकता। गुणातीत पद पाकर ही भव बन्धन छूट सकते हैं, अन्यथा नहीं।

कर्म बन्धन का स्वरूप और त्रयताप को तत्वत: समझ लेने से मुमुक्षुत्व प्राप्त होता है, मोक्ष की इच्छा जाग्रत होती है। जगत् से विषाद् हो जाने पर भगवत्सन्मुखता आती है और जिज्ञासा जागृत होती है। जो शोक अभीष्ट विषय की प्राप्ति से शान्त होता है वह विषयोन्मुख है, जिसमें यह अनुभूति होती है कि त्रिलोकी का कोई भी भोग इसका शामक नहीं है, उसमें ही तत्व जिज्ञासा होती है, ज्ञान प्राप्ति की भूमिका बनती है। श्री गीता जी में विषाद योग के बाद ही सांख्य योग है।

श्रीमद्भागवत् में 'भवाटवी' का वर्णन है (स्क०अ०५.१३)। भगवान् की दुस्तर माया से प्रेरित होकर त्रिगुणात्मक कर्म की पूंजी लेकर यह जीव सुख रूपी लाभ के लिए व्यवहार के व्यापार में प्रवृत्त होता है, वह ससार रूपी जगल में भटक जाता है, शान्ति को प्राप्त नहीं होता।

'भवाटवीं याति, न शर्म विन्दति'। इस प्रकार जो व्यक्ति संसार के सुखों में भूला हुआ है, विवेकी की दृष्टि में वह जंगल में भटका हुआ है। उसे शान्ति नहीं मिलती।

बँधा हुआ आदमी अपने को खोल नहीं सकता, सोता हुआ आदमी अपने आपको जगा नहीं सकता, मोह में पड़ा हुआ अपने को ज्ञान नहीं दे सकता, भटका हुआ स्वयं राह पाने में असमर्थ है। कर्म बन्धन में पड़ा पड़ा हुआ, मोह रूपी रात्रि में सोया हुआ, भवाटवी (संसार रूपी जंगल) में भटका हुआ जीव स्वयं त्रयताप का शमन नहीं कर सकता। वह बेबस है। उसे सहारा चाहिए—

तुलसिदास हरि गुरु करुणा बिनु, विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोरनिधि पार न पावै कोई॥

(वि॰प॰)

तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै। (वि०प०)

तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँधै सोइ छोरै। (वि०प०)

मेरी न बनै बनाए मेरे कल्प कोटि लौं हूँ,
राम रावरे बनाए बनै पल पाउ में। (वि०प०)

सोइ जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई॥

(रा०च०मा०)

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वां।

(उपनिषद्)

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः, नान्यो पन्थः विद्यतेऽयनाय।

(उपनिषद्)

प्रयुक्त रूपक को ही लें। तवा कुछ पकाने के लिए ही आग पर चढ़ाया जाता है। परिपाक हो जाने पर उतार दिया जाता है। शुभाशुभ कर्म बिपाक के लिए ही यह तनु (शरीर) त्रयताप तप्त हो रहा है। कर्म विपाक का हेतु समाप्त होने पर वह उतार दिया जायगा। कर्म-विपाक की समाप्ति अपने हाथ में नहीं है, क्योंकि आसक्त जीव तो नये कर्मों के विपाक का अवसर बनाता ही रहता है।

श्री गोस्वामी जी दूसरे ही दोहे में बता चुके हैं, कि बिना रविकुल रवि राम के उदय हुए हृदय कमल नहीं खिलता, और मोहान्धकार नहीं मिटता। कितने ही उपाय क्यों न किए जायँ।

ममता तरुण तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी।
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं॥
[रा०च०मा०, सुन्दर काण्ड]

भगवत्प्रताप का उदय होने पर संसार बन्धन नहीं रहता—
वाँधि न सकइ मोहि हरि के बल, प्रगट, कपट, आगार। [वि०प०]

भगवत्प्रताप रूपी सूर्य मोह रात्रि का निवारक, अन्धकार नाशक है—'धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं, सत्यं परं धीमहि'। श्रीमद्भागवत १.१.१ जब भगवत्प्रताप से त्रयताप शमन हो, शान्ति पद मिले, तभी यह तवा शान्त हो सकता है, अन्यथा कभी नहीं।

———

तुलसी वेद पुरान मत पूरन शास्त्र विचार ।
यह विराग संदीपनी अखिल ज्ञान को सार ।।७।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि यह 'वैराग्य संदीपनी' वेद पुराण सम्मत है, पूर्ण शास्त्र विचार से युक्त है और सम्पूर्ण ज्ञान का सार है। ग्रन्थ का मंगलाचरण व विषय प्रवेश १ से ६ तक के छन्दों में हो चुका है। अब यह घोषणा है कि संक्षिप्त विवेचन, एक प्रकार से सूत्र ग्रंथ है। यह प्रामाणिक शास्त्र सम्मत व अखिल ज्ञान का सार है।

इसे वेद पुराण सम्मत कहा है। अर्थात् वेदों के उपदेश के अनुकूल है, परन्तु पुराण मत का त्याग करके वेदों का कोई तात्पर्य मान्य नहीं किया गया है, वेद-पुराणों को एक ही विचार व तात्पर्य का प्रतिपादक व समर्थक मानकर दोनों का अभिमत ग्रन्थ में प्रगट किया गया है। भारतीय दार्शनिक विचार के इतिहास में वेदों का परम प्रामाण्य प्राय: प्रतिष्ठित रहा। यहाँ तक कि नास्तिक उसे कहा गया जो वेदों को नहीं मानता, न कि केवल उसे जो ईश्वर को नहीं मानता। इसी प्रकार से यह परम्परा रही हैं कि 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदान्युपवृहयेत्' इतिहास (बाल्मीकि रामायण व महाभारत) तथा (अट्ठारह) पुराणों की सहायता से वेदों की व्याख्या, उनका विस्तार, करना चाहिए। ऐसी विचारधारा भी चली (विशेषत: गोस्वामी जी के बाद) जो वेदों को मानती है, पुराणों को नहीं, परन्तु पुराणेतिहास ग्रथ इसलिए भी प्रणीत हुए थे कि वेद के अनधिकारी जन भी तत्व विचार को ग्रहण कर सकें। श्री गोस्वामी जी महाराज, वेद और पुराण दोनो में निष्ठा रखते थे, उनमें कोई विरोध

नहीं देखते थे। अत: उन्होंने इस ग्रंथ के वेद-पुराण सम्मत होने की घोषणा की।

कवि ने यह दावा भी किया है कि सम्पूर्ण शास्त्रों का विचार अथवा शास्त्रविषयक सम्यक् विचार का परिणाम यह ग्रन्थ है। सम्पूर्ण शास्त्रों में वेद, पुराण आदि के अतिरिक्त अन्य दर्शन भी आ जाते हैं। मुख्यत: षट्दर्शन सम्पूर्ण शास्त्रों के अन्तर्गत मान्य हैं। और भी बहुत से आगम, दर्शन या तन्त्र हैं। इन सब पर विचार करके जो सिद्धान्त फलित होता है, वह सन्त शिरोमणि ने सूत्र रूप में रख दिया है। अत: इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता व उपयोगिता निश्चित है।

वेद-पुराण व सम्पूर्ण शास्त्रों का ही अभिमत यहाँ प्रगट हुआ है, ऐसी घोषणा करना श्री गोस्वामी जी के मर्यादावाद के अनुकूल है। आज कल शोध में यह दावा करना पड़ता है कि कुछ नया विचार प्रस्तुत किया गया है। मौलिकता ही शोध का गौरव है। परन्तु ऋषियों, मुनियों का गौरव यह रहा है कि उन्होंने पुरातन विचार ही प्रस्तुत किया है, नया नहीं। देश काल अवसर, अध्ययन, अधिकार, प्रेरणा आदि के आधार पर प्रस्तुतीकरण की नवींनता तो रहती है, परन्तु प्रामाणिक शास्त्र-सिद्धान्त का खण्डन करके नहीं।

श्री गोस्वामी जी का मर्यादावाद प्रसिद्ध ही है और वह जितना प्रदर्शित किया गया है उससे कहीं अधिक व्याप्त है। अत: कवि के लिए स्वाभाविक है कि वह यह स्पष्ट कर दे कि वह स्वतन्त्र मत की स्थापना करने नहीं जा रहा है, वेद शास्त्रानुकूल सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करना लेखक का प्रयोजन है।

श्री राम चरितमानस के प्रारम्भ में भी गोस्वामी जी ने कहा है—

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्य-तोऽपि । विविधि पुराण, निगम (वेद), आगम (शास्त्र) का जो सम्मत हैं वह यहां कहा गया है कुछ अन्यत: भी है ।)

यह बात सत्य निष्ठा से मान लेनी चाहिए कि कवि का तात्पर्य भारतीय शास्त्रों से है, नास्तिक शास्त्रों, विदेशी दर्शनों, अन्य धर्मों के शास्त्रों आदि से नहीं । परन्तु जो मत प्रतिपादित किया गया है वह अन्य दर्शनों, धर्म-शास्त्रों आदि में भी प्राप्त है यह एक तथ्य है, इसे मानने कहने व प्रदर्शित करने में दोष नहीं ।

सारांश प्रतिपादन में यह दायित्व नहीं होता कि प्रत्येक विचार को इस ग्रंथ में उद्धृत सिद्ध किया जाय । उसमें यह भी प्रदर्शित नहीं किया जा सकता कि सारभूत विचारों का चयन या निश्चय कैसे किया गया । परन्तु लेखक के दावे की यथार्थता प्रदर्शित करना परवर्ती सन्तों और विद्वानों का कार्य है । इसमें इतना ही सिद्ध करना पर्याप्त है कि कवि के द्वारा प्रगट किया हुआ विचार सचमुच वेद पुराण सम्मत तथा सर्व शास्त्रों का सार रूप है ।

ऐसा प्रयास करना एक अशक्य सा प्रयास है । एक तो कठिनाई यह है कि सारे शास्त्रों का अभिमत एक सा है ही नहीं । विभिन्न आचार्य शास्त्रों का भिन्न भिन्न अर्थ करते है, और एक दूसरे के मत का खण्डन भी करते हैं, तो फिर विभिन्न और विरोधी दर्शनों मे से सबका सार निकालने की बात कैसे सध सकती है, अथवा कैसे प्रदर्शित की जा सकती है ? इस विषय में पूर्वपक्ष, उत्तर पक्ष, सिद्धान्त, की जो निरूपण शैली रही है, उस पर विचार करना उपयोगी होगा । जर्मन दार्शनिक हेगेल ने भी प्रगति के तीन पद मानें हैं पक्ष-प्रतिपादन (थीसिस), प्रतिपक्ष प्रतिपादन (ऐण्टी थीसिस), समन्वित सिद्धान्त (सिन्थेसिस) । विवेकी विचारवान्

विद्वान् का कर्तव्य है कि वह सिद्धान्त तक पहुँचकर उस सार रूप विचार को ही ग्रहण करे, पूर्वपक्ष व उत्तर पक्ष के कथनों से भ्रमित न हो। यह सही है कि फलित सिद्धान्त भी पूर्व पक्ष बन जाता है, उसका भी उत्तर पक्ष बनता है और फिर नया सिद्धान्त फलित होता है। सारांश निरूपण में लेखक द्वारा (निज दृष्टि में अन्तिम) सिद्धान्त का संक्षेपत: कथन पर्याप्त है। इस प्रकार विभिन्न दर्शनों और मतों के भेदों के चक्कर में पड़ना आवश्यक नहीं है, वैसा करने से तो जंगल में भटकने की दशा (दिग्भ्रम की दशा) हो सकती है। आदि शंकराचार्य का कथन है—

'शब्दजाल महारण्यं चित्तभ्रमण कारणं'।

शब्द जाल महान् जंगल है, चित्त के भटक जाने का कारण है। श्री गोस्वामी जी जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् सन्त के द्वारा शास्त्रों का मर्म प्रस्तुत हो जाने पर श्रद्धालु साधकों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है उनकी दृष्टि में श्री गोस्वामी जी के वचन स्वयमेव प्रामाणिक हैं। इन वचनों का अनुसरण करके श्रद्धालु साधक तत्व को समझ लेता है, साधन पथ को जान लेता है और उस पथ पर चलकर कल्याण को प्राप्त करता है, परन्तु कोरे विद्वान का रास्ता इतना सरल नहीं होता। वह सोचने लगता है कि इतनी छोटी पुस्तक में सब शास्त्रों का सार कैसे आ गया? वह इसका अनुसन्धान करना चाहता है कि ऐसा हुआ या नहीं। उसे शास्त्रों की बहुत सी बातें मालूम रहती हैं जिन्हें वह बुनियादी समझता है और उन्हें इस पुस्तक में न पाकर उसे सन्देह होता है कि यह कैसे कहा जा सकता है कि इसमें पूर्ण विचार पूर्वक सभी शास्त्रों का सार आ गया है। ऐसी कठिनाई श्रद्धा रहित और तर्क प्रधान बुद्धि में आती ही रहती है। उसे बचाया नहीं जा सकता, परन्तु शास्त्राध्ययन भी भिन्न भिन्न दृष्टि से किया जाता है। शब्दग्राही बुद्धि को विरोध और विपरीतता का आभास बहुत होता है, वाद-विवाद प्रधान वृत्ति मतभेदों को बहुत पकड़ती है, वह

दूसरे के भिन्न विचार को खण्डित करने में जितना प्रयास करती है उतना सिद्धान्त ग्रहण में नहीं करती। शब्द बुद्धि से एक शास्त्र ग्रन्थ में भी विरोधाभास बहुत मिलेगा परन्तु भावग्राही बुद्धि को यह शाब्दिक भेद या विरोध महत्वपूर्ण नहीं लगता। उसे सामञ्जस्य या समन्वय का विपुल क्षेत्र दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार सिद्धान्तग्राही व्यक्ति को या योगी को विभिन्न विचारों दर्शनों और धर्मोपदेशों में अद्भुत एकत्व और साम्य के दर्शन होते हैं। अतः विवेक से आलोकित बुद्धि जब अन्तिम सिद्धान्त का निश्चय करती है तो उसे यह दर्शन होता है कि वह अन्तिम सिद्धान्त शास्त्रों में व्यापक है और उसे सर्वं सम्मत सिद्धान्त कहा जा सकता है।

एक बार यदि इसका अनुसंधान आरम्भ हो गया कि सब शास्त्रों का मर्म क्या है और वह इस ग्रन्थ में प्रतिष्ठित है या नहीं तो एक अन्य कठिनाई भी उठ खड़ी होगी। सब शास्त्रों का मर्म क्या है यह तो वही तय कर सकता है जो सब शास्त्रों का ज्ञाता हो और मर्मज्ञ हो। इस दृष्टि से इस दोहे का व्याख्याकार भी सर्वं शास्त्रवित् और मर्मज्ञ होना चाहिए। अपने को कौन ऐसा मान सकता है? यदि कोई अपने को ऐसा मानकर ऐसी व्याख्या के प्रयास में अग्रसर हो तो भी अवश्य ही उसे अन्य सक्षम विद्वानों के भिन्न मतों और तर्कों का सामना करना पड़ेगा। कभी कभी उठाई जाने वाली आपत्तियाँ शब्दग्राही वृत्ति का परिणाम होंगी जैसे आज से लगभग पचास वर्ष पहले हिन्दी साहित्य के एक सक्षम विद्वान और समालोचक ने यह सन्देह उपस्थित किया था कि वैराग्य संदीपनी श्री गोस्वामी जी की रचना नहीं है, क्योंकि श्री गोस्वामी जी भक्ति को सर्वोपरि मानते थे जबकि इस ग्रन्थ में यह कहा गया है कि–

तुलसी शान्ति समान सुख, अपर दूसरो नाहिं।

इस प्रकार शब्द भेद को महत्व देकर आपत्ति उठाई गयी जबकि श्री रामचरित मानस के अन्त में भी कवि ने कहा है–

जाकी कृपा लवलेस ते, मति मन्द तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्राम, राम समान प्रभु नहीं कहूँ।।

और इसी कथन के बाद श्री गोस्वामी जी ने भक्ति का वरदान भी माँगा है—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम।।

विद्या की दृष्टि से किसी के लिए भी यह अभिमान करना ठीक नहीं कि वह सर्वशास्त्र बित् है, परन्तु यह भी कहना ठीक नहीं कि सर्वंशास्त्र के मर्म के प्रतिपादन या समर्थन में किसी को प्रवृत्त ही नहीं होना चाहिए। बात यह हैं कि भगवत् की कृपा से शास्त्रों का मर्म निरक्षर को भी प्राप्त हो सकता है। कायदे से जिसने कभी पढ़ा लिखा भीं नहीं ऐसा व्यक्ति भी भगवत् चरित्र और महिमा का अधिकृत और हृदयग्राही निरूपण कर सकता है और श्री सूरदास जी या श्री नरसीमेहता की तरह भगवान् के लिए लीला और महिमा के सहस्त्रों पद बना और गा सकता है। कहाँ तक कहा जाय श्री ज्ञानेश्वर चरित्र में यह घटना मिलती है कि भैंस के बच्चे ने भी सस्वर वेद मन्त्रों का अलाप शुरू कर दिया जिसे सुनकर पण्ढरपुर के महान् पण्डितों ने प्रमाणित किया कि श्री ज्ञानेश्वर व उनके अन्य भाई अलौकिक महापुरुष हैं उनका उपनयन कर दिया जाय। 'प्रभु प्रताप ते गरुर्डहि, खाइ परम लघु ब्याल' (रा० च०मा०) इसलिए यह सम्भव है कि एकदम अपढ़ व्यक्ति भगवत् प्रेरणा से अधिकृत रूप से तत्व निरूपण करे, पूर्ण आत्म विश्वास के साथ करे और वह प्रचलित और मान्य भी हो जाय।

कोई व्यक्ति शास्त्रों का मर्मज्ञ न हो तो भी भगवत् कृपा से, सन्त के आशीर्वाद से, वह सक्षम रीति से निरुपण में प्रवृत्त हो

सकता है और तब उसके वचनों से बड़े बड़े विद्वानों को भी सक्षमता प्रतिभा और सिद्धान्त निर्णय का आभास मिल सकता है। श्रीगोस्वामी ज़ी महाराज स्वयं जब भगवत् चरित्र के वर्णन में प्रवृत्त हुए तो उन्होंने कहा कि 'जस कछु बुद्धि विवेक बलु मोरे। तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे।। (रा०च०मा०) तो इसी भगवत् प्रेरणा के भरोसे और उसी के बल पर कोई अन्य क्षुद्र व्यक्ति भी ऐसे निरूपण में प्रवृत्त हो सकता है। इस दिशा में किया हुआ कोई विनम्र प्रयास बाद के किसी महत् प्रयास के लिए भूमिका का काम दे सकता है, मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

यद्यपि यह कहा गया है कि–

'वेदा विभिन्ना: स्मृतयो विभिन्ना:,
नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।' (महाभारत)

तथापि विभिन्न विचार धाराओं में साम्य की भी कमी नहीं है, और उधर ध्यान देना इस युग की विशेष आवश्यकता है। अंग्रेजी में एक उक्ति है–'अक्षर घातक है, भाव जीवन-दायक है।

दोहे के अन्त में इस ग्रन्थ को 'अखिल ज्ञान को सार' कहा है। यहाँ ज्ञान का अर्थ प्रत्येक विषय का वाचिक ज्ञान नहीं है। शास्त्रसम्मत तत्व ज्ञान से मतलब है। जिस प्रकार जिस भाव से गायत्री मन्त्र को वेदों का सार कहा गया है, वैसा ही यह कथन है। गायत्री मन्त्र का सार प्रणव (ॐ) को माना है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी ज्ञान का सार है। इससे शास्त्र सम्मत ज्ञान का मर्म मिल सकता है, साधन पथ आलोकित होता है, और क्रमागत रूप से तत्वज्ञानानुभूति भी होती है।

प्रस्तुत दोहे में ग्रन्थ-माहात्म्य को देखकर, कई लोगों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर आकृष्ट होता है और कोई कोई इसका नित्य पाठ भी करते हैं। अभी इस ग्रन्थ के भाष्य प्रणयन का प्रयास कम ही हुआ है और इस श्रृंखला में एक नई कड़ी महात्मा श्री कान्तशरणजी की 'सिद्धान्त तिलक' नाम की टीका है, जो आदरणीय है। प्रस्तुत लेखक को भी इस दोहे के कारण इस ग्रंन्थ रत्न पर विशेष ध्यान देने की प्रेरणा हुई। सन्त कृपा से भी इधर प्रवृति हुई।

श्री गोस्वामी जी ने इस दोहे के बाद ही यह स्पष्ट कर दिया है कि इस ग्रन्थ के सेवन में पाण्डित्य प्रधान तार्किक बुद्धि काम नहीं देगी। कोई शास्त्र चाहे समास शैली (संक्षेप) में हो चाहे व्यास (विस्तार) शैली में, सूत्रमात्र या मन्त्रवत् हो चाहे अत्यन्त विस्तृत, शुद्ध सरल हृदय हो उसका मर्म ग्रहण कर सकता है, भाव-शुद्धि न हो तो शास्त्र के अर्थ के ग्रहण में विकृति आएगी। इसलिए हमें स्मरण रखना चाहिए कि 'ज्ञान का सार' तो है, लेकिन इस सार के ठीक ठीक दर्शन शुद्ध सरल हृदय वाले व्यक्ति को ही होंगे। कोरे पण्डित के लिए तो शास्त्रार्थ का अर्थं वाद विवाद (बहस) ही होता है, और श्री गोस्वामी जी ने स्वयं लिखा है, "वाद में अवादता न आजु लौं भई है।"

जहाँ श्री शंकराचार्य जी ने लिखा है 'वादे वादे जायते तत्व बोधः' वहाँ प्रयोजन 'तत्वचिन्तानुवाद', (तत्व चिन्तनपूर्वक सन्त का संवाद) से है, वाद-विवाद से नहीं।

———

सरल वरन भाषा सरल, सरल अर्थमय मानि ।
तुलसी सरलै सन्त जन, ताहि परी पहिचानि ।।८।।

(इस ग्रन्थ के) अक्षर, इसकी भाषा और अर्थ भी सरल हैं, और सरल (हृदय के) सन्त जनों को ही इनकी पहिचान हो सकती है ।

वर्ण अर्थात् अक्षर। इसमें सरल अक्षर हैं। अक्षरों की सरलता क्या ? अक्षरों का अलग अलग कोई अर्थ नहीं होता, तो अक्षर सरल या कठिन कैसे हो सकते हैं ? अक्षर उच्चारण में परुष (कठोर) साधारण, व मृदु (कोमल) माने गए हैं। ट व ड जैसे अक्षर परुष हैं, द व म जैसे कोमल हैं। वीर रस के साहित्य में परुषाक्षरों का विशेष प्रयोग रस परिपाक में सहायक है, शृंगार रस में कोमल अक्षर सहायक हैं। शान्त रस में साधारण अक्षर सहायक हैं। इस ग्रन्थ के अक्षर सरल हैं अर्थात् परुष अक्षर अधिक प्रयुक्त नहीं हुए हैं, साधारण व कोमल अक्षर ही अधिक हैं। रामचरित मानस की तरह यह ग्रन्थ शान्त रस प्रधान है। मानस में तो सभी रस हैं, परन्तु इस ग्रन्थ में केवल शान्त रस का ही परिपाक है, इसलिए साधारण और कोमल अक्षर अधिक हों तो अनुकूल है। प्रतिभाशाली कवियों की कृति में उपयुक्त वर्ण सामञ्जस्य सहज़ ही प्राप्त हो जाता है, उसके लिए प्रथक प्रयास नहीं करना पड़ता।

अक्षर मात्र इस दोहे में बरन (वर्ण) का अर्थ नहीं हैं। 'सरल बरन' के अर्थ में अक्षर ही नहीं शब्द भी आ जाते हैं। अक्षर सरल या कठिन क्या होंगे, परन्तु शब्द समझने में सरल या कठिन होते हैं।

सरल बरन का भाव यह है कि यह ग्रन्थ आसान शब्दों में लिखा गया है, कठिन शब्दों में नहीं। 'भाषा सरल' से यह बात और भी स्पष्ट और पुष्ट हो जाती है। अक्षर, शब्द और भाषा-शैली की दृष्टि से यह ग्रंथ सरल है। समझने में आसान है।

जिस शैली में भाषा सुगम हो और उसके कारण समझने में आसानी हो वह शैली प्रसाद गुण से युक्त मानी जाती है। श्री गोस्वामी जी का रामचरित मानस प्रसाद गुण से अत्यन्त विभूषित है, इसलिए भी उसका प्रचार अधिक हुआ है। श्री सूरदास जी की भाषा भी प्रायः सरल हैं। उनका काव्य भी प्रसाद गुण से अलंकृत है। जिस कृति में कठिन शब्दों का प्रयोग अधिक होता है, उसे साधारण जन नहीं समझ सकते। उसका लेखक या कवि प्रायः पाण्डित्य प्रदर्शन की रुचि रखता है और यह भी उसके लिए गौरव की बात हो सकती है कि उसकी कृति को विद्वान् ही समझ सकते हैं, साधारण जन नहीं समझ सकते। श्री केशवदास जी ने भी रामचन्द्रिका में राम का चरित्र लिखा परन्तु वह लोकप्रिय न हो सका। श्री केशवदास जी को 'कठिन काव्य का प्रेत' माना गया। शब्दालकारों का अतिशय प्रयोग भी प्रसाद गुण का विरोधी हो सकता है। प्रसाद गुण में अलंकारों का सहज प्रयोग होता है, हठात् बाहुल्य नहीं किया जाता। इससे साहित्यिक चमत्कार बढ ही जाता है, कम नहीं होता। प्रसाद गुण से युक्त साहित्यिक प्रयास विचार प्रचार व प्रसार में सहायक है, उसका लोकप्रिय होना सहज है।

वैराग्य संदीपनी प्रसाद गुण युक्त है, शान्त रस से परिपूर्ण है, समझने में सुगम है, अतः जनसाधारण के लिए अनुकूल है। शास्त्र के मर्म और ज्ञान के सार के प्रचार का सक्षम माध्यम है। अतः इस ग्रंथ के अधिक प्रचलित, व्यापक और लोकप्रिय होने की सम्भावना है।

सरल बरन भाषा सरल, सरल अर्थमय मानि।
तुलसी सरलै सन्त जन, ताहि परी पहिचानि ॥८॥

(इस ग्रन्थ के) अक्षर, इसकी भाषा और अर्थ भी सरल हैं, और सरल (हृदय के) सन्त जनों को ही इनकी पहिचान हो सकती है।

वर्ण अर्थात् अक्षर। इसमें सरल अक्षर हैं। अक्षरों की सरलता क्या ? अक्षरों का अलग अलग कोई अर्थ नहीं होता, तो अक्षर सरल या कठिन कैसे हो सकते हैं ? अक्षर उच्चारण में परुष (कठोर) साधारण, व मृदु (कोमल) माने गए हैं। ट व ड जैसे अक्षर परुष हैं, द व म जैसे कोमल हैं। वीर रस के साहित्य में परुषाक्षरों का विशेष प्रयोग रस परिपाक में सहायक है, शृंगार रस में कोमल अक्षर सहायक हैं। शान्त रस में साधारण अक्षर सहायक हैं। इस ग्रन्थ के अक्षर सरल हैं अर्थात् परुष अक्षर अधिक प्रयुक्त नहीं हुए हैं, साधारण व कोमल अक्षर ही अधिक हैं। रामचरित मानस की तरह यह ग्रन्थ शान्त रस प्रधान है। मानस में तो सभी रस हैं, परन्तु इस ग्रन्थ में केवल शान्त रस का ही परिपाक है, इसलिए साधारण और कोमल अक्षर अधिक हों तो अनुकूल है। प्रतिभाशाली कवियों की कृति में उपयुक्त वर्ण सामञ्जस्य सहज ही प्राप्त हो जाता है, उसके लिए प्रथक प्रयास नहीं करना पड़ता।

अक्षर मात्र इस दोहे में बरन (वर्ण) का अर्थ नहीं हैं। 'सरल बरन' के अर्थ में अक्षर ही नहीं शब्द भी आ जाते हैं। अक्षर सरल या कठिन क्या होंगे, परन्तु शब्द समझने में सरल या कठिन होते है।

सरल बरन का भाव यह है कि यह ग्रन्थ आसान शब्दों में लिखा गया है, कठिन शब्दों में नहीं। 'भाषा सरल' से यह बात और भी स्पष्ट और पुष्ट हो जाती है। अक्षर, शब्द और भाषा-शैली की दृष्टि से यह ग्रंथ सरल है। समझने में आसान है।

जिस शैली में भाषा सुगम हो और उसके कारण समझने में आसानी हो वह शैली प्रसाद गुण से युक्त मानी जाती है। श्री गोस्वामी जी का रामचरित मानस प्रसाद गुण से अत्यन्त विभूषित है, इसलिए भी उसका प्रचार अधिक हुआ है। श्री सूरदास जी की भाषा भी प्रायः सरल हैं। उनका काव्य भी प्रसाद गुण से अलंकृत है। जिस कृति में कठिन शब्दों का प्रयोग अधिक होता है, उसे साधारण जन नहीं समझ सकते। उसका लेखक या कवि प्रायः पाण्डित्य प्रदर्शन की रुचि रखता है और यह भी उसके लिए गौरव की बात हो सकती है कि उसकी कृति को विद्वान् ही समझ सकते हैं, साधारण जन नहीं समझ सकते। श्री केशवदास जी ने भी रामचन्द्रिका में राम का चरित्र लिखा परन्तु वह लोकप्रिय न हो सका। श्री केशवदास जी को 'कठिन काव्य का प्रेत' माना गया। शब्दालकारों का अतिशय प्रयोग भी प्रसाद गुण का विरोधी हो सकता है। प्रसाद गुण में अलंकारों का सहज प्रयोग होता है, हठात् बाहुल्य नहीं किया जाता। इससे साहित्यिक चमत्कार बढ़ ही जाता है, कम नहीं होता। प्रसाद गुण से युक्त साहित्यिक प्रयास विचार प्रचार व प्रसार में सहायक है, उसका लोकप्रिय होना सहज है।

वैराग्य संदीपनी प्रसाद गुण युक्त है, शान्त रस से परिपूर्ण है, समझने में सुगम है, अतः जनसाधारण के लिए अनुकूल है। शास्त्र के मर्म और ज्ञान के सार के प्रचार का सक्षम माध्यम है। अतः इस ग्रंथ के अधिक प्रचलित, व्यापक और लोकप्रिय होने की सम्भावना है।

प्रस्तुत दोहे के सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि सन्त जनों का सदा से यह प्रयास रहा है कि वे तत्वज्ञान को अधिक से अधिक बोधगम्य बना दें। सन्तों की वाणी में तो प्रसाद गुण प्राय: व्याप्त रहता ही है। विभिन्न भाषाओं में भक्ति साहित्य व्यापक रूप से प्रसाद गुण मण्डित पाया जाता है। इसलिए सरलता केवल इस ग्रंथ की नहीं, सन्त साहित्य और भक्ति साहित्य की व्यापक विशेषता है। कुरान, बाइबिल, धम्मपद, गुरुग्रंथ साहेब आदि ग्रंथों में भी भाषा की कठिनता नहीं है। संस्कृत में भी श्रीमद्भगवद् गीता की भाषा महाकाव्यों की भाषा की अपेक्षा बहुत ही सरल है। श्री योग वासिष्ठ की गहनता तत्वज्ञान सम्बन्धी विचार की है, भाषा की नहीं। श्रीमद्भागवत् की भाषा बहुत सरल नहीं है, परन्तु फिर भी प्रसिद्ध उक्ति 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' (विद्वानों की श्री भागवत् में परीक्षा हो जाती है।) इसलिए सार्थक है कि भाव पक्ष गम्भीर है, अद्भुत समन्वय है, तत्वज्ञान सम्बन्धी निरूपण प्रामाणिक है, तात्विक विवेचन और भक्ति भाव की गहराई दोनों की एक साथ व्याप्ति है। कृष्ण भक्ति का अनुपम और प्रामाणिक आधारभूत ग्रथ है।

भक्ति भाव परक साहित्य प्राय: जितना सरल होता है उतना ज्ञान परक साहित्य नहीं होता। ज्ञान के साहित्य में दुरूहता सहज ही आ सकती है। ज्ञान के निरूपण को सुगम व बोधगम्य बना देने वाली प्रतिभा अनोखी मानी जायेगी। श्री गोस्वामी जी इस प्रतिभा के धनी हैं।

उपनिषद् वाक्य 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

मानस में जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई' बनकर अत्यन्त सरल हो गया है। इसी प्रकार 'यमेवैषवृणुते तेन लभ्य:', 'सोइ जानै जेहि देहु जनाई' के रूप में सरल हो गया है। इस ग्रन्थ का यह गौरव है

कि कथा प्रधान न होते हुए भी, ज्ञान का सार प्रस्तुत करते हुए भी, यह नितान्त सरल है।

ज्ञान साहित्य के अध्येयताओं के लिए श्री शंकराचार्य का विवेक चूडामणि और अपरोक्षानुभूति प्रारम्भ में हितकर है, वेदान्त डिम्डिम् साधन-पचक आदि भी हितकर हैं, फिर श्री विद्यारण्य स्वामी की पञ्चदशी का अध्ययन किया जा सकता है। वेदान्त सूत्रों पर आचार्यो के भाष्य पढ़ना कठिन है। श्री वाचस्पति मिश्र (की भामती टीका) और श्री मधुसूदन सरस्वती जी की अद्वैत सिद्धि और भी उच्च स्तर के विद्यार्थी के लिए हैं।

ज्ञान मार्ग के प्रचारकों, पण्डितों, के प्रवचन, निबन्ध आदि भी प्राय: गूढ़ होते हैं, उन्हें समझना हर एक व्यक्ति का काम नहीं। परन्तु श्री गोस्वामी जी ने अत्यन्त संक्षेप से और सरल ढंग से ज्ञान का सार इस ग्रन्थ में प्रस्तुत कर दिया है, यह इस ग्रन्थ का अनोखा गौरव है। अन्य भाषाओं में तत्वज्ञान सम्बन्धी साहित्य संस्कृत के समान विशद, विपुल,और विस्तृत नहीं है, परन्तु जहां है प्राय: कठिन ही है। पाश्चात्य दार्शनिकों का साहित्य भी कठिन ही है, उसे सरल बना देने वाले विद्वान् बिरले बिरले ही मिलते हैं। अत्यन्त कठिन (या कठिनतम) विषय को एकदम सरल बना देना श्री गोस्वामी जी की प्रतिभा का चमत्कार है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

पूज्यपाद श्रीगोस्वामी जी ने इस दोहे में यह घोषणा भी की है कि इस ग्रन्थ के अर्थ भी सरल हैं और सरल हृदय के सन्त जनों को ही इनकी पहचान हो सकती है। सरल अर्थ की घोषणा से यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थ के वचनों का सीधा सादा अर्थ करना कवि के मन्तव्य के अनुरूप है। बहुत से पण्डित, विचारक, प्रचारक, कथावाचक इसी में

गौरव का अनुभव करते हैं कि सीधे सादे अर्थों को अमान्य करके, उन पर आपत्ति उठाकर, विलक्षण अर्थ निकाल कर बताएँ और इस तरह अपने पाण्डित्य की धाक जमाएँ। इस तरह के बौद्धिक चमत्कार का निभना भी कठिन होता है, परन्तु उसके विरुद्ध ठोस आपत्ति यही है कि ऐसे अर्थ करना एकदम अनुचित है जो स्पष्ट ही लेखक के मन्तव्य के अनुरूप नहीं हैं। कभी कभी तो यह लेखक के भाव के एकदम विपरीत होते हैं। किसी किसी पण्डित, कथावाचक या प्रचारक का यह शौक होता है एक ही वचन के कई अर्थ करे और कई दिन तक व्याख्या चलती रहे। यह कई अर्थ अक्सर एक दूसरे से मेल भी नहीं खाते। अतः यह प्रश्न उठ सकता है कि आखिर ठीक अर्थ कौन सा है। जिस व्याख्या के द्वारा वास्तविक अर्थ ग्रहण में सुविधा न हो, बाधा हो, कठिनाई हो, उस व्याख्या का महत्व ही क्या? व्याख्या चाहे जितनी विस्तृत हो पर उसमें कोई ऐसी बात कभी नहीं होनी चाहिए जो मूल लेखक को स्वीकार न हो। परस्पर विरोधी अर्थ प्रस्तुत करना तो और भी भ्रमोत्पादक और आपत्तिजनक है।

श्रीरामचरित मानस सुन्दरकाण्ड में श्री हनुमान जी ने कहा—

विनती करौं जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥

'हे रावण! मैं हाथ जोड़कर विनती करता हूँ, तुम मेरी शिक्षा पर, अपनी बढ़ी चढ़ी इज्जत का ख्याल छोड़कर, ध्यान दो।' अब इसका एकदम विपरीत अर्थ भी किया गया है—

'हे रावण! मैं जोर करके (बल प्रयोग करके), तुम्हें बिना ती (स्त्री) का कर दूँगा (तुम्हारी सब रानियों को मार डालूँगा, इसलिए घमण्ड छोड़कर मेरा सिखावन सुनो। स्पष्ट है कि कवि के मन्तव्य के

अनुकूल पहला अर्थ ही है, दूसरा नहीं, दोनों ठीक नहीं हो सकते, परस्पर विपरीत हैं ।

इसी प्रकार—

रंगभूमि जब सिय पगुधारी । देखि रूप मोहे नर नारी ।।

'जब धनुष यज्ञशाला में श्री सीता जी ने पर्दापण किया, तो उनके सुन्दर रूप को देखकर सभी नर नारी मोहित हो गए' । इस पर यह सन्देह किया गया कि 'मोह न नारि नारि के रूपा' । तो फिर महारानी सीता जी के रूप पर स्त्रियाँ कैसे मोहित हो गईं । इस शंका के निराकरण के लिए 'पगुधारी' का अर्थ 'पदार्पण किया' बदला गया, 'पगुधारी' का अर्थ यह किया गया—श्री भृगु जी के चरण चिन्ह को छाती पर धारण करने वाले (श्री विष्णू के अवतार) श्री राम जी । तब कहा गया कि जब राम जानकी रंगभूमि पर आये तो श्री सीतांजी के रूप पर नर और श्री राम के रूप पर नारियाँ मोहित हुईं । इस अर्थ में आने की क्रिया की सूचना ही गायब हो गई क्योंकि वह तो 'पगुधारी' के अर्थ 'पर्दापण किया' पर ही आश्रित थी । स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ने पंक्ति को दूसरे अर्थ में नहीं लिखा है । इसी प्रकार अन्य उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ सरल अर्थों को छोड़कर कोई जटिल अर्थ किया गया । कवि ने स्पष्ट कह दिया है कि सरल अर्थ ही मान्य किए जायँ, मनमाने अर्थ न निकाले जायँ । वेदादि ग्रंथों के विभिन्न शब्दों के अर्थों में भी पर्याप्त खींचतान हुई है । श्री काष्ठ जिह्वा स्वामी जी ने लिखा है—

तोड़ि ताड़ि, खैंचि खाँचि, श्रुति को नहिं गींजिये ।
जामें रस बन्यो रहै, सोई अर्थ कीजिए ।।

इसीलिए सीधे सादे सरल अर्थ ही ग्राह्य हैं।

यदि किसी वचन के एक से अधिक अर्थ किए गए तो उनमें से सरल अर्थ कौन सा है, इस विषय पर भी विवाद सम्भव है। सरल अर्थ की पहचान कौन करेगा? इस पर श्री गोस्वामी जी की घोषणा है कि सरल हृदय के सन्त जन ही इस ग्रन्थ के सरल अर्थों को पहचान सकते हैं।

यह एक व्यापक सिद्धान्त है कि शास्त्र को पढ़कर ठीक ठीक समझने के लिए शुद्ध अन्तःकरण चाहिए, केवल विद्या नहीं। इसीलिए हर एक व्यक्ति शास्त्र का अधिकारी नहीं हो सकता। विकार ग्रसित हृदय सरल अर्थों को ग्रहण करने में असमर्थ होता है अतः वह उसे किसी न किसी विकृत, परिवर्तित या उपबन्धित रूप में ही ग्रहण करता है; आवश्यकतानुसार वैसा ही प्रतिपादन भी करता है।

वैराग्य का उपदेश इसीलिए होता है कि विषयासक्त पुरूष उसको धारण करके आसक्ति से छूटे, परन्तु यदि विषयासक्त पुरुष में अपनी आसक्तिग्रस्त अनुभूति को प्रमाण मानने की वृत्ति प्रबल हुई, और अपनी वर्तमान् विचारधारा का आग्रह रहा, तथा अपने तर्कबल का अभिमान् रहा, तो उसे वैराग्य का उपदेश (सरल अर्थों में) ठीक नहीं जँचेगा। अतः या तो वह उसे गलत समझकर छोड़ देगा या वह उसे किसी अन्य रूप में ही ग्रहण करेगा। उसका यह कार्य उसे वैराग्य के उपदेश के प्रभाव से अंशतः या पूर्णतः वञ्चित रखेगा। जो कोई अन्य पुरुष भी उसके ऐसे अर्थ को ही ठीक मानेगा, वह भी वैसे ही परिणाम का भागी होगा। इसलिए पूज्यपाद गोस्वामी जी ने पहले ही स्पष्ट कर दिया कि सरल अर्थ ही ग्राह्य हैं, और शुद्ध सरल हृदय को ही उनकी ठीक ठीक पहिचान हो सकती है। वैराग्य, ज्ञान, उपासना आदि के निरूपक

शास्त्र वचनों के अर्थ सन्तों के द्वारा और पण्डितों के द्वारा अलग अलग प्रकार से किए जा सकते हैं। पण्डितों के द्वारा भी भिन्न भिन्न अर्थ किए जा सकते हैं। इनमें शुद्ध हृदय के सन्तों द्वारा प्रमाणित अर्थ ठीक माने जायें, यह श्री गोस्वामी जी का आदेश है। अन्य धर्मों में भी यही बात है। मौलवी, मुल्ला, प्रोफेसर, आचार्य, प्रचारक आदि आदर के पात्र हैं, परन्तु सन्त, फकीर, तपस्वी, साबिर, पैगम्बर शास्त्र के मर्म के अधिक सच्चे जानकार हैं, कम पढ़े लिखे होने पर भी। इस्लाम के प्रवर्तक पैगम्बर मुहम्मद साहब बिल्कुल पढ़े लिखे नहीं थे, भारतवर्ष में श्री कबीर जी का महत्व उनकी फकीरी पर आधारित है।

इसका रहस्य यह है कि जिसका हृदय जितना शुद्ध होता है, उसकी अनुभूति उतनी ही ठीक होती है। विकारग्रस्त अन्तःकरण की अनुभूति विकृत होती है, ठीक व प्रामाणिक नहीं होती, अतः प्रमाणित मान्य नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण की अत्यन्त प्रतिष्ठा है अतः साक्षात् अनुभूति के विरुद्ध शास्त्र वचनों को सत्य मान कर ग्रहण करना कठिन है। यथा—

नयन दोष जाकहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह मोई॥

अथवा—

यथा गगन घन पटल निहारी। झंपेउ भानु कहहिं कुविचारी॥

या—

जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयेउ दिनेसा॥

एव—

असित निरखि रविकर भव भारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥

तेजो वारि मृदां यथा विनिमयो, यत्र त्रिसर्गों मृषा ।
(श्रीमद्भागवत १.१ १)

झूठहु सत्य जाहि बिनु जाने । जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ।।

यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः ।
(रा० च० मा० बालकाण्ड)

जेहि जाने जग जाइ हेराई । जागे यथा सपन भ्रम जाई ।।

इसलिए शास्त्र के उपदेश के विरुद्ध मोहग्रस्त जीव की प्रत्यक्षानुभूति प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती । उसके आधार पर शास्त्र के स्पष्ट और सरल अर्थों का अन्यथा ग्रहण वर्जित किया जाता है ।

रघुपति भगति वारि छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै ।
तुलसिदास प्रभु चिद्विलास जग, बूझत बूझत बूझैं ।।
(व०प०)

इसी ग्रन्थ के वचनों में विषयासक्ति के कारण अर्थ विपर्यय कैसे हो सकता है, इसके उदाहरण सरलता से दिये जा सकते हैं, परन्तु तत्सम्बन्धी कथन यथास्थान उन वचनों की अर्थ समीक्षा में ही उपयुक्त होगा ।

इस दोहे के बाद श्री गोस्वामी जी ने सन्त स्वभाव वर्णन किया है, जो साधारण जन की दृष्टि में अलौकिक ही है । अत: उसमें ही अर्थवाद अतिशयोक्ति आदि की कल्पना हो सकती है । अत: कवि ने सामयिक चेतावनी दे दी है कि इन वचनों को सीधे सादे अर्थों में ही लिया जाय, उनमें अतिशयोक्ति' अर्थवाद आदि की कल्पना न की जाय, नहीं तो तत्व दर्शन के स्थान पर अलकार ही हाथ लगेंगे ।

———

अति शीतल अति ही सुखदाई । सम दम राम भजन अधिकाई ॥
जड़ जीवन को करै । सचेता । जग माहीं विचरत एहि हेता ॥९॥

सन्त अत्यन्त शीतल स्वभाव वाले होते हैं, अत्यन्त सुखद होते हैं। शम (मन को शान्त रखना), दम (इन्द्रियों को निग्रह में रखना) तथा खूब रामभजन करना, इन लक्षणों से युक्त होते हैं। वे इस संसार में इसीलिए विचरते हैं कि (मोहवश) जड़ (अज्ञानी) जीवों को सचेत करें।

पूज्यवाद ने पहली बात यही बताई कि सन्त अति शीतल स्वभाव के होते हैं। शीतल स्वभाव अर्थात् गरम मिजाजी नहीं, क्रोध बिलकुल नहीं। अति शीतल अर्थात् क्रोध से एकदम अलग, क्रोध कभी न करने वाले। जो लोग जरा जरा सी बात पर क्रोध करते हैं, वे उग्र स्वभाव वाले हैं, उष्ण स्वभाव वाले हैं, जो प्राय: क्रोध नहीं करते वे ठण्ढे मिजाज के अर्थात् शीतल कहे जाते हैं। यह नहीं है कि शीतल स्वभाव वाले कभी क्रुद्ध नहीं हो सकते, परन्तु साधारणत: वे क्रोध रहित व्यवहार करते हैं, विशेष परिस्थितियों में कभी उन्हें क्रोध आ जाय परन्तु उनका स्वभावगत लक्षण 'अक्रोध' ही है। किसी भी मनुष्य का साधारण व्यवहार उसके स्वभाव का परिचायक है, विशेष परिस्थिति में भिन्न प्रकार का विकार सम्भव है। सिंह स्वभाव से निर्भय, पराक्रमी और क्रूर है, परन्तु यह नहीं है कि वह कभी डरता ही नहीं, डर कर भागता हुआ भी पाया जाता है, पर साधारण परिस्थितियों में नहीं। स्वभावत:

क्रूर होने पर भी अपने बच्चों के लिए प्रेमालु है ही । अक्रोधी स्वभावतः शीतल है । जिसे विशेष परिस्थितियों में भी, क्रोध का प्रबल कारण होने पर भी क्रोध बिलकुल आता ही नहीं वह अति शीतल सन्त है । (अति) शीतल सन्त का लक्षण कवि ने आगे छन्द स० ४९ में बताया है । वहाँ शान्ति पद का वर्णन हैं, जो अति शीतल है वही शान्त है । शीतलता और शान्ति पद पर विशेष विचार यथा स्थान उसी प्रसंग में अधिक उपयुक्त होगा ।

सन्त 'अति शीतल' कहे गए हैं । वे क्रोध नहीं करते । परन्तु इस लक्षण के कथन का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए । सन्त क्रोध तो नही करते, परन्तु उनमें भी स्वभाव भेद पाया जाता है । कोई कोई सन्त अत्यन्त सीधे होते हैं, वे मर्यादा, अनुशासन आदि के मामलो में भी कठोर नहीं होते । इनका शीतल स्वभाव प्रसिद्ध हो जाता है । कुछ सन्त, मर्यादा, नियम, अनुशासन आदि के मामलों में नरम नहीं होते कठोर होते हैं, वे नियम, साधन, मर्यादा, व्यवस्था आदि का बिगाड़ सहन नहीं करते और उनकी रक्षा के लिए सख्ती करते हैं । इसीलए ऐसे सन्त साधारण लोगों में कठोर माने जाते हैं, नरम नहीं, उग्र माने जाते हैं शीतल या शान्त नहीं । साधारण अज्ञानी जीवों को उनमें क्रोध का आभास मिलता है । फिर सभी सन्तों को अति शीतल क्यों कहा गया ।

श्री योगवासिष्ठ में लिखा है—

समुद्र इव गम्भीर्यम्, स्थैर्यम् हिमवानिव ।
अन्तः शीतलता चेन्दोरिवोदेति विचारिणः ।।

समुद्र की तरह गम्भीरता, हिमालय की तरह स्थिरता और चन्द्रमा की तरह अन्तःकरण की शीतलता ज्ञानियों, विचारवानों, के जीवन मे उदित हो जाती है ।

जो सन्त उग्र जान पड़ते हैं, स्वभाव से कठोर प्रतीत होते हैं, उनमें, यदि वे सचमुच सन्त हैं, क्रोध नहीं होता, उसका आभास होता है। कोई कोई अफसर ऐसे होते थे (और अब भी हो सकते हैं) जो अधीन कर्मचारियों पर खूब डाट फटकार मचाए रहते थे, परन्तु उनकी नीयत रहती थी कि अनुशासन पूर्ण कार्यालय चले और कर्मचारियों को दण्ड न देना पड़े। उनमें क्रोधाभास पाया जाता था, न कि वास्तविक क्रोध। इसी तरह गुरु को शिष्य को अनुशासन में रखने के लिए कठोरता दिखानी पड़ती है, परन्तु उसके पीछे हित दृष्टि है, हिंसा दृष्टि नहीं। जैसा डाक्टर का किया हुआ आपरेशन हिंसा नहीं दया ही है। सच्चे सन्त मर्यादा व अनुशासन के मामलों में कठोरता कर सकते हैं, वैसा करना उनका कर्तव्य हो सकता है। उसमें क्रोध का आभास भी हो तो भी वास्तविक क्रोध नहीं है। जहाँ मन में क्रोध की गरमी आती है, जहाँ अनहित या हिंसा की भावना उठती है, वहाँ सन्तपने में कमी ही मानी ज़ायगी। परन्तु अविनयशील या अनुशासनहीन व्यक्ति पर इसका निर्णय नहीं छोड़ा जा सकता है।

यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सीधे स्वभाव वाले सन्तों से भी, जो उपयुक्त विहित कारणों से भी कठोरता नही करते हमें अत्यन्त विनीत व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि उनका अनादर करना महापाप है, जिसका भारी सजा भगवान् की ओर से मिलेगी।

साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कर हानी।।

तथा—

जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।।
दण्ड देने वाले भगवान् में भी क्रोध का आभास होता है, जिससे

यह कहा गया कि—

'भएउ रोष रन रावन मारा ।।'

परन्तु वस्तुतः भगवान् काम क्रोधादि विकारों से अछूते हैं। इसी प्रकार सन्त भी विकार रहित हैं—

षड्विकार जिता अनघ अकामा।

किसी को नियमादि के प्रवर्तन में कट्टर या कठोर देखकर उसके क्रोधी होने का फैसला नहीं किया जा सकता क्योंकि नीति में दृढ़ रहना सन्त का लक्षण है—

न्याय्यात् पथात् प्रविचलन्ति पदं न धीरा। भर्तृहरि।
'कोटि विघ्न ते सन्त कर, मन जिमि नीति न त्याग।'
(रा० च० मा०)

दृढ़ निश्चय (गीता १२.१४) भी सन्त का लक्षण है। इसलिए सन्त के शील, कोमल या नरम स्वभाव का अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। श्रद्धा और विनय पूर्ण भाव से ही उनका सत्संग करना चाहिए, 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।' के अनुसार अनुगत होकर चलना चाहिए।

भारतवर्ष क्वचित गर्म देश है, यहाँ हल्की ठन्ढक अनुकूल है। इसलिए यहाँ प्रेम सीने को ठण्ढा करने वाला है, ऐसी लोकोक्ति है अंग्रेजी में हार्दिक स्वागत को गुनगुना (वार्म्) स्वागत कहते हैं परन्तु केवल जलवायु की बात नहीं है। विकारों के उत्थान के साथ रमीग का सम्बन्ध है, जो सभी देशों और भाषाओं में मान्य है। इसलिए क्रोधाग्नि, शोकाग्नि, दुःखाग्नि आदि का उल्लेख किया जाता है।

इसीलिए –राम रोष पावक', 'रावन क्रोध अनल', शोकवह्नि जनकात्मजाया:' आदि का उल्लेख है। 'विरहागी' का भी उल्लेख है। क्रोध की गरमी का नितान्त अभाव, विपरीत दशा, को 'अति शीतल' कहा है। अति शीतल अन्त:करण वह है, जो कभी क्रोध की अग्नि से गरम हो ही न सके।

जो 'अति शीतल' हैं, वही अति सुखदाई होता है। 'तहाँ क्रोध को जर जरि गई।' (छन्द सं० ५१) जिस हृदय में आग जल रही है वह सुखी कैसे होगा ? क्रोध की अग्नि यदि मन में प्रज्वलित है तो सम्बन्धित व्यक्ति दु:खदायी ही हो सकता है, सुखदाई नहीं। वात्सल्य भाव से पुत्र को सुख दिया जाता है, दाम्पत्य से स्त्री को, करुणा से दुःखी प्राणियों को, क्रोध इनसे विपरीत भाव है। वह दु:खदायी ही है। जिसका क्रोध एकदम समाप्त, निर्मूल हो चुका, वही सुखदाई हो सकता है। इसलिए सन्त को अति शीतल के साथ 'अति ही सुखदाई' कहा है। आगे चलकर कहा है 'मलयाचल' हैं सन्त जन (छन्द सं० १८)। चन्दन में शीतलता और सुखद सुगन्ध दोनों हैं। इसी तरह सन्त में अति शीतलता के साथ यह गुण भी है कि 'अति ही सुखदाई।'

सन्त जो अति सुख देते हैं, वह साधारण विषय सुख नहीं है। कभी कभी उनकी कृपा से सांसारिक सुख भी खूब मिलता है, जैसे निर्धन बुढ़िया के आँगन में, श्री शंकराचार्य जी की कृपा व महिमा से स्वर्णधारा की वृष्टि। (दृष्टव्य कनकधारा स्तोत्र) परन्तु कवि का यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि सन्तजन प्रत्येक सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति को महान् सम्पत्ति देते हैं और सांसारिक सुख सुविधा से अति सम्पन्न करते हैं।

सुखेन ब्रह्म संस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते । (गीता ६.२८)

सन्त भगवान से मिला देते हैं, इसलिए 'अति ही सुखदाई' हैं। भगवान् की कृपा से बहुत बार सन्तों के पास जाकर लौकिक सुख, सुविधा, सफलता आदि प्राप्त होती है, परन्तु इनके वितरण का दरबार सन्त के यहाँ नहीं होता। यह तो सही है कि बहुत से आर्त जीवों के दु:ख सन्तों के पास जाकर दूर होते हैं, और दारुण दुख: या विपत्ति की निवृत्ति में अति सुख की अनुभूति होती है। परन्तु ऐसे चमत्कार सहज ही घटित होते हैं, प्रदर्शनार्थ नहीं किए जाते। वे सन्त का अनिवार्य लक्षण भी नहीं हैं। वास्तविक महिमा यह है कि सन्त शान्ति पद प्राप्त कराते हैं और

सात दीप नव खण्ड लौं, तीन लोक जग माहिं।
तुलसी शान्ति समान सुख, अपर दूसरो नाहिं॥

(छन्द सं०)

अत: अति सुखदाई हुए।

सन्त 'अति शीतल' होने से स्वयं सुखी रहते हैं, और तभी दूसरों के लिए भी अति सुखदाई होते हैं। इस संसार को दावानल भी कहा है। 'भव महा दावाग्नि' (चैतन्याष्टक १), कहा है। दावानल का अर्थ है जंगल की आग। यह बड़ी विकराल हो सकती है। कभी कभी तो बहुत से जंगली जानवर उसमें जलकर मर जाते हैं, भागकर निकल नहीं पाते। इसीलिए बड़े से बड़े जंगली जानवर आग से घबराते हैं। आग से दूर रहना चाहते हैं, भागते हैं। हाथियों को भी दावानल से बड़ा कष्ट होता है। परन्तु यदि कोई हाथी गंगा की धार में खड़ा है तो उसे दावानल से कष्ट नहीं होता। सन्त 'गंगाम्भस्थ इवि द्विप:' (गंगा के पानी में खड़े हुए हाथी के समान) हैं, अत: उन्हें भव दावाग्नि से कष्ट नहीं होता। संसार के तापत्रय के प्रभाव से नितान्त मुक्त होने से वे

अति शीतल हैं, और भवताप से छुड़ाने वाले होने के कारण परम सुखदाई हैं।

संसार में बहुत से सुख हैं। किसी भी सुख का देने वाला सुखदाई है। आत्यन्तिक सुख देने वाले अति सुखदाई है। जो जीव को माया के बन्धन से छुड़ा दे, मुक्त और अभय कर दे, उसके बराबर और कोई सुखदाई नहीं है। सांसारिक सुख मोक्ष सुख के सोलहवें भाग (एक कला) के बराबर भी नहीं है (जीवाऽभय प्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि) (श्रीमद्भागवत) इसलिए और भले और दानी लोग सुखदायी हैं, सन्त अति सुखदाई हैं।

विषयासक्त जीव के लिए यह समझना कठिन हैं कि सन्त 'अति सुखदाई' कैसे हैं। उन्होंने तो संसार को भोगों के छोड़ रखा है। यदि उनके पास भोग्य पदार्थ हों भी तो वे उनमें नहीं रमते। अत: मोहवश जीव की दृष्टि मे वे न सुखी हैं, न सुखी कर सकते हैं। वे भोग और वैभव कैसे देंगे, जब उनके पास है ही नहीं? इसलिए 'अति सुखदाई' कैसे हो सकते हैं?

यहाँ भी अशुद्ध अन्त:करण शास्त्र का मर्म समझने में बाधक हैं।

विषयी जीव भोग सुख की ही कल्पना करता है, सच्चे सुख की नहीं—

सात टूक कौपीन महँ, अरु भाजी बिनु लौन।
तुलसी रघुबर हिय बसैं, तो इन्द्र बापुरो कौन !॥ (दोहावली)

अतिशय सुख तो यह है।

तथापि यह भी समझना भूल है कि जो सन्त वैभव और भोग सामग्री से रहित हैं, उनसे लौकिक सुख नहीं प्राप्त हो सकता।

शंकर जी भले ही भभूत लगाकर मरघट मे रहें परन्तु शिव की दई सम्पदा लखि कै श्री शारदा लजानी।' (श्रीगीतावली)

'बादशाह आते हैं पापोशी गदा के वास्ते।'

फकीरों (सन्तों) की चरण बन्दना को सम्राट् भी आते हैं।

नेपाल में कोई चालीस वर्ष पूर्व एक भुरभुरुवा बाबा थे, वे सोना बनाना जानते थे, परन्तु स्वयं जंगल में रहते थे, उन तक पहुँचना कठिन था, और वे अपने लिए एक ठीक ठाक मड़ैया भी नहीं रखते थे। आदि शंकराचार्य का वाक्य है 'कौपीनवन्त: खलु भाग्यवन्त:' (कौपीनधारी भाग्यवान् हैं।) सच्चे सन्त भोग को व्यर्थ समझकर त्यागते हैं, परन्तु जिन जीवों को भोगों की तृष्णा है उनके प्रति उनकी करुणा रहती है। अत: सन्त कृपा से लौकिक सुख समृद्धि भी मिलती देखी गई है, यद्यपि लौकिक कामनाओं को लेकर सन्तों के पास जाना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि ऐसे लोग उनके लिए विघ्न रूप हो सकते हैं। 'अति ही सुख-दाई' ग्रन्थकार ने मुख्यत: आध्यात्मिक सुख को लक्ष्य करके कहा है।

सन्तों का जीवन शम दम से परिपूर्ण रहता है। शम मनोनिग्रह और मानसिक शान्ति का सूचक है, दम में इन्द्रिय दमन आ जाता है। पहले शम कहा क्योंकि मन विषयोन्मुख हो और इन्द्रियों को विषयों से अलग रक्खें तो मिथ्याचार बनता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार: स उच्यते ।।

(गीता ३.६)

'कर्मेन्द्रियों को रोककर जो मन से विषयों का चिन्तन करता रहता हैं, उसे मिथ्याचारी कहते हैं।'

इन्द्रियों का निग्रह तो करना ही होता है और पहले ही—

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान विज्ञान नाशनम्॥
(गीता ३.४१)

इन्द्रियों का नियमन तो आदि में ही करना है, परन्तु 'यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्य' (गीता ३.७), इन्द्रियों का नियमन मन से ही चाहिए। यदि मन शान्त न हुआ व्यग्र हुआ, विषय की तृष्णा से व्याकुल हुआ तो इंद्रियों का सफल नियामक कैसे होगा ? गींताजी से भी 'शमो दमस्तप: शौचम् (गीता १८.४२) आदि ब्राह्मणों के लक्षण कहे गए हैं। शम के विना दम शायद दम्भ ही रह जाय। शम और दम की जोड़ी है, साथ रहने में ही इनकी शक्ति और सफलता है।

जिस अविवेकी की दृष्टि में भोगों में ही सुख है, वह 'शम दम' के सुख को क्या जाने ? परन्तु सन्तों का स्वभाव समझने के लिए इन चीजों का समझना आवश्यक है।

श्री गीताजी में इंद्रिय सुखों को रजोगुणी माना है जो परिणाम में दु:खदाई हैं, शान्तिपरक सुखों को सामने आने पर विषतुल्य और परिणाम में अमृततुल्य बताया, उनमें अभ्यास पूर्वक रमण करने से दु:खों का अन्त हो जाता है। (गीता १८ ३६-४०) इसलिए शास्त्र और सन्त की दृष्टि में 'शमदम, ही वास्तविक सुख के निधान हैं। भोगों में सुख नहीं है; 'दु:खनेव सर्वं त्रिवेकिन:' (योग सूत्र २.१५)।

मनोविकारो के सहयोग से ही त्रयताप प्रभावी होते हैं, निर्विकार चित्त वाले को त्रयताप नहीं सताते। त्रयताप शमन सुख का मूल है, उनमें दु:ख या नीरसता का आभास अविदेक के कारण होता है।

'मन एवं मनुष्याणाँ कारणं बन्ध मोक्षयोः।' मन ही बन्ध व मोक्ष का कारण है 'मनः परमं कारणमामनन्ति (श्रीमद्भागवत ११.२३,४३) इसलिए दु:खदाई माया के बन्धन से छूटने के लिए 'शमदम' का उपयोग है। आसक्त मन के कारण ही इन्द्रियों की भोगों में विशेष प्रवृत्ति है। शम युक्त मन सहज ही इन्द्रियों को निग्रहीत करेगा, इन्द्रिय भोग उसके लिए विक्षेपकारी हैं, शान्ति को भंग करने वाले हैं, अतः वह भोगों के लिए सतृष्ण नहीं होगा। शम-दम के प्रतिष्ठित होने पर अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है, सुख अक्षय होता है। इस प्रकार सन्त परम सुखी हैं और दूसरों के लिए भी इसी अतिशय सुख के दिलाने के इच्छुक रहते हैं। उनमें 'शमदम' की अधिकता रहती है।

सन्त का वास्तविक माहात्म्य आन्तरिक है, वाह्य नहीं। वाह्य स्वरूप सन्तों का अलग अलग हो सकता है। इसमें देश, काल, अवसर, अवस्था निष्ठा आदि के अनुरूप भेद हो सकता है, आचार, विचार, खान पान, व्यवहार आदि के भी भेद पाए जाते हैं। अतः जो सन्त-लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं, वे लक्षण जिन लोगों में निश्चित रूप से पाए जायँ उन्हें अवश्य सन्त मान्य किया जाय। संसार में सभी वस्तुएँ भय से युक्त हैं, वैराग्य में ही अभय है। 'वैराग्यमेवाभयं' (भर्तृहरि वैराग्य शतक)। आसक्ति में आघात लगने से क्रोध का उदय होता है, अतः क्रोध का जहाँ नितान्त अभाव हो वहां आसक्ति का प्रभाव सिद्ध होता है। वैराग्य निर्भयता और शान्ति सुख का आधार है। मोक्ष प्राप्त होने पर या उसके निकट पहुँचने पर साधक अनाग्रही हो जाता है। अतः वह किसी से इसलिए नाराज नहीं होता कि वह उसकी इच्छानुसार नहीं चलता। इसी से अति शीतल व्यक्ति स्वभाव से हितेच्छु और मृदुल होता है। सन्त में विषय स्पृहा नहीं है अतः उसे किसी से डाह भी नहीं होती। किसी के सुख को वह बिगाड़ना नहीं चाहता, सँवारना ही चाहता है। बड़ा आदमी खिलौनों में सुख नहीं पाता, परन्तु अबोध

बालकों को खिलौनों से खेलते हुए खुश होते देखना चाहता है, यद्यपि वह यह चाहता है कि बालक विकास करे और इस दशा से ऊपर उठे। इसी तरह सन्त की करुणा दृष्टि होती है। अज्ञानी उसके लिए अबोध बालक की तरह होता है। इसलिए सन्त करुणाकर और अति सुखदाई होता है। शमदम उसके लिए कष्टकर साधन नहीं, सहज गुण हैं, और उसकी रहनि से दूसरों को भी शमदम की प्रेरणा मिलती है।

श्री रामकृष्ण परमहंस जी के अनुसार कमल जब खिल जाता है और सुगन्ध बिखरने लगती है तो फिर भ्रमरों को निमन्त्रण नहीं देना पड़ता। वे स्वयं आ जाते हैं। इसी तरह सन्त को भी विकसित होने के बाद लाभार्थियों को बटोरना नहीं पड़ता। सद्‌गुणों के प्रचार का सबसे बड़ा साधन सन्त की रहनि है, न कि प्रबचन या महोत्सवादि। इसलिए समुचित गुणों से युक्त सन्त की रहनि ही समाज के लिए वरदान स्वरूप है। सन्त अति शीतल होते हैं, अति सुख देतें हैं, उनके जीवन में 'शम दम' की अधिकाई होती है, 'राम भजन' की भी अधिकाई होती है।

राम भजन की अधिकाई सन्त का प्रधान लक्षण माना जा सकता है, परन्तु साधारण मनुष्य इसका पारखी नहीं हो सकता। सच तो यह है कि भजननिष्ठ ही भजननिष्ठ की पहिचान कर सकता है। अविवेकी मोहग्रस्त जीव को किसी दम्भी या ढोंगी में भी राम भजन की अधिकाई दिखाई दे सकती है, परन्तु जिस व्यक्ति में पूर्व कथित गुण शीतलता, करुणा, शम, दम आदि सुप्रतिष्ठित हों, वह दम्भी या कपटी नहीं हो सकता। साधारण व्यापक नियम यही है कि पापी का राम भजन में मन नहीं लगता—

पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।।
तथा गीता ७.१५। (रा०च०मा० सुन्दरकाण्ड)

इसलिए यह आशा नहीं की जा सकती कि पूर्व कथित लक्षणों के बिना राम भजन की गधिकाई हो सकेगी। परन्तु राम भजन एक स्वतन्त्र और उत्कृष्ट गुण है, जो अन्य गुणों का सहज परिणाम नहीं है। बिना हरि भजन के जीवन की कटुता मिटती नहीं, किसी न किसी रूप में बनी रहती है–

बिनु हरि भजन इनारुन को फल तजत नहीं करुआई ॥

(वि॰१०)

कभी कभी ऐसा हो जाता है कि सन्त भगवन्त की कृपा से किसी महान् पापी का भी मन भगवान् में खूब लग जाता है, परन्तु यह अपवाद रूप है। ऐसा होने पर उस पापी के द्वारा अनन्य भाव से भजन होने लगता है, श्री गीता जी का आदेश है कि उसे साधु ही मानना चाहिए, वह शीघ्र ही निष्पाप और धर्मात्मा हो जाता है। (९.३०, ३१)

इस असार संसार में वैराग्य पूर्वक भजन ही एक मात्र सार है। भगवान् की शरणागति श्री गीता जी का अन्तिम सन्देश है। (गीता १८ ६६)। अनन्य भाव से भजन करने वाले का योग क्षेम भगवान् स्वयं चलाते हैं (गीता ९.२२)। वैसे तो भगवान् की ही व्यवस्था से विश्व का भरण पोषण होता है, परन्तु शरणागत अनन्य भक्तों या सन्तों के लिए उनका विशेष प्रबन्ध रहता है। उन्हीं के लिए कहा गया है कि–

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः (श्रीमद्भागवत् ११.१४.४६)

तथा—

पीछे पीछे हरि फिरैं, कि भूखे ना रहि जायँ ॥

कभी कभी सन्तों की योग क्षेत्र की पूर्ति साधारण दृष्टि से अशक्य होती है पर आश्चर्यजनक रीति से हो जाती है तो उसे चमत्कार की

तरह मानना ही पड़ता है। इसके उदाहरण विभिन्न देशों धर्मो और शास्त्रों में भरे पड़े हैं। भक्तमाल जैसे ग्रन्थों में संकलित भी हैं। विज्ञ सन्तों की दृष्टि से योग क्षेम में लौकिक ही नहीं परलौकिक जीवन का निर्वाह भी आ जाता है। जो सन्त अद्वैत दृष्टि रखते हैं, भगवान् से अभिन्न हैं, बे भी संसार में रहते हुए माया से मुक्त और परमानन्द में मग्न हैं। भगवाम् ने कहा है।

> द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्दमाप्लुतौ।
> यो विमुग्धो जडो बालो, यो गुणेभ्य: परं गत: ।।
>
> (श्रीमद्भागवत ११.९.४)

तथा—

> साधवो हृदयं मह्यं साधूनाम् हृदयं त्वहं।
> मदन्यत्ते न जानन्ति, नाऽहं तेभ्यो मनागपि ।।
>
> (श्रीमद्भागवत ९.४.६८)

साधुजन मेरे हृदय हैं, मै साधुजनों का हृदय हूँ, मेरे सिवा वे किसी को नहीं जानते और मैं भी उनके सिवा किसी को कुछ नहीं जानता।

'कुरान में भी आज्ञा दी गई है, 'तज़कुरुल्लाहि कसीरन्'। (अल्लाह को खूब याद करो) यह रामभजन अधिकाई ही है।

बाइबिल में कहा है—

तुम अपने परमप्रभु से पूरे दिल से पूरी आत्मा से, पूरे अन्त:करण से, पूरी शक्ति से प्यार करोगे। यह पहला आदेश है। दूसरा आदेश यह है कि अपने समान ही पड़ोसी से प्यार करो। इन दो से बढ़कर कोई आदेश नहीं है। (मार्क १२.३०-३१)

कुछ लोग रथों पर गर्वित हैं, कुछ घोड़ों पर, हमें अपने प्रभु के नाम पर गर्व है। (साम्स् २०.७)

वह प्रभु उनके लिए ढाल है, जो उसकी शरण ग्रहण करते हैं। (साम्स् १८.३०) मैं प्रशसा योग्य प्रभु को पुकारता हूँ और शत्रुओं से मेरी रक्षा हो जाती है। (साम्स् १८.३) मैं प्रभु को सदैव अपने सामने रखता हूँ। (साम्स् १६.८)

कुरान के आदि में सूरे फातिहा में कहा है—प्रभु ही सर्व प्रशंसा योग्य है। मैं प्रभु पर श्रद्धा करता हूँ, प्रभु की पूजा करता हूँ, हे प्रभु ! मुझे अपने कृपापात्रों की सीधी राह पर ले चल।'

इस प्रकार रामभजन की अधिकता, सन्त का विशेष लक्षण है, गौरव है। यह सर्व सम्मत है।

एक सूफी शैर में कहा है—

मुफ्लिस हूँ तो क्या बात है, हूँ मैं से न खाली।
बिल्लौर से बेहतर है मेरा जामे सफ़ाली॥

फ़क़ीर रईस से कहता है कि मैं निर्धन, अकिंचन हूँ तो क्या हुआ। तुम बिल्लौरी पत्थर के बने हुए प्याले में मदिरा पीते हो तो मैं भी मिट्टी के प्याले में पीता हूँ, मदिरा से रहित नहीं हूँ। मैं इस मिट्टी से बने हुए पार्थिव शरीर में प्रभु प्रेम की मदिरा पीता रहता हूँ, (अतः तुमसे कम गौरवान्वित नहीं हूँ)

तानसेन के गुरु सन्त श्री हरिदास जी ने सम्राट अकबर से कहा था—

ऐ बशर (मनुष्य) तू क्या है, तेरा असर क्या है ? ।
हम खुदा से नाज़ (मान) करते हैं, बशर क्या है ? ।।

राम भजन में मग्न रहने वाले सन्तों की महिमा अपार है ।

श्री गोस्वामी जी ने एक अर्धाली में सिद्ध सन्तों के प्रधान लक्षण कह दिए—अक्रोध, करुणा (जीवों को अति सुखदायक), शम दम युक्त और राम भजन की अधिकता । रामचरित मानस में भी सन्त लक्षणों में कहा है—

सम शीतल नहिं त्यागहिं नीती । सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती ।
जप तप व्रत दम संयम नेमा । गुरु गोबिन्द विप्र पद प्रेमा ।।
(अरण्य काण्ड)

तथा—

सम अभूत रिपु विमद विरागी । लोभामरष हरष भय त्यागी ।।
कोमल चित दीनन पर दाया । मन वच क्रम मम भगति अमाया ।।
सबहिं मानप्रद आपु अमानी । भरत प्रान सम मम ते प्रानी ।।
(उत्तर काण्ड)

प्रस्तुत चौपाई के दो चरणों में सन्तों के मुख्य लक्षण कहे गए । अब शेष दो चरणों में उनके द्वारा होने वाले सर्वोत्कृष्ट उपकार का उल्लेख करते हैं । सन्त जड़ जोवों को सचेत करते हैं, इसी हेतु जग में विचरते हैं ।

श्री गोस्वामी जी परम सावधान हैं । यह नहीं कहते कि सन्तों का लक्ष्य परोपकार है, केवल जगत् में उनके विचरण का हेतु बताते हैं । सन्त अहंकार पूर्वक किसी का उपकार नहीं करते, किसी पर एहसान नहीं करते, न उनकी दृष्टि में कोई ग़ैर होता है, जब 'पर' बिराना कोई नहीं, तो परोपकार काहे का ? परन्तु सन्तों के जीवन में जगत् का बहुत

सा कल्याण सहज ही हो जाता है, उन्हें योजनाबद्ध परोपकार करना नहीं पड़ता ।

सन्त सहज सुभाव खगराया । पर उपकार वचन मन काया ,।

तथा—

सन्त विटप सरिता गिरि धरणी । पर हित हेतु सबन कै करणी ।।

यहाँ यह बात स्मरणीय है कि सिद्ध सन्त गुणातीत पद में स्थित होते हैं, परन्तु व्यवहार में वे सतोगुण में स्थित दिखाई देते हैं ।

त्रैगुण्यविषया वेदा: निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।

(गीता २.४५)

सतोगुण में चार ही वृत्तियाँ होती हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, द्वेष, क्रोध आदि वृत्तियाँ नहीं होती । चित्त को जलाने वाली वृत्तियाँ नहीं होतीं, उसे शीतल, शान्त रखने वाली वृत्तियाँ ही होती हैं । इसलिए सन्त के चित्त में प्रसन्नता रहती है—

मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदु:ख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम् (योग सूत्र १.३३) । सुखी लोगों या सुखद लोगों के प्रति मैत्री के भाव उठते हैं, दु:खी लोगों के प्रति करुणा जागती है, पुण्य कर्म होता हुआ देखकर खुशी होती है, पापकर्मों के करने वालों के (उन कर्मों के) प्रति उपेक्षा भाव रहता है, (द्वेष, विरोध, संघर्ष, संहार) आदि का भाव फिर भी नहीं होता । श्री पतञ्जलि महाराज कहते हैं कि इन चार प्रकार के मामलों में ये चार प्रकार की भावनाएँ रखने से चित्त की प्रसन्नता सिद्ध होती है । इसलिए सन्त अखण्ड प्रफुल्लित रहते हैं । श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में सर्वोत्तम भगवद्भक्त वह माना

गया है जो सबको भगवद्रूप देखता है। उसकी दृष्टि में जीवों का कोई वास्तविक वर्गीकरण नहीं है, प्रभु ही विभिन्न रूपों में अपनी लीला कर रहे हैं। दूसरी सत्ता है ही नहीं। 'वासुदेव: सर्वम्' [गीता ७.१९]। तब वे विभिन्न लोगों के प्रति विभिन्न भाव कैसे रख सकते हैं। सभी अपने इष्ट के ही स्वरूप हैं। यह गुणातीत भक्ति है, परा भक्ति है। मध्यम कोटि का भक्त वह माना गया जिसकी भक्ति सतोगुणी है।

ईश्वरे तदधीनेषु, बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा, य: करोति स मध्यम: ।। [११.२.४६]

जो ईश्वर से प्रेम करता है, भक्तों से मैत्री करता है, अज्ञानी दु:खी जीवों पर करुणा करता है और अपने से द्वेष करने वालों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है, वह मध्यम कोटि का भक्त है।

जो इस स्थिति में भी नहीं है, केवल पूजा पाठ के काम करता है, वह प्राकृत [साधारण] भक्त है।

सन्त कोटि वाले भक्त उत्तम या मध्यम ही हो सकते है, साधारण नहीं। यदि मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा चार वृत्तियाँ ही हों, तो ऐसा ब्यक्ति दूसरों का शुभ ही करेगा, अशुभ कर ही नहीं सकता। जिससे मैत्री मानेगा उसका हित करेगा, जिस पर करुणा होगी उसका दु;ख दूर करने का यत्न करेगा, पुण्यात्माओं को उत्साहित करेगा, उनकी सहायता करेगा, द्वेषियों की उपेक्षा करेगा। बल्कि द्वेष रखने वालों पर भी उनके अज्ञान के कारण करुणा कर सकता है—ईसा ने सूली पर कहा था—

[परम] पिता इन्हें क्षमा कर, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं। [ल्यूक २३.३४] महर्षि दयानन्द को जिसने विष दिया, उसे उन्होंने भाग जाने की राय दी और मदद दी। इसीलिए रामचरित

मानस में सन्त को चन्दन की तरह और दुष्ट को कुठार की तरह कहा है। अपने को काटने वाले कुठार की लकड़ी को भी चन्दन सुगन्धित कर देता है।

काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई।।
[उत्तर काण्ड]

इसी प्रकार—

उमा सन्त कै इहै बड़ाई। मन्द करत जो करै भलाई।।
[सुंदरकाण्ड]

सन्त लौकिक उपकार का बीड़ा नहीं उठाते, परन्तु उनके द्वारा उपकार होता ही रहता है। तथापि यह सब भगवान् की लीला से ही होता है, सन्तों के स्वतन्त्र संकल्प से नहीं। क्योंकि उनका संकल्प तो भगवान् की अनन्य भक्ति में ही लगा है, और कोई संकल्प उनका रहता नहीं। सर्वतोभावेन भगवान् में लगा हुआ सन्त अलग से परोपकार का कार्यक्रम कैसे चला सकता हैं? श्री गोस्वामी जी श्री कवितावली जी में कहते हैं—

सिय राम सरूप अगाध अनूप, विमोचन मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा मुख राम को नाम, हिये पुनि रामहि को थलु है।।
मति रामहि सों गति रामहि सों, रति राम सों, रामहि को बलु है।
सबकी न कहैं तुलसी के मते इतनों जग जीवन को फलु है।।

अनन्य भगवद्भजन ही सन्त जीवन की सफलता है।

सन्त रहनि और परोपकार के विषय को समझने के लिए महर्षि श्री अरविन्द घोष का दर्शन भी सहायक है। भागवत सत्ता स्वयं जगत्

के उद्धार उपकार के लिए प्रवृत्त है। अहंकार और विकार से युक्त अन्त:करण भगवदीय सत्ता के कार्य के लिए उपयुक्त माध्यम नहीं बन पाता। अस्मिता छोड़कर शरणागत हो जाने से भगवदीय सत्ता अन्त:करण को शुद्ध और पवित्र कर देती है। तब अन्त:करण दिव्य सत्ता के कार्य का उत्तम माध्यम बन जाता है। दिव्य सत्ता स्वयं ही उस माध्यम से अपना कार्य करती है। इसी से जगत् का महान उपकार होता है, विकास आगे बढ़ता है। श्री हनुमान जी की दृष्टि से लंका दहन आदि कार्य राम प्रताप से ही हुए, उनके पुरुषार्थ से नहीं।

सांसारिक सुख, सफलता, वैभव आदि कभी कभी साधक के विकास में उसी तरह उपयोगी हो सकते हैं जैसे बालक के विकास में खिलौने। परन्तु इनका पारमार्थिक महत्व बहुत नहीं है। सन्त का असली महत्व कुछ और ही है। श्री भतृहरि ने कहा है—

किं तेन हेम गिरणा रजताद्रिणा वा, यास्याश्रिताश्च तरव: तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण, कंकोल निम्ब कुटजा अपि चन्दना: स्यु:।।
(नीति शतक)

स्वर्ण गिरि या चांदी के पर्वत से क्या, जिस पर लगे हुए पेड़ पेड़ ही रह गए, हम तो मलयागिरि की महिमा मानते हैं जिसके नीम आदि के भी पेड़ चन्दन हो गए।

पारस पत्थर की बड़ी धूम है कि वह लोहे को सोना कर देता है, पर पारस किसी धातु को पारस नहीं बनाता। धन्य हैं वे सन्त जिनके सम्पर्क से दूसरे लोग भी सन्त बन जाते हैं। सन्तों को चन्दन के समान बताया गया है (रा०च०मा० उत्तरकाण्ड) जो काटने वाली कुल्हाड़ी की बेंट में भी सुगन्ध भर देता है। इस ग्रंथ में भी आगे कहा है कि मलयाचल हैं, सन्तजन। (छन्द सं० १८) वहां इस रूपक पर विस्तृत

विचार किया जा सकता है। वहीं सन्त की महिमा कही गई है, 'निज संगी निज सम करत।' इसीलिए सन्त जगद्वंद्य और पूज्य हैं। चन्दन के समान उनका आचरण है—

ताते सुर सीसन चढ़त, जग बल्लभ श्री खण्ड।
अनल दाहि पीटत घनहिं, परशु वदन यह दण्ड॥

(रा॰च॰मा॰ उत्तरकाण्ड)

सिद्ध सन्त की सबसे बड़ी महिमा यही है।

तीर्णाः स्वयं भीम भवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः।

(आदि शंकराचार्य कृत श्री विवेक चूड़ामणि)

स्वयं तो तर ही चुके हैं, अकारण ही (निष्काम, निःस्वार्थ, निर्लोभ रहते हुए, औरों को भी तारते हैं।

शिष्य प्रश्न करता है–

अपार संसार समुद्र मध्ये, निमज्जतो मे शरण किमस्ति ?
'गुरो कृपालो कृपया वदैतद्विश्वेश पादाम्बुज दीर्घ नौका॥

(वि॰चू॰म॰)

हे कृपालु गुरुदेव अपार संसार सागर में डूबते हुए मेरे लिए कौन सा सहारा हो सकता है ? बताइये। श्लोक के चतुर्थ चरण में गुरु का उत्तर है–'इस संसार के स्वामी, भगवान् के चरण कमल ही बड़ी भारी नाव हैं।'

श्रीमद्भागवत में संसार से तरने का प्रबन्ध इस प्रकार का बताया है–

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारं।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ।।
(श्रीमद्० ११.२०.१७)

तदनुसार रा०च०मा० में भी उत्तरकाण्ड में कहा है–

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।।
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।

जो नर तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाइ ।।

जैसे श्री शंकराचार्य जी ने ससार से तरने के लिए 'विश्वेश पादांबुज' को दीर्घ नौका बताया है, बालकाण्ड के आदि में श्री गोस्वामी जी ने भी श्रीरामचन्द्र जी के चरणों को एक मात्र जहाज बताया है–

'यत्पाद प्लवं मेकमेव हि भवाम्भोधे स्तितीर्षावताम्।'

सन्त भगवन्त में कुछ भी अन्तर नहीं (वि०प०)। विनय पत्रिका में श्री गोस्वामी जी ने स्वयं कहा है–

'भवसागर कहँ नाव, शुद्ध सन्तन के चरन।'

मोहवश जड़ जीव सन्त शरण में जाकर प्रबुद्ध (मुक्त) होता है।

मायावश जीव को जड़ बताया, क्योंकि मोहनिशा सब सोवनि हारा (रा०च०मा०) और शयन काल में जड़त्व प्राप्त होता ही है। सोता हुआ जीव जैसे स्वप्न देखता है, वैसे ही मोह रात्रि में सोये हुए जीव भी 'देखहिं सपन अनेक प्रकारा ।।' स्वप्न दृष्टा स्वप्न के भीतर अपने को चैतन्य ही पाता है। परन्तु जागने पर सारा स्वप्न (और उसका दृष्टा स्वप्नगत शरीर भी) प्रसिद्ध हो जाता है, असत्य, अविद्यमान्

माना जाता है। स्वप्नदृष्टा अपनी दृष्टि में भले ही जागृत, क्रियमाण और अनुभव कर्ता हो परन्तु दूसरे जागे हुए व्यक्ति की दृष्टि में निद्रावश है और जड़त्व को प्राप्त हैं। इसी प्रकार 'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।' प्रबुद्ध [ज्ञानी] योगियों की दृष्टि में मोहवश जीव सोया हुआ और जड़ ही है। इसलिए मायावश, बद्ध, जीव को जड़ कहा गया।

जड़ चेतन जग जीवन जे, सकल राम मय मानि।

(रा०च०मा०) में

वृक्षादिक प्राणियों को जड़ कहा है क्योंकि उनकी चेतना अविकसित, मन्द अथवा लुप्त या प्रसुष्त है। इसी आधार पर सोता हुआ जीव भी जड़ ही है।

ऐसा प्रसुप्त, जड़ जीव, अपने प्रबोध [जागने] का स्वयं यत्न नहीं कर सकता। जागा हुआ व्यक्ति उसे जगा सकता है। सन्त जागे हुए हैं, अन्त: जगाने का काम वही कर सकते हैं। बँधा हुआ जीव अपने को नही खोल सकता, खुला हुआ दूसरे को खोल सकता है। सन्त मुक्त [छूटे हुए] हैं, वे ही भव बन्धन से छुड़ा सकते हैं। सतसंग मोक्ष का हेतु है। 'सतसंगति संसृति कर अन्ता।' [रा०च०मा०]

सन्त जो सिद्धार्थ, कृतकृत्य, आप्तकाम, मुक्त हो गए उनके लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं रह जाता—तस्य कार्यं न विद्यते। [गीता ३.१७] इसलिए उनके जीवन में कोई स्वार्थ नहीं रह जाता, उनके लिए कुछ भी ऐसा नहीं रहता कि जो प्राप्तव्य [पाने लायक] है, पर उन्हें प्राप्त नहीं। लौकिक, पारलौकिक, दोनों दृष्टियों से जो कृतकृत्य हो चुके हैं, उनके जीवन का अपने लिए कुछ प्रयोजन नहीं। कोई पूछ सकता है कि फिर वे काम क्यों करते हैं, जीते क्यों हैं, मर क्यों नहीं जाते?

इस प्रश्न में ही जड़ जीव की यह मान्यता निहित है कि जीवन स्वार्थ के ही लिए है। अपने स्वार्थ के लिए जीने की आवश्यकता समाप्त होने पर वास्तविक दिव्य जीवन प्रारम्भ होता है। अबोध जीवों के समझने लायक भाषा में इसे आगे के छन्द में इसी ग्रन्थ में यों कहा है —

पर काजै परमारथी प्रीति लिए निबहंत।

[छन्द १०]

सन्त यदि एक ही जगह बँध कर रहते हैं, तो भी उनका उठना बैठना, चलना फिरना आदि जगत् में विचरण करना है; यदि वे घूमते फिरते रहते हैं, तो प्रत्यक्ष विचरण है ही। दोनों दशाओं उनके व्यवहार की प्रेरणा, विचरण का हेतु एक ही है, जड जीवों को सचेत करना बद्ध जीवों को मुक्त करना। बिना किसी कारण [हेतु] के दूसरों को तारते हैं, यही परमारथी प्रीति है। तीनों गुणों और समस्त कामनाओं से रहित [भक्ति सूत्र] जो प्रेम है, वही शुद्ध प्रेम है, परमारथी प्रीति है, वह सन्त के लिए ही सम्भव है। इसे कोई असम्भव समझे तो वह शुद्ध प्रेम को ही असम्भव समझता है।

————

तुलसी ऐसे कहुँ कहूँ, धन्य धरणि वहु सन्त ।
पर काजै परमारथी, प्रीति लिए निबहन्त ॥१०॥

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं, कि पृथ्वी पर बहुत से सन्त हैं, परन्तु ऐसे सन्त कहीं कहीं (बिरले ही) मिलते हैं, जो दूसरों के हित के लिए परमार्थी प्रेम को लिए हुए हैं और उसका निर्वाह करते हैं। ऐसे सन्त ही धन्य है।

इस पृथ्वी पर सन्त बहुत से हैं, इसका अर्थ नहीं कि बहुमत में हैं। यह आशा नहीं करनी चाहिए कि सच्चे सन्त लाखों करोड़ों की संख्या में मिल सकते हैं। परन्तु 'धरनि बहु सन्त' से इस धारणा को त्रुटिपूर्ण मान्य किया गया है कि सच्चे सन्त होते ही नहीं, या मिल ही नहीं सकते। ऐसी कल्पना भ्रमपूर्ण और अनिष्टकारी भी है कि सन्तों के जो लक्षण शास्त्रों ने कहे हैं, उन लक्षणों वाले सन्त कलियुग में नहीं हो सकते या कहीं नहीं मिल सकते। यदि दो चार सन्त हो मानें जायँ तो विश्व की अरबों मनुष्यों की आबादी के लिए उनका अभाव ही रहेगा। परन्तु सन्त इतने कम नहीं हैं।

विभिन्न देशों, धर्मो, सम्प्रदायों आदि में उत्तम सन्त पाए जाते हैं, वे सन्त मान्य हैं, सेवनीय सम्माननीय हैं। ऐसी कल्पनाएँ भी ठीक नहीं हैं कि सच्चे सन्त नगरों में नहीं रहते, या नगरों में नहीं आते या माघ मेले आदि भीड़भाड़ वाले स्थानों में कभी नहीं जाते या प्रवचनादि कभी नहीं करते। सन्तों की इस प्रकार की कोई कसौटी नहीं बन सकती।

वाह्य आचार, विचार, व्यवहार की दृष्टि से सच्चे सन्तों में भी पर्याप्त भेद मिलेंगे, परन्तु सन्त के लक्षण मिलें, या पर्याप्त सीमा तक मिलें तो उन्हें सन्त मानना होगा। ऐसे सन्त आज की दुनियाँ में कुल मिलाकर बीस हजार भी हों तो वहुत हैं। वे एक प्रतिशत भी न हों पर बहुत हैं, क्योंकि सच्चे सन्त बिरले ही होते हैं, बहुल नहीं।

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न बने बने॥

हर एक पर्वत पर मणि माणिक नहीं होते, हर एक हाथो के मस्तक में गजमुक्ता (मोती) नहीं होता, सन्त सब जगह नहीं मिलते, हर एक वन में चन्दन का वृक्ष नहीं होता।

ऐसा अर्थं करना भी सम्यक् न होगा कि सन्त का वेष धारण किए हुए विचरने वाले तो बहुत हैं, परन्तु परोपकारार्थ परमार्थिक प्रेम लेकर निर्वाह करने वाले बिरले सन्त कहीं कहीं मिलते हैं, वही धन्य हैं। यह भाव ठीक नहीं जान पड़ता कि श्री गोस्वामी जी ने मात्र वेषधारियों को दृष्टि में रखकर ही पृथ्वी पर बहुत से सन्तों का होना बताया है। सन्त स्वभाव और महिमा का निरूपण है, अतः मात्र वेषधारियों की संख्या का विचार प्रासंगिक नहीं है। लक्षण युक्त सन्तों का ही प्रसंग है कवि ने आगे कहा भी है, 'माया त्यागी सन्त बिरले बिरले मिलते हैं, कामी कुटिल व खल मोर और कौवे के समान अनगिनती पाए जाते हैं। [छन्द ३२] दूसरी कोटि के लोगों को कवि ने सन्त मान्य नहीं किया। किसी के पास यदि लोहा बहुत हो तो कई मन या टन भी हो सकता है, यदि यह कहा जाय कि किसी के पास सोना बहुत है तो चालीस तोला सोना भी बहुत माना जायगा। इसी प्रकार करोड़ों की आबादी वाले देश में कुछ हजार सच्चे सन्त भी हों, तो बहुत हैं।

इस दोहे का अर्थ यों समझें तो भी ठीक होगा—

इस पृथ्वी पर बहुत से सन्त हैं और वे सब धन्य हैं पर उनमें भी ऐसे सन्त कहीं कहीं (बिरले ही) मिलते हैं, जो दूसरों के हित के लिए पारमार्थिक प्रेम धारण किए हुए उसका निर्वाह कर रहे हैं।

एक दृष्टि से इस दोहे में कर्मयोग व कर्मसन्यास का तत्व पिरोया हुआ है। कर्म सन्यास की दृष्टि यह है कि 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः' कर्म मात्र दोषवत् त्याज्य है, (गीता १८.३) परन्तु कुछ भी कर्म न करना सम्भव नहीं, अतः निषिद्ध कर्म व काम्य (कामना से किए जाने वाले) कर्म न करना चाहिए, परन्तु देह धारण से ही साधन हो सकेगा इसलिए जीवन धारण के लिए आवश्यक कर्म करने चाहिए और साधन सम्बन्धी कर्म भी करने चाहिए। परन्तु सिद्धावस्था में शरीर प्रारब्धानुसार चलेगा और साधन पूर्ण हो चुका होगा, तब किसी कर्म की आवश्यकता न रहेगी, कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहेगा— तस्य कार्यं न विद्यते। (गीता ३.१७) ऐसी दशा में परोपकार, उद्धार दूसरों को मुक्त करना आदि तथाकथित शुभ वासनाएँ भी नहीं रहेंगी। अतः 'जड़ जीवन कहँ करै सचेता' वाला कार्यक्रम भी नहीं होगा। भगवान् में तल्लीनता और मस्ती ही रहेगी।

दूसरी दृष्टि कर्मयोग की है। इसके अनुसार कर्म मात्र हेय त्याज्य या बन्धनकारी नहीं है। साधक को बन्धन में डालने वाली कामना, ममता, फलासक्ति है, इनसे रहित कर्म बन्धनकारी नहीं, पापकर्म वासना से ही होता है, वह न किया जाय परन्तु, कर्तव्य कर्मों को किया जाय नियतं करु कर्म त्वं (गीता ३.८), कर्म के बिना तो जीवन निर्वाह भी न होगा (गीता ३.८), योगी भी आत्म शुद्धि के लिए कर्म करते हैं (गीता ५.११), यज्ञ, दान, तप सम्बन्धी कार्य मनुष्यों को पवित्र करने

वाले हैं (१८.५), इन कर्मों को भी संग और फल की इच्छा छोड़कर करना चाहिए। (१८.६.)। इस तरह साधन काल में निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करना आवश्यक है।

सिद्धावस्था और व्यवहार का प्रश्न अधिक सूक्ष्म और जटिल है। इस पर श्री लोकमान्य तिलक ने एक बड़ा ही उत्तम विद्वत्तापूर्ण अध्याय 'कर्मयोग रहस्य' में लिखा है। दोहे में सिद्ध सन्तों के ही व्यवहार का प्रसंग है। अन्त: यह प्रश्न हमारे लिए प्रासंगिक है। कर्म-सन्यास मत के अनुसार ज्ञान प्राप्त होने पर सब कर्म समाप्त हो जाते हैं—ज्ञाने परिसमाप्यते (४.३३), अत: उत्तम से उत्तम कर्म करने का भी प्रश्न नहीं रहता। कर्मयोग पक्ष कुछ दूसरी तरह से सोचता है।

मायामोह वश जड़ जीव निर्मल विशुद्ध कर्म करेगा ही कैसे? उसकी उत्तम कर्म करने की कोशिश हो सकती है, भावना भी धीरे धीरे शुद्ध होगी। जब अन्त:करण शुद्ध हो जायगा तभी वह विशुद्ध भाव से उत्तम कर्म कर सकेगा, और अब उसके कर्म ज्ञान से समाप्त मान लिए जायँगे। व्यवहार में देखा जाता है कि जिस किसी में कर्तव्य का आग्रह, सत्यनिष्ठा, निर्भयता आदि कुछ लक्षण प्रतीत हुए उसे कर्म सन्यास वृत्ति वाले व्यवहार से उपराम होने की सलाह देने लगते हैं। तो क्या जगत् के व्यवहार को चलाने में केवल कायर, दुर्गुणी आलसी लोग रहें तो यह व्यवहार अच्छा चलेगा। सच तो यह है कि यदि इस प्रकार के कर्मवीर क्षेत्र से हट जायँ तो कर्म सन्यासियों के योग क्षेम और ध्यान पूजन भी निर्विघ्नता से नहीं चलेंगे। व्यवहार को छोड़ने पर मनोविकारों को उभारने वाली परिस्थितियाँ बार बार नहीं बनतीं, इससे यह भ्रम हो सकता है कि मन निर्विकार हो गया, परन्तु विशेष परिस्थिति बनने पर कुछ और ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए कच्चे वैराग्य या उच्चाट से व्यवहार सन्यास खतरनाक है।

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्यात्, यतः स आस्ते सह षट्सपत्नः ।
जितात्मनस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यं ।।
[श्रीमद्भागवत ५.१.१७]

प्रमादी को वन में भी भय है क्योंकि काम क्रोधादि छः शत्रु उसके साथ ही हैं, इन्द्रियजित्, आत्मा के प्रेमी, ज्ञानी को गृहस्थाश्रम भी क्या नुकसान पहुँचायगा ?

यदि सिद्धावस्था प्राप्त हो चुकी हो तो कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता, परन्तु कर्म करने से बन्धन होने का भय भी नहीं रह जाता। यदि ऐसा भय बना रहा, तो मुक्ति कहाँ हुई। जब तक विशेष परहेज़ की जरूरत बनी रहे, स्वास्थ्य लाभ सिद्ध नहीं होता। सर्वोत्तम दिव्य कर्म की सम्भावना सिद्धावस्था में ही है। योगारुढ़ के लिए कर्म शान्ति का कारण है (गीता ६,३), बन्धन का कारण नहीं। तो वह क्यों न कर्मनिष्ठ हो ?

भगवान् को कुछ प्राप्त करने का प्रयोजन नहीं है परन्तु वे सारा समष्टि कर्म चलाते हैं न ? इसी तरह सिद्ध सन्त के लिए भी भगवान् का आवाहन है कर्म का आदर्श उपस्थित करे, जिससे उसका अनुसरण करने वाले लोग कल्याण भाजन हों। 'लोक संग्रह' के दृष्टि से भी कर्म करना ही चाहिए [गीता ३.२०.]। भगवान् ने कर्म को अकर्म से श्रेष्ठ घोषित किया है—'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' [गीता ३.८.]।

जो कर्मयोग मार्ग के साधक हैं वे भगवान् की लीला से सिद्धावस्था में भी कर्मनिष्ठ रह सकते हैं। कभी कभी कर्म संन्यास के व्याख्याताओं का भी अलौकिक पुरुषार्थ देखा गया है, जैसे श्री आदि शंकराचार्य जी का, ईसवी उन्नीसवीं सदी के अन्त में श्री स्वामी रामतीर्थ का भी महान्

पुरुषार्थ प्रकट हुआ। गुरु माता की आज्ञा से श्री स्वामी विवेकानन्द जी ने भी आश्चर्यजनक पुरुषार्थ किया।

जो सिद्ध सन्त गुप्त रहते हैं, वे कभी कभी उल्टी बातें करते हुए भी देखे गए हैं; इससे अन्य लोगों को उनसे भजन की प्रेरणा नहीं मिलती, परन्तु आचार्य कोटि के सन्तों से ऐसी प्रेरणा मिलती है। श्री शुकदेव जी जैसे अवधूत कोटि के सन्त एकान्त विचरण कर सकते हैं, परोपकार आदि से अलग रह सकते हैं, यद्यपि परीक्षित् जी के कल्याण में उनका कृपामय पुरुषार्थ था ही। परन्तु श्री व्यास जी सदृश आचार्य तो लोक संग्रह में संलग्न ही दिखाई देते हैं।

जैसे मरीजों का स्वार्थ इसी में है कि अच्छे से अच्छे चिकित्सक चिकित्सा कार्य करते रहें, उसे छोड़ न दें। वैसे ही भव रोग के मरीजों का स्वार्थ इसी में है कि समर्थ सन्त उनके उद्धार में प्रवृत्त रहें, उस कार्य से उपरत न हों। पारस का कोई लाभ नहीं यद्यपि बहुत सा लोहा उसके सम्पर्क से सोना बन जाय, परन्तु ऐसा होने से औरों का तो लाभ है, तो फिर पारस सम्पर्क से परहेज क्यों करे ?

यह तो ठीक है कि सच्चे सन्त को उद्धार कार्य, ज्ञान-प्रचार आदि करने से भी अपना कुछ लाभ नहीं, वह लौकिक पारलौकिक मामलों में कृतकृत्य हो चुके, परन्तु फिर भी वे यदि ऐसा व्यवहार रखते हैं जो अन्य जीवों को मोक्ष-साधम में प्रोत्साहित करे, तो यह उनका स्नेह ही है। और यह हेतु रहित है। जो प्रेम त्रिगुण-रहित, कामना रहित है, वही शुद्ध है, अमृतमय है, परमारथी है।

हेतु रहित जग युग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥
[रा०च०मा०]

सन्तों में अवधूत कोटि और आचार्य कोटि दोनों तरह के होते हैं। समाज के लिए आचार्य कोटि वाले अधिक उपयोगी हैं। परन्तु दूसरे, अवधूत कोटि वाले सन्त भी धन्य हैं।

प्रसंग प्राप्त परोपकार अवधूत कोटि के सन्तों में भी देखा जाता है। किसी के दु:ख से द्रवित होकर कृपा करना, उसके दु:ख को दूर करना उनमें भी पाया जाता है। 'पर दुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता ।।' परन्तु उनका यह कार्य प्रासंगिक होता है। आचार्य कोटि वाले संस्था बना सकते हैं, प्रचार कार्य कर सकते हैं, व्यवस्थित रूप से समाज के दु:ख हरण का कार्य चला सकते हैं। एकदम सांसारिक व्यवहार में लिप्त दिखाई पड़ सकते हैं। ऐसे कार्य भगवत्प्रेरणा से ही होते हैं और उनमें शुद्धता और दिव्यता पाई जाती है।

करुणा और ममता एक ही चीज नहीं हैं करुणा से ही सच्चे प्रेम का विकास होता है, ममता पतनकारी है। सन्त करुणा करते हैं, ममता नहीं। भक्त के लक्षणों में श्री गीता जी में कहा है—

अद्वैष्टा सर्व भूतानां मैत्र: करुण एव च।
निर्ममो निरहंकार: सम दु:ख सुख: क्षमी ।।

(१२.१३.)

सन्त करुण होते हैं पर निर्मम भी होते हैं, स्नेह सबसे बन्धन कहीं नहीं। सन्तवर शाहंशाह जी ने चौरासी छेदन में कहा है—

सम्यक् प्रेम तुम्ही से होवै। जग ममता भ्रम माहिं डुबोवै ।।

वैष्णव दर्शन में समझाया गया है कि ममता (कामना) और प्रेम में बहुत अन्तर है। काम सुख पाना चाहता है, प्रेम सुख देना चाहता है। ममता अपने सुख के लिए दूसरे को अपने बस में करना और रखना

चाहती है, प्रेम दूसरे के सुख, हित, विकास, प्रगति के लिए उसके बस में होने या उसके हित के लिए समर्पित होने की प्रेरणा देता है। अतः शुद्ध प्रेम राम से मिलाने वाला है, मोक्ष दायक है, जबकि ममता बन्धन को दृढ़ करती है।

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँक रहि सकैं, रवि रजनी एक काम ।।

(दोहावली)

जहाँ स्वार्थ, कामना, भोग आदि की गन्ध भी नही हैं, वहाँ विशुद्ध प्रेम है और विशुद्ध प्रेम ही 'परमार्थी' है।

ऐसा आभास मिल सकता है कि ममता टिकाऊ है, करुणा आकस्मिक है। ऐसा सचमुच है नहीं। वासनात्मक प्रेम ही वस्तुतः परिवर्तन शील हैं, नश्वर है, क्योंकि वह प्रकृति के तीन गुणों के आश्रित हैं और ये गुण स्थिर नहीं रहते, परिवर्तन शील हैं। ममताएँ एक जन्म में ही टूट फूट सकती हैं, जबकि दिव्य सृष्टि के प्रेम सम्बन्ध जन्म जन्मान्तर तक प्रभावी रहते हैं, भले ही साधारण जन की दृष्टि से परे हों।

विशुद्ध करुणा सम्बन्ध दुःख निवारण के लिए होता है, दुःख निवृत्ति के बाद वह बन्धन कारी नहीं होता, जैसे सिद्धार्थ ने घायल हंस की सेवा की, फिर अच्छा हो जाने पर उसे उड़ जाने दिया। सन्त उपकार करके एहसान में बाँधते नही। परन्तु उपकृत मनुष्य का जो कर्तव्य है, वह उसे अवश्य करे, बिना किसी विवशता के भी करे, तभी उसका विकास ठीक से हो सकेगा।

कोई कोई सज्जन बड़े अच्छे डाक्टर या वैद्य होते हैं और धर्मार्थ दवा करते हैं, अपनी जीविका का दूसरा प्रबन्ध रखते हैं, दवा का भी

दाम नहीं लेते। जिन कठिन रोगियों को वे अच्छा करते हैं, वे अच्छे हो जाने पर कुछ भी देने या करने के लिए बाध्य नही हैं, फिर से अपरिचित की तरह बन सकते हैं, परन्तु उनका कर्तव्य है कि आभारी हों, सहयोग करें।

रोगी को अच्छा किया, वह काम खतम हुआ। यह तात्कालिक सेवा है। पेशे वाले लोग तात्कालिक सेवाएँ रुपए के लिए किया ही करते हैं। निर्लोभ, निष्काम होकर ऐसी सेवा करना परमार्थिक प्रेम का लक्षण है।

यदि सेवा धमर्थि है, वस्तुत: धर्म या पुण्य के लिए भी नही है, अहैतुकी (अकारण) है, तो यह शुद्ध परमार्थ है, परन्तु ऐसी प्रीति जब मौज आए कर दी, उसके निर्वाह की कोई वृत्ति नही, तो इससे पूरा काम नही चल सकता। जहाँ भव रोग का शमन ही कार्य है, सेवा वर्षो तक या कई जन्मों तक भी चल सकती है। इस प्रेम को निभाना एक विशेष वृत्ति है, जिसके होने पर ही बद्ध जीव को मोक्ष तक पहुँचाना सन्त के लिए सम्भव होता है।

जिस प्रकार डाक्टर कठिन रोगी के इलाज में धैर्य पूर्वक बहुत दिन लगा रहता है, जिस प्रकार माता बालक की सेवा में वर्षो लगी रहती है, उसी तरह सन्त भी बहुत दिनों तक 'परमार्थी प्रीति' का निर्वाह करते हैं।

सिद्ध सन्त अपना काम तो कर ही चुके, अब दूसरों के लिए ही जीते हैं। उनके लिए परमारथी प्रीति लिए रहते हैं और यह प्रीति एक लहर मात्र नहीं होती, सन्त उस प्रीति का निर्वाह करते हैं।

इसमें बन्धन का आभास हो सकता है, परन्तु सन्त वास्तविक बन्धन को प्राप्त नहीं होते। बन्धक का नाटक सा हो सकता है।

श्री गोस्वामी जी ऐसे सन्तों को धन्य धन्य कहते हैं, जो सब बन्धनों से मुक्त होने पर भी इस प्रकार प्रीति बन्धन में बँधे से प्रतीत होते हैं, और ऐसी परमारथी प्रीति का निर्वाह करके जीवों का कल्याण करते रहते हैं।

दिव्य देह से या पार्थिव देह से भी जीवित बहुत से मुक्त सन्त पृथ्वी पर हैं, ये सब धन्य हैं, पर ऐसे धन्य कहीं कहीं [बिरले] ही मिलते हैं, जो दूसरों के [मोक्ष के] प्रयोजन के लिए 'परमारथी प्रीति' लिए है और निबहन्त (निभाते रहते हैं), अबोध, अज्ञानी जीवों के दोषों से ऊबकर या रुष्ट होकर उस प्रीति को छोड़ नहीं देते अन्त तक निभाते हैं।

प्रेम तत्व के मर्मज्ञों का कहना है कि प्रेम से बरी कोई नहीं है। सांसारिक लोग ममतावश हैं, जो प्रेम का मलिन रूप है। ऊँचे साधक लोगों की ममता या प्रीति भी भिन्न और उच्च स्तर की होती है। ममता का मैल छटता जाता है।

परन्तु मुक्त सन्त या भगवान् भी प्रेम के प्रभाव से बच नहीं सकते। सहज, निर्मल, निष्काम, स्थिर, निरभिमान प्रेम के बस में भगवान् भी हो जाते हैं, सन्त भी। यह प्रेम शुद्ध होने से ममता की तरह बन्धनकारी नहीं होता।

बात कुछ ऐसी है जितना शुद्ध जिसका अन्तःकरण होता है, उतना ही शुद्ध प्रेम का प्रभाव उस पर अधिक पड़ता है। शुद्ध अन्तःकरण ममता

मोह, वासना वाले बन्धन से छूट जाता है, परन्तु 'परमारथी प्रीति' के प्रतीतिमान् बन्धन में पड़ने के लिए तो वह योग्य पात्र बनता है । प्रेम की सरिता को कोई भी पार नहीं कर सकता ।

तुलसी न कोउ समरथ जो तरि तक, सरित सहज सनेह की ।

(रा०च०मा० अयोध्या काण्ड)

———

की मुख पट दीन्हें रहै, यथा अर्थ भाषन्त ।
तुलसी या संसार में, सो विचार युत सन्त ॥११॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि जो सन्त या तो मुख के पट (ओंठ) बन्द रखता है, या केवल यथार्थ (सत्य) भाषण करता है, वही विचारवान् सन्त है।

इस दोहे में वाणी का संयम (तप) सन्त का उत्तम लक्षण बताया गया है। यह वाक् संयम का सूत्र है।

श्रीमद्भागवत में कहा है—

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणं यच्छेन्द्रियाणि च।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूय: कल्पसे ध्वने॥
(११.१६.४२)

वाणी का संयम करो, मन का संयम करें, प्राण (वायु) का संयम करो, इन्द्रियों का संयम करो, आत्मनिग्रह करो, फिर संसार में नहीं लौटना पड़ेगा।

इसी प्रकार यति धर्म के प्रसंग में कहा है—

मौनानीहानिलायाम: दण्डा वाग् देह चेतसाम्।
न ह्येते यस्य सन्त्यंग, वेणुभिर्न भवेद्यति:॥
(११.१८.१७)

मौन, इच्छा रहित मन और प्राणायाम, यह वाणी, चित्त और शरीर के दण्ड हैं, यह जिसमें नहीं हैं, वह बांस के डण्डे को लेकर संन्यासी नहीं हो सकता।

मौन वाणी का निग्रह है। श्री गीता जी में शरीर, वाणी और मन के तप बताए हैं (१७.१४-१६)। वहाँ मौन को मानसिक तप में गिनाया है (१७.१६) वाचिक तप में नहीं। इसका भी कारण है। उपर्युक्त श्लोक में मौन वाणी का ही दण्ड माना गया है, परन्तु उसे मानसिक तप में गिनना भी ठीक है।

जीव दृश्यमान् (बाहर दिखाई पड़ने वाले) जगत् के पदार्थों में सुख का आभास पाकर बहिर्मुखी वृति अपनाता है। उनका मन बाहर के पदार्थों में सुख ढूंढ़ता हैं और आसक्त होता है। अनेक जन्मार्जित संस्कारों के कारण विषयासक्ति दृढ़ हुई है। इससे भोग पदार्थों के प्राप्त करने के विचार बनते हैं, विचार चेतन मन में भाषा का रूप लेते हैं। विचार प्रबल होने पर प्रकट होने का साधन ढूंढ़ते हैं। बोलना वह साधन है। यह कठिन ही है कि प्रबल संस्कार विचार का रूप ले ले पर वाणी में बिलकुल न आए। कभी कभी किसी भाव को छिपाने के लिए वाणी में उसे प्रकट नहीं करते, परन्तु ऐसी सावधानी सब समय और सब जगह नहीं रखते हैं। वचन से न कहे जाने पर भी भाव अन्य प्रकार से प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार जो संस्कार विचार में और वाणी में प्रतिष्ठित हो जाता है, उसका आचरण में न आना भी कठिन है। ऐसे सूफी सन्त कवि हुए हैं जिन्होंने शराब पर शेरें बहुत लिखीं पर शराब कभी नहीं पी। परन्तु यह इसलिए निभ गया कि इन सन्तों का मै या शराब से प्रयोजन आध्यात्मिक प्रेम की मदिरा था। लौकिक प्रणय या मैनोशी (शराब पीना) की शायरी करने वाले प्रायः 'मजाज़' की तरह पियक्कड़ हो गए। मुशायरों में भी शराब प्रचलित हो गई, यद्यपि धर्मतः वर्जित थी।

यदि किसी आचरण से अलग रहना है, उसका त्याग करना है, तो सन्तों का मत यह है कि उसका कथन करना भी बन्द हो जाना चाहिए। कभी कभी पुलिस अफसरों, वकीलों, जजों आदि को वर्जित आचरणों का जिक्र करना पड़ता है—कहकर या लिखकर या दोनों प्रकार से। इसमें कर्तव्य की विवशता हो सकती है, यद्यपि यह भी निरापद नहीं। शौक से ऐसी चर्चा करना, सुनना या पढ़ना घातक है, क्योंकि वह उन निषिद्ध आचरणों की प्रेरणा देता है।

दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यः।
(योगसूत्र १.१५)

देखे हुए (इस दुनियां में अनुभव किए हुए) व सुने हुए (परलोक के, शास्त्र चर्चा के सुने हुए या पढ़े हुए, परन्तु अनुभूत नहीं), ऐसे सभी विषयों में जो सुखाभास होता है, प्राप्ति की तृष्णा होती है, उसे बश में करने को वैराग्य कहते हैं।

तृष्णा को निर्मूल करने के लिए आवश्यक है कि उसकी पूर्ति का कार्यक्रम छोड़ा जाय। इसमें विचार का संयम, वाणी का संयम तथा इन्द्रियों का निग्रह करना होता है। यह एक भ्रम है कि केवल कर्म का संयम काफी है या सफल हो सकता है। वाणी और मन का संयम न करना, केवल कर्मों से अलग रहना, मूर्खता का कार्य है, यह गीतोक्त मिथ्याचार है (३.६), इन्द्रियों को मन से रोकना और इन्द्रियों से कर्मयोग में लगे रहना श्रेष्ठ है (३.७)। इन्द्रियों को मन से रोकना, यानी संयम का सच्चा मानसिक संकल्प होना। चेतन मन में यह संकल्प शब्दों में रहना चाहिए, अतः उसकी उल्टी भाषा मन में, विचार रूप में भी नहीं होनी चाहिए, फिर वाणी के रूप में, भाषा के माध्यम से कैसे प्रगट होगी? अनुच्चरित शब्द ही विचार है, उच्चरित विचार ही वाणी है।

तो पहले वाक् संयम चाहिए कि पाप की, निषिद्ध कर्मों की चर्चा न हो. फिर अन्यत: भी वाणी का संयम करना होगा। यथार्थ का जिक्र इसलिए भी किया गया है कि विषयासक्ति पूर्ण चर्चा के साथ पर-निन्दा, प्रपंच आदि जुड़े रहते हैं, जिनमें वाचिक सत्य का निर्वाह नहीं हो पाता। यथार्थ के अतिरिक्त वाणी का प्रयोग न करने से घातक, प्रपंच, विलास आदि की चर्चा बन्द होगी।

कवि का कहना है कि यथार्थ भाषण की आवश्यकता हो तभी जबान खुले, नहीं तो मुख पट बन्द रहे, ऐसा नियम विचारवान् सन्त निभाते हैं। मन की लहरें जो वाणी व कर्म के क्षेत्र में प्रभावी नहीं हो पातीं, क्षीण होती जाती हैं। इसी से कहा 'वाचं यच्छ, मनो यच्छ' वाणी का संयम करो मन का संयम करो।

मौन में प्राय: बोलना बिलकुल बन्द कर देते हैं, मौन के नए साधक व्रत को भूलकर बोल पड़ते हैं, इससे भी स्पष्ट होता है कि विचारों का वेग सहज ही वाणी में प्रकट होता है। सच्चा मौन तो वह है जिसमें विचारों का प्रवाह ही शान्त हो जाय। वैसा होने पर बोलने की प्रेरणा नहीं होगी। व्यवहार न रुके, न बिगड़े, उतने के लिए कुछ लोग मौन में इशारे से या लिखकर बात करने की छूट रखते हैं, कोई शास्त्र वचनों के उच्चारण या भगवन्नाम उच्चारण या कथा, प्रवचन सम्बन्धी छूट भी रखते हैं। यदि लिखने की आवश्यकता हो तो नपे तुले शब्द कह ही क्यों न दिये जायँ ? खतरा केवल यह है कि पचास शब्द लिखने के स्थान पर सम्भवत पाँच सौ शब्द बोले जायेंगे। मौन शिथिल होगा।

वाणी का स्वच्छन्द प्रयोग करने वाले लोग असत्य से नहीं बच पाते। बहुत बार तो विकृत प्रस्तुति में, असत्य कथन में, ही उनका सुख

रहता है, इसलिए 'यथार्थ' का नियम वाणी के प्रयोग को काफी कम कर देगा।

दोहे से एक ध्वनि और भी निकलती है। विद्वान् को, लेखक को, व्याख्याता को, पत्रकार को, नेता को, 'शब्द झड़ी' का शौक हो सकता है, सहज ही होता हैं, परन्तु असावधानी का क्षेत्र बन जाता है। जहाँ हजारों शब्द बोले या लिखे जा रहे हैं, यह खतरा रहता है कि पूर्वापर विरोध आ जाय, या ऐसा विरोधाभास हो, असावधानी से हम वह बात कह जायँ, जो कहने का इरादा नहीं था, औचित्य भी नहीं था, अथवा ऐसे शब्दों में कोई बात कह जायँ कि अतिरजना, अतिशयोक्ति, लघूक्ति, श्लेषादि के कारण विभ्रम, वक्ता के मन्तव्य के विरुद्ध अर्थ ग्रहण की सम्भावना, या वक्ता के विषय में किसी पक्ष, मत या वाद के अनुकूल या प्रतिकूल होने की कल्पना होने लगे। अत: बोलने या लिखने में शब्द बाहुल्य, विद्वान् या पांडित्य-प्रधान व्यक्ति का लक्षण भले ही हो, विचारवान् दार्शनिक, सन्त या ऋषि का लक्षण नहीं है।

जब हमारे वक्तव्यों या लेखों में शब्द बहुत होते हैं तो यह कठिन् होता जाता है, कि एक एक शब्द सोच समझकर बोलें या लिखें। असावधानी से बोलना या लिखना सत्यव्रती के लिए ठीक नहीं। विचारवान् पुरुष वाणी का व्यर्थ, अक्षम, अनिष्टकारी, असत्य प्रयोग नहीं करना चाहता। कटु सत्य का अनावश्यक प्रयोग सन्त नहीं करते, न माधुर्य के लिए झूठ बोलते हैं।

सत्यं व्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न व्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात्, एष धर्मं सनातनः ।।

(मनुस्मृति ४.१३८)

सत्य कहे, प्रिय कहे, अप्रिय सत्य न कहे, प्रिय असत्य भी न कहे, यही सदा से चला आ रहा धर्म है ।

देशकाल अवसर अनुसारी । बोले वचन विनीत विचारी ।।

(रा०च०मा०)

कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी । जागत सोवत शरण तुम्हारी ।।

(रा०च०मा०)

श्री गीता जी में भी वाणी का तप बताया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते ।।

(१७.१५)

उत्तेजित न करने वाला, सत्य प्रिय व हितकारी वचन बोलना, स्वाध्याय व विद्याभास में वाणी का प्रयोग करना, वाणी का तप है ।

इस तरह ठीक से समझने पर, दोहे में जो वाणी निग्रह का सूत्र दिया है, उसके अन्तर्गत सिर्फ जान बूझकर झूठ न बोलना ही काफी नहीं है, संयमित वाणी के अन्य लक्षण भी हैं. जो सत्य व अहिंसा से सम्बन्धित ही हैं । आगे कवि ने इन लक्षणों का वर्णन किया भी है, यथा—"बोलै वचन विचारि कै, लीन्हे सन्त-सुभाव । (छन्द १२), बोलै समता माहिं (१३) । सन्त का मन निर्विकार होता है, अत: वाणी भी निर्विकार होती है, क्रोधादि से युक्त नहीं होती । श्री दोहावली जी में कहा—

रोष न रसना खोलिए, बरु खोलिय तरवारि । सुनत मधुर, परिणाम हित, बोलिय वचन विचारि ।। ४३५ ।। मधुर वचन कटु बोलिबो, बिनु श्रम भाग अभाग । कुहू कुहू कलकण्ठ रव, काका कर

रत काग ।। ४३६ ।। पेट न फूलत विनु कहे, कहत न लागै देर ।
सुमति विचारै बोलिए, समुझि कुफेर, सुफेर ।। ४३७ ।।

जिन लोगों की शास्त्र वासना प्रबल है, उन्हें बहुत कुछ कहने या लिखने की इच्छा हो सकती है, परन्तु शास्त्र वासना प्रबल होना सन्त का लक्षण नहीं है। सन्यास में शास्त्र वासना का भी त्याग है। शास्त्र बासना से अनेक उपादेय ग्रन्थों का प्रणयन होता है, इसलिए उसका सामाजिक उपयोग है। तथापि सन्त उससे भी मुक्त होता है। ऐसे अनेक सन्त हुए हैं और हैं जो धुरन्धर विद्वान् हैं, परन्तु जिन्हें अपनी विद्या के प्रदर्शन की प्रेरणा बिलकुल नहीं है। उन्हें यह नहीं जान पड़ता कि वे कोई ग्रन्थ लिख देंगे तो बड़ा भारी लोकोपकार हो जायेगा। आवश्यकता हुई तो पहले से ही लिखे हुए ग्रन्थों का संकेत देकर काम चला लेते हैं। इसी प्रकार यह देखा गया है कि कभी कभी अशुभ पक्ष का उत्थान देखकर सन्त को यदि उसके प्रतिकार की आवश्यकता जान पड़ी, तो वे किसी शास्त्रार्थी पण्डित को प्रेरणा दे देते हैं, स्वयं तो 'वादो नावलम्ब्य:। (भक्ति सूत्र) का ही अनुसरण करते हैं, वाद विवाद (बहस) में नहीं पड़ते। ऐसे बहुत से दृष्टान्त मिलते हैं जब सन्तों ने विबाद से बचकर थोड़े से शब्दों से काम निकाला। मितभाषी होना सन्त का लक्षण है।

तथापि, केवल बहुत प्रवचन करते देखकर या अनेक ग्रन्थों के लेखन को देखकर सन्तपने को असिद्ध नहीं मानना चाहिए। क्योंकि ऐसा सम्भव है कि ऐसा कार्य भगवदीय लीला या प्रेरणा से या सन्त की प्रेरणा से हो, वह शास्त्र वासना का प्रतीक या प्रमाण बिल्कुल न हो। स्वाध्याय या प्रवचन आदि में लगे हुए लोग प्राय: समाज के लिए बहुत उपयोगी होते हैं। तैत्तरीय उपनिषद् में उपदेश भी है कि स्वाध्याय प्रवचन में प्रमाद नहीं करना चाहिए। श्री शंकराचार्य, श्री बल्लभाचार्य

श्री रामानुजाचार्य आदि के महान् ग्रन्थ भगवत्कृपा के प्रसाद हैं, वरदान स्वरूप हैं, उन्हें शास्त्रवासना से प्रणीत मानने की भूल कभी नहीं करनी चाहिए। स्वयं गोस्वामी जी ही अनेक बड़े और छोटे ग्रन्थों के लेखक हैं, परन्तु अपने मर्यादावाद के लिए अप्रतिम यश के भागी हैं और अपने ग्रन्थों से ऐसे ही सिद्ध हुए हैं कि—

सावधान मानद मद हीना। धीर धरम गति परम प्रवीना।

सन्त जब बोलते हैं या लिखते हैं, तो इन सन्त लक्षणों से कदापि च्युत नहीं होते।

लगभग पचास बर्ष पहले की बात है कि एक सन्त अपने एक कृपापात्र को मित भाषण का उपदेश कर रहे थे। उन्होंने कहा कि पैसा चाहे फालतू भी खर्च हो जाय, शब्द फालतू नहीं खर्च करना चाहिए। कम से कम वोलना चाहिए। इसके प्रमाण में उन्होंने वै०सं० का प्रस्तुत दोहा उद्धृत कर दिया। जिज्ञासु श्रोता ने तुरन्त प्रश्न कर दिया कि इस दोहे में तो केवल सच बोलना लिखा है, कम बोलना तो नहीं लिखा है? इस दोहे के अनुसार तो सच बोलता हुआ कोई चाहे जितना बोले, अधिक बोलने का कोई रोक नहीं है। मान्य भक्तप्रवर सन्त ने जिज्ञासु के समाधान के लिए इन प्रश्न का जो उत्तर दिया वह इस दोहे पर अनूठा और चिरस्मरणीय भाष्य रूप ही था, यद्यपि थोड़े से ही शब्दों में था।

सन्त ने कहा—श्रीमद्भागवत में तो यह कहा है कि—

वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च।

(११.२८.४.)

'वाणी से जो निकला वह झूठ है, मन से ध्यानं किया हुआ भी झूठ है।' (यथा रामचरित मानस में—गो गोचर जहँ लगि मन जाई।

सो सब माया जानेहु भाई ।।) जब यह सब झूठ ही है, तो आपने इस झूठ को दो भागों में बाँट रक्खा है—

सच झूठ और झूठ झूठ ?

श्रीमद्भागवत में इसी अध्याय में प्रारम्भ में उपदेश किया गया है कि—

पर: स्वभाव कर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ।।
(११.२८.१)

पर: स्वभाव कर्माणि य: प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनेशत: ।।
(११.२८.२)

दूसरे के स्वभाव या कर्मों की प्रशंसा या निन्दा नहीं करनी चाहिए, सारा विश्व भगवान् का रूप देखना चाहिए। जो दूसरे के स्वभाव व कर्मों की प्रशंसा या निन्दा करता है वह असत्य भाव के वश होकर शीघ्र ही अपने असली स्वार्थ (हित), परमार्थ दृष्टि, से भ्रष्ट हो जाता है ।

गुण अवगुण त्रिगुणात्मिका माया के परिणाम हैं, वास्तविक या सत्य नहीं—

गुण दोष दृशिर्दोषो, गुणस्तूभय वर्जित: ।
(श्रीमद्भागवत ११.१९.४५)

सुनहू तात माया कृत गुण अरु दोष अनेक ।
गुण यह उभय न देखिये, देखिय सो अविवेक ।।
(रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)

वाणी के अपरिमित प्रयोग से गुण दोष का विस्तृत विवेचन होगा, उससे यह गुण वास्तविक मालूम होंगे, मायामूलक नहीं, संसार के सत्य होने का भाव दृढ़ हो सकेगा और सबको भगवद्रूप (वासुदेव: सर्वम् गीता ७.१९) की भावना दूर होगी। तब परमार्थ दृष्टि हट जायगी और अपना असली काम बिगड़ जायगा।

इसलिए सन्त सांसारिक विषयों के विश्लेषण में, आलोचना में प्रवृत्त नहीं होना चाहते और अति मितभाषी होना पसन्द करते हैं।

जिनकी पमार्थ दृष्टि पक्की है वे भगवत्प्रेरणा से, गुरु आज्ञा से, तत्व विवेचन प्रस्तुत कर सकते हैं, लोकसंग्रहार्थ प्रवचन या ग्रन्थ प्रणयन कर सकते हैं, परन्तु व्यक्तिगत रागद्वेषादि से परे ही रहते हैं। साधारण बोल चाल में भी वे अत्यन्त मित भाषी होते हैं।

श्री रामकृष्ण परमहँश जी ने अपने उपदेशों में कहा है कि जैसे दावत में लोग पापड़ पहले खाते हैं, जिसमें कुरकुराहट की आवाज खूब होती है, बाद में और चीजें खाते हैं, जिनमें आवाज कम होती हैं, और अन्त में पानी पीते हैं, जिसमें आवाज नहीं होती, उसी प्रकार प्रारम्भिक साधक की बुद्धि में तर्क बहुत रहता है, फिर कम होते हुए शान्त हो जाता है। विचार प्रवाह के धीमे होने का दृश्य लक्षण मितभाषण है। सन्तों में विचार का वेग नहीं गांभीर्य होता है। वही गम्भीरता उनकी बोलचाल में भी प्रकट होती है।

बोलै बचन विचारि कै, लीन्हें सन्त सुझाव।
तुलसी दुख दुर्वचन के, पन्थ देत नहिं पाँव ।।१२।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि सन्त, सन्त स्वभाव धारण किए रहता है, विचार करके ही वचन बोलता है, दुख देने या दुर्वचन कहने वाले रास्ते पर कभी पैर नहीं रखता।

तीन दोहे (छन्द सं० ११, १२ व १३) वाणी से सम्बन्ध रखते हैं। पहले सन्तों का यथार्थ भाषण और मित भाषण बता चुके, अब यहाँ छन्द १२ में बताते हैं कि सन्त वचन सुविचारित, सुखद और शिष्ट होते हैं।

श्री रामचरित मानस में भक्त लक्षण है कि—

कहहिं सत्यप्रिय वचन विचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी ।।
(अयोध्याकाण्ड)

विचारपूर्वक बोलना मित भाषी होने का कारण भी है, प्रभाव भी।

सन्त स्वभाव लिए हुए बोलना, अर्थात् सन्तोचित भावनाओं से ही प्रेरित होकर भाषण करना। पहले ही कह चुके हैं कि सन्त अति शीतल, अति सुखदाई होते हैं। इसलिए 'शीतल बानी सन्त की' (छन्द २१)। शीतल अर्थात् क्रोध, आमर्ष, शोक, द्वेष, ईर्ष्या आदि विकारों से रहित। इसलिए भी शीतल मान्य है कि त्रयतापहारिणी है (छन्द २१)। सन्त

की वाणी अति सुखदाई भी है क्योंकि भवदुःख की शामक है। सन्त शमदम से युक्त रहते हैं, इसलिए उनकी वाणी भी शान्ति से भरी रहती है। शान्त रस ही उनकी वाणी में प्रधान है और वह वाणी शान्ति दायक भी होती है।

सन्त विचार करके बोलते हैं क्योंकि वे वाणी का प्रभाव जानते हैं, इसलिए उसका अत्यन्त सावधानी से प्रयोग करते हैं, लापरवाही से न बोलते हैं, न लिखते हैं। साधारण जन वाणी के प्रयोग में स्वच्छन्दता बरतते हैं। न वे यह सोचते हैं कि वाणी के प्रयोग में शक्ति का काफी खर्च होता है, न वे यह सोचते हैं कि वाणी के ही प्रयोग से कितने अनर्थ मिट सकते हैं या हो सकते हैं। साधारण मनुष्य इन बातों से अनभिज्ञ और इनकी ओर से लापरवाह रहता है, इसलिए भी वह बहुत से दुःख भोगता है अथवा दूसरों को दुःख देता है।

सच्चे सन्त विरक्त तो होते हैं, परन्तु सच्चे वैराग्य का यह अर्थ नहीं है कि हम दूसरों के सुख दुःख की परवाह न करें। सज्जनता सन्त स्वभाव का आवश्यक लक्षण है, दूसरों को अपने से सुख मिले, दुख न मिले इसका सज्जन को बराबर विवेक रहता है।

वाणी के अविचारपूर्ण प्रयोग से कितनी हानि होती है, इसके उदाहरण जीवन में बहुत मिलते हैं, परन्तु अविवेकी उन पर ध्यान नहीं देते, उन उदाहरणों से कुछ सीखते नहीं। भीम ने दुर्योधन पर जो व्यंग्य किया था वह भी महाभारत का कारण था, जैसे द्रौपदी का अपमान। वाणी के कुशल व सौम्य प्रयोग से लड़ाइयाँ होते होते रुक गई हैं, घर टूटने से बच गए हैं, स्वार्थी भी दानादि में प्रवृत्त हुए हैं, त्रासक भी रक्षक बने हैं। साधारण दैनिक जीवन में सौम्य और मधुर वाणी का प्रयोग करने वाला बहुत बार मैत्री को ध्वंस होने से बचा लेता है और शत्रुता बनने नहीं देता। दोहा प्रसिद्ध है कि–

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण एक मन्त्र है, तज दे वचन कठोर ।।

(दोहावली)

साधारण मनुष्य को यह प्रतीत नहीं होता कि चिन्तन, मनन, भाषण या लेखन में शक्ति खर्च होती है, लेकिन कौन नहीं जानता क्रि कमजोर मरीजो को बात करने से भी मना किया जाता है, यदि ऐसे मरीज बातचीत न करें परन्तु गणित, तत्वज्ञान, विज्ञान, ज्योतिष, राजनीति या समाज की जटिल समस्याओं पर चिन्तन करते रहें तो भी उनकी बदपरहेजी हो जायगी, और नुकसान पहुँचेगा। इसीलिए डक्टर लोग व अन्य हितेच्छु नहीं चाहते कि बीमार विद्वानों से लोग गम्भीर परामर्श करें। गहरी नींद में वाणी का प्रयोग नहीं होता तो आराम मिलता है और स्फूर्ति आती है। यदि स्वप्न चलता रहे तो उतना आराम नहीं मिलता, शक्तिक्षय होता है। तब वैसी स्फूर्ति नहीं आती। जो विचार करके बोलता है वह शक्ति के अपव्यय से बचता है।

बड़े बड़े वकीलों और डाक्टरों की, कम से कम अपने पेशे के काम में, सोच विचार करके बोलने या लिखने की आदत पड जाती है। कोई डाक्टर किसी रोगी को देखकर यदि यह समझ लेता है कि वह अच्छा नहीं हो सकता और शीघ्र ही मर जायेगा तो भी वह रोगी से ऐसी बात नहीं कहता। कभी कभी उसके सम्बन्धियों को अपनी सम्मति बता देता है, सदैव उनसे भी नहीं बताता। अक्सर वह कुछ इस तरह की बात करता है—

रोग गहरा है, अस्पताल में प्रविष्ट कराना, अच्छा होगा। मुझे ठीक समझ में नहीं आ रहा है कि क्या इलाज हो, किसी बड़े डाक्टर को बुला लीजिये।

मरीज बहुत परहेज कर चुका, जब उससे फायदा नहीं होता तो अब जो वह माँगे खाने को दीजिए।

यदि डाक्टर आसन्न मौत की घोषणा कर दे तो रोगी की व उसके सम्बन्धियों की घबराहट बढ़ सकती है, और वह मृत्यु को और जल्दी ला सकती है। यदि डाक्टर की भयानक भविष्य वाणी किसी कारण ग़लत निकल जाय तो डाक्टर की भयानक बदनामी हो सकती है, और इसलिए डाक्टरों को सोचकर बोलना पड़ता है।

एक बच्चे का जन्म हुआ। एक प्रसिद्ध ज्योतिषी से उसकी जन्म पत्री बनाने को कहा गया। उन्होंने कहा इसकी जन्मपत्री अभी नहीं बनाएँगे, जब यह पन्द्रह सोलह वर्ष का हो जायगा तब बनाएँगे। उस आयु को पहुँचकर वह बालक मर गया। तब अनुमान हुआ कि उन्होंने जन्मपत्री क्यों नहीं बनायी थी।

शब्द चयन का महत्व और कुशल शब्द-प्रयोग का प्रभाव—इसके उदाहरण प्रशासन के क्षेत्र में और वकालत में इतने अधिक मिलते हैं कि उनका विशाल संग्रह ग्रन्थ बन सकता है। यहाँ वैसे उदाहरणों का विशेष उल्लेख उपयुक्त न होगा।

रजोगुण के प्रभाव से यह प्रवृत्ति होती है कि बात को प्रभावशाली बनाने के लिए उग्र व ओजस्वी भाषा प्रयुक्त की जाय। परन्तु जिसे सम्बोधित किया जा रहा है या जो उसका लक्ष्य है, उस पर उस शब्दावली का क्या असर पड़ेगा (अनुकूल या प्रतिकूल ?) इसका भली भाँति विचार नहीं किया जाता, क्योंकि जोश अधिक होने से होश कम हो जाता है। सन्त कभी ऐसे जोश या तैश में नहीं बोलते। शायर बहादुर शाह 'ज़फ़र' ने कहा है—

जफ़र आदमी उसको न जानियेगा, हो वो कैसा ही साहबे इल्मो वक़ा ।
जिसे ऐश में यादे खुदा न रही, जिसे तैश में खौफ़े खुदा न रहा ॥

'ज़फ़र' साहब कहते हैं कि कोई कितना ही शक्तिशाली व विद्वान हो, यदि वह वैभव विलास में पड़कर भगवान् को भूल जाता है या आवेश में आकर भगवान् का भय छोड़ देता है, तो वह इस योग्य नहीं कि मानव समझा जाय ।

सन्त आवेश में नहीं बोलते, रागद्वेष रहित सम भाव में रहते हैं, किसी को शत्रु या मित्र नहीं मानते (छन्द १३), इसलिए उनकी वाणी निर्विकार रहती है । उनका विवेक जागृत रहता है और विचार-शक्ति सक्षम रूप से क्रियमाण रहती है । किस शब्द का क्या प्रभाव होगा इसे सोचकर ही वे उसका प्रयोग करते हैं ।

सन्त वाणी का व्यर्थ प्रयोग नहीं करते । सही बात हो, परिमार्जित नपे तुले शब्दों में हो, उग्र भी न हो, तो भी यदि उससे काम न बनता हो, कुछ लाभ न होता हो, सुधार न होता हो, तो ऐसी बात क्यों की जाय ? सन्त वाणी का सफल प्रयोग करते हैं, निष्फल (व्यर्थ) नहीं ।

दूसरों के गुण दोषों का विवेचन अनावश्यक होने पर त्याज्य ही है, भगवच्चिंतन का बाधक है । श्री भागवत् माहात्म्य मे कहा है—

अन्यस्य दोष गुण चिन्तनमाशु त्यक्त्वा, सेवा कथा रसमहो नितरां पिब त्वं । (४.८०)

पराए दोष गुण का चिन्तन तुरन्त छोड़ दो, भगवत्सेवा और भगवत्कथा का रस बराबर पीते रहो ।

वाणी का प्रयोग सार्थक व्यर्थ या अनर्थकारी होता है। सन्त केवल सार्थक प्रमोग करते हैं। 'सुनत मधुर परिणाम हित' ऐसी वाणी का प्रयोग हो तो करें, नहीं तो मौन रहें, या भगवान् के नाम व गुणग्राम का उच्चारण करें। मेढक की सी टर्र टर्र क्यों करें ?

जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत्त न चोपगायत्युरुगाय गाथा ।।

(श्रीमद्भागवत् २.३.२०)

जो नहिं करइ राम गुनगुाना । जीह सो दादुर जीह समाना ।।

(रा०च०मा० बालकाण्ड)

सन्त 'सबके प्रिय सबके हितकरी' होते हैं, अत: उपकारी वचन ही बोलते हैं, अपकारी वचन नहीं बोलते ।

'सीयराममय' जगत् देखने वाले सन्त किसी से द्वेष, विरोध नहीं करते—

'निज प्रभुमय देखहिं जगत्, का सन करहिं विरोध ? ।'

(रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)

यह विचार सही नहीं है कि सक्षम (समर्थ) समझाने वाला हो तो सही बात किसी को भी समझाई जा सकती है। श्रीकृष्ण स्वयं दूत बनकर गए तो भी दुर्योधन उनके समझाने से न समझे ।

फूलहिं फरहिं न बेत, यदपि सुधा बरषहिं जलद ।
मूरख हृदय न चेत, जौं गुरु मिलहिं विरंचि सम ।।

(रा०च०मा०)

विकारग्रस्त व्यक्ति की पात्रता नहीं रहती कि वह सत्य को ग्रहण कर सके। दृढ़ संस्कार केवल समझाने से नहीं बदलते। इसलिए जहाँ समझाना बेकार है, सन्त समझाने में प्रवृत्त नहीं होते ।

सन्त जानते हैं कि होनहार के अनुरूप ही लोगों के संस्कार व आग्रह फलित होते हैं, 'हरि इच्छा भावी बलवाना' उसको उलट देने का बीड़ा सन्तों ने नहीं उठाया है। ऐसे उदाहरण तो मिलते हैं कि सन्त की महिमा से भावी भी बदल गया परन्तु जब भरत जी ने श्री वसिष्ठ जी से कहा—

सो गोसाइँ विधि गति जेहि छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेको।।

(अयोध्याकाण्ड)

तो श्री वसिष्ठ जी ने कहा—

तात बात फुर राम कृपाहीं। राम विमुख सिधि सपनेहु नाहीं।।

वैसा चमत्कार भी भगवत्कृपा से ही होता है, भगवदीय शक्ति का प्रतिकार करके नहीं।

जहाँ प्रबल प्रारब्ध फलित होने वाला है, समझाने से समझ में नहीं आता, वहाँ सन्त समझाने का प्रयास नहीं करते।

मारेहु कहे न संशय जाहीं। विधि विपरीत भलाई नाहीं।।

(श्री शंकरजी का वचन, रा०च०मा० बालकाण्ड)

ऐसे सन्दर्भ में त्रिभुवनगुरु श्री शंकर जी ने भी यही विचार स्थिर किया कि—

होइहै सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क वढ़ावइ शाखा।।

जहाँ सन्तो की शक्ति से चमत्कार होता हुआ दिखाई देता है, वहाँ प्राय: लाभान्वित व्यक्ति की श्रद्धा की भूमिका रहती है, अथवा प्रभु की विशेष लीला। नहीं तो—

अवश्यम्भावि भावेषु प्रतीकारो न विद्यते।
(देवीभागवत ३.२५.३)

कह मनीस हिमवन्त सुनु, जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार।।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

अपात्र को उपदेश करने में अग्रहण, विकृतग्रहण, दुरुपयोग आदि की आशंका रहती है, इसलिए भी सन्त जन विचार करके ही बोलते हैं।

उपर्युक्त बातों को सोचकर तो यह मालूम होने लगता है कि इतना विचार विवेक रखकर बोलना तो सम्भव नहीं है, परन्तु जहाँ सन्त स्वभाव है, वहाँ यह सब सहज ही सध जाता है फिर दीर्घ काल के अभ्यास से दृढ़ और स्थिर हो जाता है। सन्त के लिए वही स्वाभाविक है, विपरीत आचरण अशक्य है। श्रीरामचन्द्र जी ने अंगद को रावण के पास दूत बनाकर भेजा तो उस समय भी कहा–

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई।।

इससे युद्ध और विजय में कोई बाधा नहीं पड़ी।

प्रस्तुत दोहे में यह भी कहा है कि सन्त दुःख व दुर्वचन के रास्ते में पैर नहीं रखते। वे ऐसे वचन नहीं बोलते कि किसी को दुःख हो, दुर्वंचन (अशिष्ट शब्द, अपमानजनक शब्द, गाली गलौज के शब्द, फटकार के शब्द) वे बिलकुल नहीं कहते।

यह सन्त स्वभाव का ही प्रभाव है कि सन्त अपराधियों, पापियों, दुष्टों का भी मन दुःखी नहीं करना चाहते। वे श्री हनुमान् जी की भाँति

शूरबीर पराक्रमी हो सकते हैं, परन्तु कर्तव्य पालन के अतिरिक्त, कठोर वचन या ठूस बोलकर किसी का चित्त दुःखी नहीं करते।

वे 'अनुद्वेगकरं वाक्यं' (गीता १७.१५) का प्रयोग करते हैं, ऐसा बोलते हैं कि किसी को उत्तेजना न हो, न शोक उमड़े, न क्रोध आवे, न चित्त में कोई आवेश उठे।

यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकोन्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्ष भयोद्वेगै र्मुक्तो यः स च में प्रियः॥
(गीता १२.१५)

सन्त को न जगत् उत्तेजना दे पाता है, न उसकी वाणी से उत्तेजना प्राप्त कर पाता है।

जो जिस वस्तु का व्यापारी है, वह वही वस्तु रखता है, उसकी विरोधी वस्तु नहीं रखता। वैसा करना उसके व्यापार का साधक नहीं बाधक होता है। सन्त विकार, निवारण, समता, शान्ति, मोक्ष के व्यापारी हैं। इसलिए यदि उन्हीं से, उन्हीं के वचनों, से उद्वेग, शोक, क्रोध आदि प्राप्त है, तो यह उनके व्यापार (कार्य) के विपरीत होगा। दूसरों से उत्तेजक व्यवहार प्राप्त होने पर भी सन्त उत्तेजित नहीं होते और अपनी ओर से उत्तेजना देते नहीं। यही शमदम का उत्तम प्रचार है।

किसी प्रकार का दुर्वचन भी सन्त नहीं कहते। दुर्वचन क्रोध, शोक, मोह, आदि किसी विकार के प्रभाव में ही कहे जाते हैं। अथवा कुछ लोग प्रमाद में अभ्यासवश भी दुर्वचन कहते हैं। आजकल तो यह भी देखा गया है कि घनिष्ठ मित्र भी आपस में गाली गलौज से बात करते हैं और बुरा नहीं मानते। परन्तु सन्त हल्के दिल से, हँसी मजाक के बहाने

या अभ्यास वश भी अश्लील शब्द या अपशब्द नहीं कहते। वे दुर्वचन के मार्ग में पैर ही नहीं रखते तो उन्हें दुर्वचन का अभ्यास कैसे हो सकता है ?

यहाँ सन्त के स्वाभाविक आचरण व सम्भाषण का वर्णन है। अपवाद स्वरूप कभी कभी सन्त अपने को छिपाने, अपने यश को घटाने या मिटाने अथवा लोगों की भीड़ भाड़ को न जमने देने के लिए, अपने स्वभाव के विपरीत आचरण करते या भाषण करते देखे गए हैं। यह उनका ऊपरी स्वाँग सा होता है, सच्चे श्रद्धालु साधकों के प्रति वे सच्चे सन्त के रूप में ही बरतते दिखाई देते हैं।

'मुस्लिम सन्तों के चरित' (फ़ारसी में तज्कर्तुल् औलिया नामक मूल पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर), की एक कथा है। एक भक्त के पास एक अति सुन्दरी दासी थी। उन्हें कई मास के लिए बाहर जाना था अत: उन्होंने अपने एक विश्वस्त मित्र, भगवद्भक्त, की सिपुर्दगी में उसे रख दिया और चले गए। ये भक्त पथ भ्रष्ट तो नहीं हुए, परन्तु उन्हें ध्यान में विक्षेप हुआ क्योंकि दासी का सौन्दर्य ध्यान में आ जाता था। विक्षेप दूर करने के लिए उन्होंने अपने अन्य भक्त मित्रों से सलाह ली पर विक्षेप-शमन न हो सका। तब एक सज्जन ने उन्हें सम्मति दी कि आप अमुक सन्त से मिलें जो काफी दूर पर अमुक शहर में रहते हैं। वे बताये पते पर गये। वहाँ लोगों ने कहा—इस नाम का आदमी तो इस पते पर रहता है पर वह तो बड़ा दुष्ट है, आप उसे सन्त कहते हैं। सभी के ऐसा कहने पर वे सन्देह में आ गए और लौट गए। परन्तु सम्मतिदाता सज्जन ने उन्हें फिर भेजा और कहा कि आप उनसे सीधे मिलें, उनके बारे में लोगों की राय न सुनें। वे पुन: गए और उन सन्त से मिले। उन्हें उनके पास एक शराब की बोतल रक्खी मिली और एक टूटा सा शराब का प्याला। मारे अदब के वे इसके बारे में कुछ

न पूछ सके। अपनी समस्या बताई और उसका सन्तोषजनक समाधान सन्त से प्राप्त किया। अन्त में चलते चलते उन्होंने पूछ ही दिया। 'आप यह बोतल और प्याला रखते हैं? क्यों? 'सन्त ने कहा' 'यह शराब की बोतल थी, अब इस खाली बोतल में पानी रखता हूँ और पीता हूँ, आपको कोई एतराज है? इसी तरह इस टूटे प्याले से खप्पर का काम निकालता हूँ, इसी में भोजन करता हूँ। भक्त ने कहा, 'महाराज, ऐसी बातों से आपकी बड़ी बदनामी है, सब आपकी निन्दा करते हैं।' सन्त ने कहा, 'इससे मेरा क्या हर्ज है। इसमें मेरी रक्षा है। आपको सब बहुत अच्छा समझते हैं, इसी से तो आपके मित्र ने अपनी सुन्दरी दासी आपका यहाँ पहुँचा दी और आपको विक्षेप हुआ! मुझे सब अति दुष्ट समझते हैं, तो मेरे यहाँ तो कोई अपनी सुन्दरी दासी नहीं पहुँचाएगा।' भक्त यह सुनकर अवाक् रह गए और चुपचाप लौट आए।

अपवाद स्वरूप ऊपरी दिखावटी व्यवहार अविचारणीय है। सन्त का स्वाभाविक आचरण शिष्ट, सुखद, उपकारी, हितकर, मृदु होता है और वाणी सुविचारित, सुखद, हितकर और मर्यादापूर्ण होती है। इसी में लोक संग्रह है।

———

शत्रु न काहू करि गनै, मित्र गनै नहिं काहि।
तुलसी यह मत सन्त को, बोलै समता मांहि ॥१३॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि सन्तों का सिद्धान्त यह है कि वे समता का भाव रखते हुए ही बोलते हैं, न किसी को शत्रु समझते हैं, न मित्र मानते हैं।

सन्तों में समत्व दृष्टि रहती है, रागद्वेष से रहित होते हैं, स्वपक्ष, परपक्ष, शत्रु, मित्र आदि द्वन्द्वों से अलग होकर ही बोलते हैं, इसी लक्षण को यहाँ प्रमुख रूप से अंकित किया गया है।

सन्त इसी संसार में रहते हैं, परन्तु निर्लेप रहते हैं, कोई कोई सन्त लौकिक व्यवहार से अलग वन, पर्वत या तीर्थ में सन्यासपूर्वक रहते हैं, कोई गृहादि या मठादि के व्यवहार से युक्त रहते हैं, परन्तु व्यवहार में रहकर भी उससे निर्लिप्त रहते हैं। इसीलिए यह कहा गया है कि पद्मपत्रमिवाम्भसा (गीता ५.१०) 'पद्म पत्र जिमि जग जल जाए।' (रा०च०मा०)

सन्त उसी तरह संसार में रहते हैं, जैसे जल में कमल। जगत् में त्यागी सन्तों के भी विरोधी, शत्रु, प्रतिरोधी, अश्रद्धालु, निन्दक आदि होते हैं; केवल श्रद्धालु, सेवक, भक्त, शिष्य आदि होते हैं, ऐसा नहीं है। साधारण दृष्टि से जब अनुकूल प्रतिकूल लोग मिलेंगे और उनका

सुखद और दुखद व्यवहार होगा तब स्वपक्ष, परपक्ष बन जाना स्वाभाविक है और मित्र शत्रु दृष्टि भी बनेगी। तब मित्र से सौहार्दपूर्ण वार्ता होना और विपक्षी से तटस्थ भाव से या विरोध भाव से बातचीत होना भी स्वाभाविक हैं। संसार के व्यवहार को सत्य और महत्वपूर्ण मानकर चलने से ऐसा ही होगा। परन्तु सन्त की भूमिका ही भिन्न होती है। भावभेद से भाषाभेद और व्यवहार भेद भी होता है।

सन्तों की यह धारणा होती है कि अन्य जीव केवल कर्मफल के वाहक हैं, असली दाता नहीं है।

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता।।
योग वियोग भोग भल मन्दा। हित अमहित मध्यम भ्रम फन्दा।।
जनम मरन जहँ लगि जग जालू। सम्पत्ति विपति करम अरु कालू।।
धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि व्यवहारु।।
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं।।

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे हानि न लाभ कछु, त्रिमि प्रपंचु जिय जोइ।।
अस विचारि नहिं कीजिय रोसू। काहुहिं वादि न देइय दोसू।।
(रा०च०मा० अयोध्याकाण्ड ९२)

इसी प्रकार श्री वसिष्ठ जी का वचन है—

'हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस विधि हाथ।'
(अयोध्याकाण्ड)

अपना मन ही संकल्प का कारण है, संकल्प राग द्वेष का कारण है, राग द्वेष सकाम कर्म का कारण है, पुण्य पाप कर्म सुख दुःख का कारण है,। अतः मन ही अपने सुख दुःख का कारण है, 'मनः परम कारण-मामनन्ति' (श्रीमद्भागवत ११.२३.४३)।

प्रारब्ध वशात् कभी सुहृदों से भी दुःख मिल जाता है—

मातु मृत्यु पितु शमन समाना। सुधा होइ विष सुनु हरियाना।।
सब जग ताहि अनल ते ताता। जो रघुबीर विमुख सुनु भ्राता।।
(रा०च०मा०)

यदि भगवत्कृपा से प्रारब्ध का अनुकूल प्रभाव हुआ तो—

गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिन्धु अनल सितलाई।।
गरुअ समेरु रेणु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही।।

प्रारब्ध वशात् अशुभ के बजाय शुभ मिल जाता है या शुभ मिलते मिलते अशुभ हो जाता है। श्री रामचन्द्रजी को राजतिलक के स्थान पर बनवास मिला। संस्कृत में एक श्लोक है (रामायण का नहीं है) उसमें श्री राम कहते है—

यच्चिन्तितं मया दूरतरं प्रयाति, नो चिन्तितं च मनसा तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि भुवनेश्वर चक्रवर्ती, सोऽहं ब्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी।।

श्री शंकर जी को 'कालकूट फल दीन्ह अमी को' (रा०च०मा०)

अजर अमर भए अँचइ हलाहलु।' (विनय पत्रिका) इसी प्रकार प्रह्लाद जी ने कहा है—

राम नाम जपतां कुतोभयं, सर्वंतापशमनैक भेषजं।
पश्य तात मन गात्र संन्निधौ, पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।।

प्रह्लाद के लिए आग भी ठंढी हो गई। मीरा के लिए, 'जहर का प्याला राणा भेजा, अमृत कर पी जाणा।' (मीरा का पद) भक्त चन्द्रहास की कथा है कि उन्हीं के हाथों एक पत्र भेजा गया जिसमें पाने

वाले को लिखा गया कि 'इन्हें विष दे दिया जाय'। भक्त जी ने पत्र पढ़ा नहीं, पोथी में रख लिया। परन्तु मार्ग में किसी के यहाँ ठहरे, उसने पत्र पढ़ लिया। वह भावी अनर्थ से आशंकित हुआ। भक्त जी से कुछ नहीं कहा। पत्र में चुपचाप विष के आगे या बढ़ा दिया। विषया/स्त्री। फलत: श्री चन्द्रहास जी का विवाह कर दिया गया।

भाग्य का परिपाक अत्यन्त रहस्यमय ढंग से होता है। उससे दुर्योधन, हिटलर आदि को भी चकित रह जाना पड़ता है। कभी कभी प्रारब्ध से वचने के लिए जो उपाय किया जाता है वही प्रारब्ध के फलित होने में सहायक होता है। भोज प्रबन्ध नामक एक संस्कृत ग्रन्थ में कथा है कि भोज के चाचा मुञ्ज राजा थे। ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की कि शीघ्र ही भोज राजा हो जायगा। मुञ्ज को आशंका हुई कि मैं या तो शीघ्र ही मर जाऊँगा या गद्दी से उतारा जाऊँगा। उसने भोज को मरवा देना चाहा। भोज मारा नहीं गया परन्तु मुञ्ज को उसके मरने का समाचार दे दिया गया और उसका कृत्रिम शिर भी (कलाकार से बनवाकर) प्रस्तुत कर दिया गया। भोज का लिखा हुआ एक मर्मस्पर्शी श्लोक भी मुञ्ज को दिया गया। अब मुञ्ज ग्लानि को प्राप्त हुआ और प्रायश्चित स्वरूप आग में जल जाने को तैयार हुआ। होशियारी से एक तान्त्रिक क्रिया की आड़ लेकर भोज को पुनर्जीवित बताकर पेश कर दिया गया। मुञ्ज उसे स्वयं तुरन्त राज्य देकर वन को चले गए।

भाग्य परिपाक की प्रक्रिया अत्यन्त रहस्यमय है।

डाकिया विवाह-निनन्त्रण लाए तो भी आपका मित्र नहीं सिद्ध होता, मृत्यु का संवाद लाए तो भी शत्रु नहीं माना जा सकता। इसलिए 'निज कृत करम भोग सब भ्राता' के दृढ़ भाव से सन्त सुख दुःख समान

भाव से सहते हैं। कर्मफल भगवान् का दिया हुआ प्रसाद मानकर सन्त स्वीकार करते हैं। उसका निरादर नहीं करते।

उसने कहा तू कौन है ? मैंने कहा बन्दा[1] तेरा।
उसने कहा क्या काम है ? मैंने कहा खिदमत[2] तेरी।
उसने कहा किससे गिला[3] ? मैने कहा किस्मत[4] से ही।
उसने कहा किस्मत है क्या ? मैने कहा मर्जी[5] तेरी॥

(१) सेवक २) सेवा (३) शिकायत (४) भाग्य (५) इच्छा
जब भाग्य प्रभु की इच्छा है, तो शरणागत को शिकायत कैसी ?

लखनऊ में जहाँ बड़ा इमामबाड़ा बना है, वहाँ कहा जाता है कि इमामबाड़ा बनने से कुछ पहले एक सन्त आकर टिक गए। उनका नाम श्री गोमतीदास जी था। उनसे प्रार्थना की गई कि 'यहाँ इमामबाड़ा बनना है। आप कहीं और बिराजैं।' तो वे ठाकुरगंज क्षेत्र में चले गए। इमामबाड़ा बन जाने पर नवाब साहब ने उन्हें सादर दरबार में बुलाया। उन्होंने कहा 'मेरी तबियत ठीक नहीं है, मैं नहीं आ पाऊँगा।' इस पर नवाब (आसफुद्दौला) उन्हें सूचना देकर स्वयं उनसे मिलने गए। उन्होंने महात्मा जी को बैठे पाया। थोड़ी दूर पर एक कम्बल पड़ा काँप रहा था। नवाब साहब ने पूछा, यह क्या है ?' महात्मा ने उत्तर दिया, मैंने सोचा कि आप नवाब होकर मिलने आ रहे हैं, जूड़ी के कारण आपसे से ठीक से बात तक न कर पाऊँगा, इसलिए थोड़े समय के लिए जूड़ी को बाहर कर दिया है, वह कम्बल में कैद है। जब आप चले जायेंगे तो मैं कम्बल फिर ओढ़ लूंगा, जूड़ी फिर आ जायगी।" नवाब साहब ने कहा, 'जब आपने जूड़ी को बाहर कर दिया, तो उसे फिर क्यों स्वीकार करेंगे ?' महात्मा जी ने कहा, "भगवान् का दिया हुआ कर्मभोग है, उसका निरादर नहीं करूँगा। स्वीकार करूँगा।

श्री अयोध्या जी में एक महान् सन्त 'श्री रूपकला जी' रहते थे। एक बार वे ज्वर से पीड़ित थे, चुपचाप पड़े थे। उनके कुछ सेवक पास में थे। वे बोले, 'महाराज, आप चुपचाप पड़े हैं तो आपके कष्ट का अनुमान नहीं होता। कुछ कराहें तो अनुमान हो। श्री रूपकला जी ने कहा, 'सन्त ब्याज नहीं देते, मूल मात्र चुका देते हैं।' सेवकों ने कहा, हम लोग इसका मतलब नहीं समझे।' सन्त ने कहा, 'कर्मभोग है, प्रारब्ध वश ज्वर आया उसे भोग डालेंगे, भुगतान हो जायगा, व्याकुल हों, कराहें, कलहें, तो उतना ब्याज और भुगतान करें। सन्त ब्याज नहीं देते। 'श्री रूपकला जी' (डिप्टी साहब) की जीवनी में यह घटना अंकित है। सुख दु:ख समान होने पर शत्रु मित्र भी अमान्य होंगे। समत्व भाव ही रहेगा।

सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं।।

श्री गीता जी में भी सुख दुखदाई क्षणिक विषय भोगों को सहने की सलाह दी गई है (गीता २.१४)। सन्त, हर्ष, द्वेष, शोक, स्पृहा आदि नहीं करते (गीता १२ १७), शत्रु, मित्र, मान, अपमान में समान रहते हैं (१२.१८)। यही सिद्ध भक्त का स्वरूप है। श्री प्रह्लाद जी ने भी कहा है—समत्वमाराधनमच्युतस्य (श्रीमद्भागवत) (समत्व ही भगवान् की पूजा है।) प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् (श्रीमद्भागवत ७.७.५२) भगवान् निर्मल प्रेम से प्रसन्न होता है, बाकी सब ढोंग है।

सर्वत्र भगवद्दृष्टि होने से भी सन्त शत्रु मित्र नहीं गिनते (नहीं मानते)—

उमा जे रामचरण रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध।।

सन्त विरोध करने वालों से भी विरोध नहीं करते, शत्रुता करने व लों से भी शत्रुता नहीं करते, इसलिए समता ही उनका भाव है।

सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में भी इस दोहे का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। समाज में समता और ममता की लड़ाई है। साधारण मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज का सहारा चाहता है। समाज की सहायता के बिना उसका काम नहीं चलता। अतः वह अपना छोटा सा सहयोग क्षेत्र बनाता है। इस क्षेत्र में अपनापन यानी ममत्व रहता है। बाहर वालों में बिरानापन रहता है। परिवार एक ऐसा ही क्षेत्र है, परन्तु कालक्रम से अन्यान्य क्षेत्र भी इसी तरह के बनते हैं। यद्यपि ऐसे क्षेत्रों का बनना बन्द नहीं किया जा सकता परन्तु यदि यह दृढ़ता से कुछ मर्यादाओं का पालन करें तभी सभ्य समाज के पोषक हैं, अन्यथा सुमर्यादित न होने पर ममता क्षेत्र आपस में टकराते हैं, और समता के विध्वंसक बनते हैं। इससे सभ्य समाज का विघटन होने लगता है।

ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने कहा था कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। जो इतना विकसित है कि समाज की उसे आवश्यकता नहीं, वह देवकोटि में है, और जो समाज के योग्य नहीं वह पशु कोटि में है। मानव कोटि वालों को समाज की आवश्यकता है, ममता की भी आवश्यकता है। परन्तु ममता, समता की विरोधिनी है। अतः ममता क्षेत्रों की टक्कर होने पर राज्य कानून के द्वारा हस्तक्षेप करता है। इसका प्रभाव और बल सीमित है। क्योंकि राजा या शासक और प्रशासक समता के सच्चे सिपाही नहीं हो सकते। वे स्वयं ममतावश हैं। सम्पन्न और विलासमय जीवन होने पर तो उनमें यह कमजोरी मांमूली आदमी से कहीं अधिक भी होती है। इसलिए वे ममता के संकीर्ण और घातक प्रभाव को नियन्त्रित कर सकते हैं, एकदम रोक नहीं सकते, मिटा नहीं सकते। नियन्त्रण भी तभी पूरा तेजस्वी होगा जब अपनी ममता नियन्त्रित हो,

या हो ही नहीं । इसलिए सभ्य समाज का ठीक अभ्युदय वही राजा कर सकता है जो स्वयं ममता से परे हो । इसीलिए राजर्षि का आदर्श था । आदर्श राजा ऋषिवत् होगा, विलासी नहीं। 'इयं राजर्षयो विदुः' (गीता ४.२)। अयोध्यावासियों की तारीफ़ में कहा गया–'गुणातीत अरु भोग पुरन्दर ।' (रा०च०मा० उत्तरकाण्ड) ।

राज्य शक्ति जिस तरह काम करती है, उसमें स्वपक्ष, परपक्ष, मित्र, शत्रु बनते हैं । फिर निष्पक्षता नहीं निभती । वहआदर्श छूट जाता है कि 'शत्रोरपि गुणा वाच्या ।' इसलिए वर्ग विहीन पक्षमुक्त समाज बनाने में राज्य शक्ति अक्षम है । रजोगुण प्रभावित क्षेत्र में राग द्वेष रहेंगे ही और मित्र शत्रु दृष्टि भी बनेगी । सतोगुण में 'मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा' यह चार वृत्तियाँ ही रहती हैं । द्वेष, शत्रुता आदि के भाव नहीं रहते । सतोगुण में मैत्री भाव रह सकता है । मैत्री, करुणा और मुदिता यह दूसरों के लिए अनुकूल वृत्तियाँ हैं । प्रतिकूल आचरण की प्रतिक्रिया में द्वेष का भाव उठता है, वह सतोगुणी हृदय में नहीं उठता । वहाँ प्रतिकूल व्यवहार की उपेक्षा मात्र होती है ।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि मैत्री भाव सतोगुणी में रहता है, परन्तु यहाँ तो उसका भी निषेध हो गया, 'मित्र गनै नहिं काहि' कह दिया ।

सन्त के व्यवहार में मैत्री भाव दिखाई पड़ सकता है, परन्तु वह साधारण अर्थ में मैत्री नहीं है । गीता में 'मैत्रः करुण एव च' कहा है परन्तु 'निर्ममो' भी वहीं कह दिया । जहाँ ममता नहीं वह मैत्री साधारण तो नहीं है । दूसरे, जहाँ ममता नहीं है, वहाँ समता है, मैत्री भी है तो सबके साथ है, यह मैत्री शत्रु मित्र वाले द्वन्द्व से अलग है ।

जहाँ ममता है वहाँ विरोधी वस्तु या व्यक्ति से द्वेष भी है। इसलिए सिर्फ मैत्री व करुणा है या ममता है और विरोधी के प्रति द्वेष है, यह देखना होगा। सन्त की मैत्री या करुणा सबके लिए है, परन्तु किसी से भी परपक्ष नहीं बनता, द्वेष नहीं होता। द्वेष का न होना ही सिद्ध करता है कि मैत्री करुणा प्रेरित है, शुद्ध और व्यापक है—

सबके प्रिय सबके हितकारी। सुख दुख सरिस प्रशंसा गारी ।।

इसीलिए श्री गीताजी मे 'अद्वेष्टा' यह प्रथम लक्षण माना गया (१२,१३)। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव (११.५५)। 'सबके प्रिय सबके हितकारी' होने से सन्त सबके मित्र हैं, परन्तु 'सुख दुःख सरिस प्रशंसा गारी' होने पर ही सबके प्रति मैत्री भाव निभेगा नहीं तो शत्रु भाव उदय हो जावगा।

जो सतोगुणी है उसमें चार वृत्तियाँ उदय होती हैं, 'निज प्रभु मय' जगत् देखने पर तो उक्त चार वृत्तियों का भी क्षेत्र नहीं है। इसीलिए सब कुछ भगवत् स्वरूप देखने वाले को श्रीमद्भागवत में उत्तम भक्त कहा है और 'प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा' (११.२.४६) करने वाले को मध्यम कोटि का भक्त माना है। गुणातीत सन्त के मन में व वाणी में शत्रु मित्र भाव होता ही नहीं। 'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।' (गीता १२ १८)

शत्रु मित्र भाव न रखना, समता भाव की वाणी में व्याप्ति, यह सन्त का मत है, सबका नहीं, सन्त की नीति है, सबकी नहीं।

साधारण व्यक्ति जिसमें व्यवहार की प्रेरणा है, रजोगुण का प्रभाव है, क्षात्र तेज है, या क्रान्तिकारी जोश है, प्रतिकार को आवश्यक मानता है, धर्मयुद्ध (या जेहाद) को आवश्यक मानता है (गीता २.३१)

सन्त मत को ठीक नहीं मानता, क्योंकि वह अन्याय को, अनीति को, अधर्म को, बढ़ने देता है। उसकी भूमिका में, उसकी दृष्टि में, यह बात ठीक भी है। परन्तु विशुद्ध धर्मयुद्ध (या इस्लाम के अन्तर्गत जेहाद) रागद्वेषादि से अलग ही होता है। 'सुख दुःख हानि लाभ, विजय पराजय में समदृष्टि रखकर युद्ध करो, इस तरह पाप नहीं लगेगा।' (गीता २.३८) यदि यह विशुद्ध भाव बिगड़ गया तो फिर राग द्वेष बढ़ेगा ही। फिर यह भाव भी आ ही जायगा कि 'शठे: शाठ्यम् समाचरेत्' दुष्ट के प्रति दुष्टता करो परन्तु दुष्ट के प्रति दुष्टता करने वाला व्यक्ति जिससे भी नाराज हुआ उसे दुष्ट ही मानेगा और उसके साथ दुष्टता करेगा। फिर वह स्वय दुष्टता की भूमिका में चला जायगा और दुष्ट बन जायगा और मान लिया जायगा। ऐसी स्थिति में संघर्ष में कोई भी विजयी हो दुष्टता ही प्रबल रहेगी। दुष्टराज्य ही बनेगा, धर्मराज्य कभी नही।

कविवर भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीयम् में बनवासी युधिष्ठिर को ग्रन्थ के आरम्भ में ही राय दी गई कि वे धर्म पालन के चक्कर में दुर्योधन को अपने राज्य को दृढ़ करने के लिए बारह वर्ष का समय न दें, उसे शीघ्र अपदस्थ करने का यत्न करें। इस विषय में वह प्रसिद्ध उक्ति कही गई—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।

'वे मूर्ख परभाव को प्राप्त हो जाते हैं, जो मायावी लोगों से भी मायावी बनकर व्यवहार नही करते।' परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर ने यह बात स्वीकार नही की।

जगत् के व्यवहार के वैर विरोध पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचने से यह सिद्ध होता हैं कि जैसे (कहावत के अनुसार) खरबूजे को देखकर

खरबूज़ा रंग पकड़ता है, उसी तरह एक दूसरे का विरोध, क्रोध, वैर देखकर सबका वैर बढ़ता है। महात्मा बुद्ध का उपदेश है—

'न हि वैरेण वैराणि शमन्तीध कदाचन।'

वैर से वैर कभी शान्त नही होता।

युद्ध से यही हो सकता है कि कोई सत्तारुढ़ अन्यायी दल सत्ता से हट जाय, परन्तु यदि विजय भी इस बात पर निर्भर हो कि अधिक कुशलता से दुष्टता कौन कर पाता है, तो फिर किसी की विजय हो दुष्टता तो सत्तारुढ़ रहेगी ही। इसलिए दार्शनिक दृष्टि से निष्पाप, निर्वैर, समाज रचना राज्य शक्ति के प्रयोग से सम्भव नही है। राज्य शक्ति के लिए युद्धादि में प्रवृत्त होना आवश्यक हो सकता है। परन्तु श्री गीता जी में निर्वैर भाव से ही युद्ध करने की प्रेरणा दी गई है। ऐसे युद्ध से मनोवैज्ञानिक दुष्चक्र प्रवृत्त नही होता, दुष्टता दृढ़ नहीं होगी। बहुधा समझा जाता है कि निर्विकार चित्त से युद्ध करना सम्भव नहीं है। इस विवाद का विवेचन यहाँ प्रासंगिक न होगा। इतना याद रखना पर्याप्त होगा कि श्री कृष्ण ने विषादयुक्त अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त और उत्साहित करने के लिए उसका मोह दूर किया, शराब नही पिलाई। यह भी स्पष्ट है कि विकार सम्बन्धी आवेग एक से स्थिर नहीं रहते, सुख दुःखादि में स्थिर, एकरस, जीवन भर चलने वाला उत्साह अध्यात्म प्रेरित ही हो सकता है, विकार प्रेरित नही हो सकता।

जो सन्त मन वचन में नितान्त द्वेष रहित है उसके व्यवहार से किसी के द्वेष भाव को पोषण नहीं मिलता। 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः। (योगसूत्र २,३५) अहिंसा सिद्ध हो जाने पर उसकी निकटता से वैर छूट जाता है। बुद्ध के अनुसार अवैर से ही

वैर शान्त होता है। समाज में रागद्वेष की जो बाढ़ आई हुई है वह सन्त नीति से ही उतर सकती है, संघर्ष नीति से नहीं।

इसलिए सन्त की नीति को दूर से ही कायरतापूर्ण, पलायनवादी, अशक्य या अनिष्टकारी समझना अविवेकपूर्ण है। समाज के नैतिक उन्नयन के लिए तपस्या बलवती या फलवती है, न कि राज्य सत्ता। परन्तु अपराध निरोध आदि में सक्षम होने पर राज्य शक्ति तपः शक्ति की, प्रकारान्तर से, सहायक हो सकती है।

सूर सती होना सहज, घरी पहर को काम।
साधू होना कठिन है, निसि दिन आठौ याम॥
अयं निजः परो वेत्ति गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

सन्त अपना पराया भाव नहीं रखते, वे उदार चरित हैं, सारा संसार उनका परिवार है। इसका प्रभाव यह होता है कि सारा समाज, सारा संसार, उन्हें अपना समझता है। इस तरह समाज में एकता और समता के भाव दृढ़ होते हैं। यही उद्धार या उन्नयन की असली और उत्तम प्रेरणा है। यह सन्तों की नीति का सामाजिक पक्ष है।

सन्तों के साथ से लोक परलोक दोनों सुधरते हैं, यह आवश्यकता नहीं होती कि इस लोक का बलिदान करके परलोक को सँवारा जाय, परन्तु आसक्ति तो छोड़नी पड़ेगी और जगत् (ख़ल्क) से जगत्पति (ख़ालिक) को श्रेष्ठ मानकर और जानकर उपासना तो करनी ही पड़ेगी।

भगवान से अभिन्न हो जाने पर ही सन्तों की तपस्या सहज और सफल होती है और जीवों के लिए उद्धारकारी होती है।

———

अति अनन्य गति इन्द्री जीता ।
जाको हरि बिनु कतहु न चीता ।।
मग तृष्णा सम जग जिय जानी ।
तुलसी ताहि सन्त पहिचानी ।।१४।।

जो भगवान् का अति अनन्य भक्त है, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की है, जिसका चित्त भगवान् में ही रहता है और कहीं नहीं जाता जो संसार को मृग तृष्णा के समान समझता है, श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि उसे सन्त पहचानना चाहिए ।

श्री गोस्वामी जी महाराज सन्त दशा के उत्तरोत्तर उच्चतर सोपानों का वर्णन करते जाते हैं ।'शम दम राम भजन अधिकाई' पहले ही कह चुके हैं । अब यहाँ कहा कि शम किस श्रेणी का है । अत्यन्त अनन्य भाव से चित्त भगवान् में लगा रहता है और कहीं नहीं जाता, यह चित्त की दशा है । चित्त शान्ति के रस में डूबा रहता है, यह समता की पुष्ट भूमिका है, शम की प्रतिष्ठा । सन्त अत्यन्त इन्द्रियजित् होते हैं, साधारण इन्द्रिय-निग्रही नहीं । इन्द्रियों की जो विषयाभिमुख प्रवृत्ति है, वह साधक की शत्रु है । विषयासक्ति पर नियन्त्रण हो सकना, उसे मर्यादित कर सकना, एक सोपान है, जैसे दुश्मन की बढ़ती हुई फौज को रोक देना । जब शत्रु सेना अवरुद्ध हो जाय, घिर जाय, मनमानी प्रगति न कर सके, मनमाने उत्पात न मचा सके तो वह निग्रहीत हुई । यह विजय का एक सोपान है । कुछ या सभी मोर्चों पर ऐसा निग्रह हो जाने

पर भी युद्ध समाप्त नहीं होता। शत्रु सेना घेराबन्दी को समाप्त कर निकल पड़ने का प्रयास भी करती रहती है। यही हाल इन्द्रियों का है। जब शत्रु सेना हार मान जाय, हथियार डाल दे, युद्ध बन्द हो जाय तब विजय है। इसी प्रकार जब इन्द्रियों की विषयासक्ति क्षीण हो जाय, उनमें यह शक्ति न रहे कि साधक को विषयों की ओर आकृष्ट और प्रवृत्त कर सकें, तब इन्द्रिय विजय हुई। हारा हुआ शत्रु भी उपेक्षणीय नहीं है, उससे भी सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि वह घात में रह सकता है। जब इसका भी कोई भय न रहे तब पुष्ट विजय मानी जा सकती है। जैसे श्रीराम जी का वाक्य है कि—

मोहि अतिशय प्रतीति जिय केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी ॥
(बालकाण्ड)

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।
(गीता २.६१)

'जिसकी इन्द्रियाँ बस में हैं, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।' चंचल प्रज्ञा वाला भगवान की अनन्य भाव से भक्ति नहीं कर सकता, स्थिर प्रज्ञा वाला ही अनन्य भक्त हो सकता है।

दसइँ दसहु कर संयम जो न करहु हित मानि।
साधन वृथा होंहि सब, मिलै न सारँग पानि ॥
(विनय पत्रिका)

दशों इन्द्रियों का पूर्ण संयम आवश्यक है।

भजन और इन्द्रिय संयम एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं। जो पाप में रत है वह भजन में प्रवृत्त नहीं होता—

पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ ।।

येषां त्वन्त गतं पापं जनानां पुण्य कर्मणाम् ।
ते द्वद्व मोह निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रता: ।।

(गीता ७.२८)

'जिन पुण्यात्माओं के पाप समाप्त हो गए हैं वे द्वन्द्व व मोह से छूट कर, दृढ़व्रत से मेरा भजन करते हैं।' अनन्य भक्ति इसी तरह होती है।

साथ ही साथ यह भी सत्य है कि भजन करने से पाप की निवृत्ति और अन्त:करण की शुद्धि होती है। भक्त्या प्रक्षाल्यते चेत:' श्रीशंकराचार्य (भक्ति से चित्त धोया जाता है)।

रघुपति भगति वारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास प्रभु चिद विलास जग बूझत-बूझत बूझै ।।

(वि०प०)

सब पुण्य कर्मियों की भगवान में प्रवृत्ति नहीं होती। सकाम पुण्य कर्म सांसारिक वैभव, विलास दे सकता है, परन्तु निष्काम कर्म या भगवदर्थ कर्म, फलासक्ति से रहित कर्म ही भक्ति में सहायक है। पुण्य करके अभिमान करने वाला व्यक्ति भक्ति भाव के प्रतिकूल है, किए हुए पाप की ग्लानि करने वाला भक्ति भाव के अनुकूल है। कभी कभी सन्त के संग से पापमय जीवन से खिन्नता आती है और अनन्य भक्ति की प्रेरणा होती है, इससे पुरुष शीघ्र ही निष्पाप व धर्मात्मा हो जाता है। (गीता ९.३१) पुण्यमय जीवन भक्ति का सहायक हो सकता है और भक्ति भी। चत्त शुद्धि का कारण है। दोनों परस्पर सहायक और पूरक हैं।

यह बात सही नहीं है कि आचरणों (के पापों और पुण्यों) की परवाह न करके भक्ति करनी चाहिए, आचरण तो फिर अपने आप ठीक हो जायेंगे। अपना पाप भजन में बाधक है, इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। परन्तु पाप निवृत्ति, शुद्ध भक्ति की प्राप्ति, की कोशिश के साथ उसके लिए भी भगवान् की कृपा की याचना करनी चाहिए, उन्हीं की शक्ति का भरोसा करना चाहिए। यही निरापद मार्ग है।

'अति अनन्य गति' क्या है ? एमदम माया मोहग्रस्त जीव भगवान् की ओर से उदासीन रहता है (या नास्तिक रहता है)। वह भगवान् की शरणागति से बहुत दूर है। जो भक्ति के कुछ अनुकूल है वह अपनी विपत्ति से छूटने के लिए अन्य साधनों के साथ साथ भगवान् की पूजा, पाठ, मन्त्र, जप आदि भी करता है। बहुत से मनुष्यों, देवताओं पर उसे भरोसा है, भगवान् पर भी है। कुछ मनुष्यों को भिन्न भिन्न सीमा तक भिन्न भिन्न मामलों में अलग देवताओं पर भरोसा रहता है। 'अनन्य' यानी दूसरा नहीं। जहाँ एक मात्र भगवान की ही गति हैं, दूसरे की नहीं, वहाँ अनन्य गति है।

मति रामहिं सो, गति रामहि सो, रति राम सो रामहिं को बलु है।
सबकी न कहैं तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है।।
(कवितावली)

कलियुग का उत्पात होने पर श्री गोस्वामी जी ने कहा—

साँची कहौं कलिकाल कराल में ढारो बिगारो तिहारो कहा है ?।
कामको क्रोधको लोभ को मोहको मोहिं सो आनि प्रपंचु रहा है।।
हो जगमायक लायक आजु पै मेरियो टेव कुटेव महा है।
जानकि नाथ बिना तुलसी जग दूसरे सों करिहैं न हहा है।।
(कवितावली)

अनत चह्यो न भलो, सुपथ सुचाल चलो,
नीके जिय जानि इहाँ भलो अनचह्यो हौं।

(वि०प०)

अन्याश्रयाणाम् त्यागोऽनन्यता। (नारद भक्तिसूत्र)

सन्त अति अनन्य होते हैं, उनकी अनन्यता में कोई कसर नहीं रहती। एकमात्र भगवान् का भरोसा रखते हैं, उनसे प्रथक किसी शक्ति का नहीं। विषम परिस्थिति में भी एक मात्र भगवान् के भरोसे धैर्य और सन्तोष के साथ स्थित रहते हैं।

इस्लाम में भी कहा है कि यह प्रकाशमान पुस्तक उसे रास्ता दिखाती है जो गैब (अदृष्ट दिव्य शक्ति) के भरोसे जीता है। जो दैव (गैब) से प्राप्त परिस्थिति में सन्तोष और धैर्य (सब्र) रखता है, उसे कुरान में 'साबिर' (सब्र करने वाला कहा है। साबिरों की सेवा को अति प्रशस्त माना है। 'साबिर' किसी से याचना नहीं करते, अतः उनकी सेवा भगवान् की ही सेवा है। भगवान् ऐसे सेवकों के ऋणी अपने को मानते हैं। और बहुत बढ़ा चढ़ा कर भुगतान करते हैं।

सुख दुःख सहौं रहौं सदा, शरणागत तोरे।

[वि०प०]

अथवा—

नाथ कृपा ही को पन्थ चितवत दीन हौं दिन राति।
होइ धौं केलि काल दीनदयालु जानि न जाति॥

[वि०प०]

एवं—

काल पाइ फिरत दसा दयालु सबही की,
तोहि बिनु मोहिं कबहूँ, न कोऊ चहैगो।
करम बचन हिये, कहौं नाथ सौंहैं किये,
तुलसी पै नाथ के निभाएई निबहैगो।।
[वि०प०]

अति अनन्य गति सन्तों की दशा [रहनि] कैसी होती है, इसके लिए अगले दोहे [छन्द १५] में चातक के रूपक का आश्रय लिया गया है। परन्तु यहाँ इतना तो कह दिया है कि अनन्य गति सन्तों का मन भगवान में ही लगा रहता है, कहीं और नहीं जाता है।

श्रीमद्भागवत में वैष्णवों में अग्रगण्य वह माना गया है जो त्रिलोकी के वैभव के लिए भी भगवच्चरणों को नहीं छोड़ता, देवता भी जिसके लिए तरसते हैं, उस वैभव विलास का उसे क्षणिक आकर्षण भी नहीं होता।

त्रिभुवन विभव हेतवेप्यकुण्ठ स्मृति रजितात्म देवादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत् पदारविन्दाल्लव निमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः।।
(११.२.५३)

श्री रामचरित मानस में श्री भरत जी के लिए कहा गया है।
राम चरण पंकज मन जासू। लुब्ध मधुप इव तजै न पासू।।
(बालकाण्ड)

श्री रामानुजाचार्य जी के गुरु श्री यामुनाचार्य जी ने आल्वन्दार स्तोत्र में लिखा है—

तवामृतस्यन्दिनि पादपंकजे, निवेशितात्मा न हि चान्यदिच्छति ।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्द निर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षति ।।

आपके अमृतस्रावी चरण कमल में जिसका मन लग गया है, वह और कुछ नहीं चाहता है । मधु (पराग) का व्रती (प्रेमी) भौंरा मकरन्द से भरे हुए कमल-पुष्प के रहते, ईख (गन्ने) में लगे हुए कीड़े की ओर नहीं देखता है, (कि यह मीठा-मीठा रस पिये जा रहा है, मैं रहा जा रहा हूँ) ।

तुलसी रघुवर हिय बसैं तो इन्द्र बापुरौ कौन ।
(दोहावली)

किसको ध्यान में भगवान् की झाँकी होती है और किसको नहीं और किस सन्त को कितना भजन का आनन्द प्राप्त है, यह बाहर से देखने वाले को पता नहीं चलता । परन्तु जिन्हें ऐसे अनुभवों की गहराइयों में गोता लगाने का अवसर मिला है, उनका जगत् के प्रति क्या भाव होता है, यह ध्यान देने से कुछ कुछ समझ में आता है ।

जो सन्त भगवान् के चरणों में लगे रहते हैं, भगवान् से अभिन्न हो जाते हैं, उनकी दृष्टि में संसार की स्थिति मृग तृष्णा के समान हो जाती है । इससे सन्तों की पहचान हो सकती है ।

मृग तृष्णा क्या है ? जगल में खुली जगह हो या रेगिस्तान हो, खूब धूप पड़ रही हो, तो कहा जाता है कि हरिण (हिरन) को यह आभास होता है कि कुछ दूर पर जलाशय भरा है । यदि हरिण प्यासा हो और पानी पीने के लिए उस जलाशय की ओर चल दे तो हरिण दौड़ता-दौड़ता परेशान हो जायेगा परन्तु जलाशय उतनी ही दूर पर आभासित होगा । मिलेगा नहीं । इसी मिथ्याभास को मृग तृष्णा कहते

हैं । यह वैसा ही है जैसे बरसात में कभी कभी हम लोगों को इन्द्र धनुष दिखाई देता है । वह कहीं होता नहीं पर दिखाई देता है । उसकी ओर चलें तो वह दूर हटता जाता है, निकट प्रतीत नहीं होता । दोनों आभासों के वैज्ञानिक कारण हैं जो एक से हैं । बताया जाता है कि मृग तृष्णा मृग को ही होती है, हाथी या ऊँट को कभी नहीं होती । वैज्ञानिकों का कहना है कि जिस (थोड़ी ऊँचाई) पर हरिण की आँख रहती है, उसी ऊँचाई पर यह मिथ्याभास हो सकता है, उसकी ड्योढ़ी दुगुनी ऊँचाई पर नहीं हो सकता ।

सांसारिक विषयों में जो सुख भासित होता है वह भी कई बातों में मृग तृष्णा की तरह है । श्री स्वामीराम तीर्थ ने एक प्रवचन में यह बात विस्तार से समझाई है कि हर एक व्यक्ति को अपनी वर्तमान् परिस्थिति से कुछ दूर पर ही सुखी जीवन सम्भावित दिखाई देता है, बालक परवश है, वह सुखी होने के लिए कुछ बड़े होने की बाट देखता है, विद्यार्थी विद्या पढ़कर निकलने पर सुखी होने की आशा करता है । फिर, सुखी जीवन के लिए अर्थप्रद उद्यम की खोज होती है, फिर विवाह आवश्यक जान पड़ता है, फिर घर के सूनेपन को मिटाने के लिए सन्तान चाहिए । फिर प्रौढ़ावस्था तक सम्पन्न बन जाने की फिक्र होती है, तब पारिवारिक उत्तरदायित्वों के पूरा करने की चिन्ता होती है, रिटायर होकर निश्चिन्त होने की लालसा रहती है, परन्तु श्री शंकराचार्य जी ने तो वृद्धावस्था में चिन्ता की अधिकता की बात कही है—'वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः' । बढ़ी हुई आयु में फिर पिछला जीवन अपेक्षाकृत सुखी मालूम होने लगता है । इस तरह सुखी जीवन का आभास भविष्य में या भूतकाल में ही होता है, न कि वर्तमान् में । यह मृग तृष्णा की सी स्थिति है ।

एक और विचित्रता है । जिसकी सुखी जीवन की जो कल्पना है, वह पूरी न होने तक ही मनोहर लगती है । यदि कोई करोड़पति किसी

कंगाल की सुखी जीवन सम्बन्धी कल्पना पूरी कर दे, कोई कसर न रहे, तो भी उस कंगाल को सन्तोष न होगा, अब सुखी जीवन की एक नई कल्पना बन जायगी और उसके न पूरे होने का दु:ख रहेगा।

अप्राप्त वस्तु अत्यन्त रमणीक प्रतीत होती है, प्राप्त होने पर और उसके अभ्यस्त हो जाने पर सुखानुभूति घटती जाती है, निर्भरता बढ़ जाती है। अमीरी जीवन में बहुत सी आदतें हो जाती हैं, जो सुखद तो कम ही रहती हैं, परन्तु उनकी पूर्ति न होने से दु:ख होता है। कंगाल को मोटर में बैठने का बहुत सुख होता है, करोड़पति को बिल्कुल नहीं होता, परन्तु मोटर में बैठकर चलने की व्यवस्था न हो पाए, बिगड़ जाए, तो करोड़पति को दु:ख होता है, कंगाल को नहीं होता।

एक अन्य तथ्य यह है कि विषयासक्ति भोग से समाप्त नहीं होती, बढ़ती जाती है, भोग की अप्राप्ति में शोक, हताशा, क्रोध, आदि विकार प्राप्त होते हैं। शान्ति और सुख नहीं मिलता।

न जातु काम: कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविष: कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(महाभारत)

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घी ते।

वि०प०)

जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।

(रा०च०मा०)

सेवत विषय विवर्ध जिमि, नित नित नूतन मार।

(रा०च०मा०)

विषयासक्ति के परिणामों पर सम्यक् विचार करके ही महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र दिया, 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (योगसूत्र) श्री गीता जी में भी इस जगत् को 'दुःखालयमशाश्वतम्' बताया है। (८.१५) श्री विनय पत्रिका में भी कहा हैं –

श्रुति गुरु साधु स्मृति सम्मत यह दृश्य सदा दुःखकारी।

तथा—

जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे।
धुआँ के से धौरहर देख तू न भूलि रे।।
(वि० प०)

अथवा—

धूम समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ शीतलता न वारि, पुनि हानि होत लोचन की।।

पुनश्च--ज्यों गच काँच विलोक स्येन जड़ छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहारबस छति बिसारि आनन की।।

जगत् के विषयों में मिथ्या सुखाभास है, यह शास्त्रों में बार बार निरूपित हुआ है, इस बिषय में बौद्ध व जैन धर्म की आवाज भी ऐसी ही है। कुरान में भी जगत को असार मायाकृत माना है। (५७.२०), स्वप्नवत् कहा है। वेदान्त ग्रन्थों में जगत् के मिथ्यात्व या स्वप्नतुल्यत्व के निरूपण की प्रधानता है।

संसार स्वप्न तुल्यो हि, राग द्वेषादि संकुलम्।
स्वकाले सत्यवद्भाति, प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत्।।
(वेदान्त सार)

झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग, वेद पुरान सुसन्त कहा है।

(कवितावली)

संसार असत्य है, मिथ्या है, अनित्यमसुखम् (गीता ९ ३३) है, आदि बातें सुनने कहने, पढ़ने, पढ़ाने, समझने समझाने पर भी जगत् का सुखाभास नष्ट नहीं होता। मन विषयों की ओर आकृष्ट होता ही है—इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः (गीता २.६०)। विषयों का सेवन न करने से विषय ही निवृत्त होते हैं, उनका रस (सुखाभास) नहीं मिटता, परं तत्व के साक्षात्कार से सुखाभास भी निवृत्त होता है (गीता २.५९) इसलिए 'अति इन्द्रीजीता' तत्वज्ञानी ही हो सकता है, दूसरा नहीं। 'राम भजन अधिकाई' से ही मृग तृष्णा मिटती है।

जैसे हाथी या ऊँट को मृग तृष्णा नहीं होती, उसी तरह परम उच्च दृष्टिवाले सतोगुणी या गुणातीत व्यक्ति को जगत् का सुखाभास नहीं होता। आत्माराम पुरुष को विषय मृग तृष्णा भ्रमित नहीं करती। केवल बुद्धि विलास से विषयासक्ति शान्त नहीं होती—

कहत सुनत समुझत समुझावत दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुण भव विपति सतावै।।

(वि०प०)

जौ जग मृषा ताप त्रय अनुभव होहिं कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृगवारि सत्य, भ्रम ते दुख होहिं विशेषे।।

(वि०प०)

परन्तु जहाँ वैराग्य पूर्वक भजन होने लगा और प्रभू की प्राप्ति हो गई, वहाँ विषयाकर्षण समाप्त होने लगता है—

जाके भवन विमल चिन्तामणि, सो कत काँच बटोरै ?
(वि०प०)

तथा–

बसै जो ससि उछंग, सुधा स्वादित कुरंग, ताहि क्यों भ्रम निरखि रविकर नीर ? (वि०प०)

'जो हरिण चन्द्रमा की गोद में बैठा है और अमृत का स्वाद ले चुका है, उसे मृग तृष्णा को देखकर क्यों भ्रम होगा ? ।

इस प्रकार मृगतृष्णा विषयक निरूपण का पाठ याद करके उसे दोहराते रहें तो भी सुखाभास की निवृत्ति नही होती। तत्वानुभूति से ही उसकी निवृत्ति होती है ।

संसार को मिथ्या या क्षण भंगुर साबित करने में एक विद्वान् या शास्त्रार्थी पण्डित सन्त से अधिक सफल हो सकता है, परन्तु जब उसके तर्क उसी को अनुभूति नहीं प्रदान कर पाते तो दूसरे को अनुभूति कैसे प्रदान करेंगे ? इसलिए सवाल विद्या, तर्क, अध्ययन या प्रवचन का नही है—

'नैषा तर्केण मतिरापनेया कठ० (१.२.९)
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य: । (मुण्डक ३ २.३)
'वाद में अवादता न आजु लौं भई है। (वि०प०)

प्रश्न कहने का नही, अनुभूति का है, सन्त की मानसिक अनुभूति यह है कि जगत् मृग तृष्णा के समान हैं, वह हृदय से इसे मृग तृष्णा के समान जानता है, कहे या न कहे, घोषित करे या न करे, उपदेश करे

या न करे। इस दिव्य अनुभूति का संकेत दूसरों को इस तरह मिल जाता है कि सन्त के लिए जगत् के पदार्थों या व्यक्तियों का आकर्षण नहीं रह जाता ; वैराग्य हो जाता है। वैराग्य है या उसका दिखावा मात्र है इसकी परख करने के लिए भी विवेकी व्यक्ति चाहिए, जो दम्भ को पहचान सके, तथा जो व्यक्ति अपने वैराग्य को छिपाए है, उसके वैराग्य को भी पहिचान सके।

कब लिबासे दुनियवी में छिपते हैं, रोशन ज़मीर।
जामए फ़ानूस में भी शोला उरियाँ ही रहा।।

'सांसारिक वेष भूषा व्यवहार आदि से प्रबुद्ध प्रज्ञा वाले लोग कहाँ छिप पाते हैं ? दीप ज्योति फानूस से आवृत्त होकर भी आलोकित ही रही।'

जिसमें कुछ वैराग्य विवेक स्वयं हो वही वैराग्य की पहचान कर सकता है, और वैराग्य ही सन्त की शोभा और पहिचान है। भगवान् को कौन पहुँच गया, कौन नहीं इसका निर्णय करना बहुत कठिन है, परन्तु जो भगवान् तक पहुँच गया उसमें वैराग्य अवश्य होना चाहिए। सन्तों के सम्प्रदाय, उपासना, पद्धतियाँ, आचार विचार आदि भिन्न भिन्न हो सकते हैं, परन्तु वैराग्य सभी सन्तों में पाया जायगा। बिना वैराग्य के सन्यासी वेषधारी उपहास का पात्र हो जाता है।

नृप सब भए योग्य उपहासी। जैसे बिनु विराग सन्यासी।।

'वैराग्य राग रसिको, भव भक्ति निष्ठः।'

(भागवत माहात्म्य)

———

एक भरोसे एक बल, एक आस विस्वास।
राम रूप स्वाती जलद, चातक तुलसीदास ॥१५॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि सन्त का भरोसा, बल, आशा, विश्वास सब एक प्रभु में ही केन्द्रित है, स न्त भगवान् का सम्बन्ध चातक व स्वाति नक्षत्र के मेघ का सा है। श्रीराम जी का रूप स्वाति नक्षत्र का मेघ है, तुलसी जी चातक हैं।

अनन्य गति का सूत्र इस दोहे में दिया गया है। भक्ति के निरूपण में, अनन्य शरणागति की दशा के वर्णन में, चातक की बात शास्त्रों में बारम्बार आई है। श्री रामचरित मानस में—

लोचन चातक जिन करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे॥
निदरहिं सरित सिन्धु सरवारी। रूप विन्दु जल होहिं सुखारी॥
जलद जनम भरि सुरति बिसारै। माँगत जल पवि पाहन डारे॥
चातक रटनि घटै घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥

नेम तो पपीहा ही के, प्रेम प्यारी मीन ही के,
तुलसी कही है नीके, हृदय आनि।'
(गीतावली जी)

श्री गोस्वामी जी के साहित्य में दो अत्यन्त विशद सांग रूपक प्राप्त हैं। एक तो श्री रामचरित मानस का मानसरोवर वाला रूपक और एक श्री दोहावली जी में प्राप्त चातक छत्तीसी। हमारे प्रस्तुत दोहे

का भाव विस्तार चातक-छत्तीसीं (दोहावली २७७-३१२) में प्राप्त है। उसे स्वयं कवि द्वारा प्रस्तुत भाष्य समझना चाहिए। इस रूप में वह अनुपम है।

अनन्य शरणागत भक्त की क्या निर्भयता है, क्या शान्ति है, निश्चिन्तता है, क्या मग्नता है, यह साधारण मनुष्य की कल्पना से परे है—

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा। जिमि हरि शरण न एकौ बाधा।

(रा०च०मा०)

श्री रामकृष्ण परमहंस जी ने बताया कि बिल्ली जिस मुँह से चूहे को खा जाती है, उसी मुँह से पकड़कर वह अपने बच्चे को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है। परन्तु बच्चे को कोई कष्ट नहीं होता। उसी प्रकार भगवान् का हाल है, जिस संसार में सभी जीव दुखी हैं जीव सकल सन्ताप के भाजन जग माहीं। वि०प०), उसी संसार में अनन्य भक्त निश्चिन्त और सुखी है। नृसिह जी का भयानक मुख भी अनन्य भक्त प्रह्लाद के लिए भयकारी नहीं हुआ। संसार चक्र उससे भी भयानक है, परन्तु भगवान् के गुणानुवाद के गायन रूप अमृत में डूबे हुए चित्त वाले के लिए, भव-वैतरणी भी भयानक नही (श्रीमद्भागवत ७.९.४३)। अनन्य भक्तों के जीवन में भी परिस्थितियाँ बदलती हैं, परन्तु वे उनसे अप्रभावित रहते हैं।

यस्मिन्स्थितो न दु.खेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।

(गीता ६.२२)

तब तक इस जीव को धन, घर, सुहृद आदि को लेकर शोक, स्पृहा, लोभ आदि होते हैं, और कष्ट की मूल असत् पदार्थों की ममता बनी रहती है जब तक कि वह अभयधाम प्रभु के चरण ललाम की शरण का वरण नहीं करता।(श्रीमद्भागवत ३.९.६)। विषयों की आसक्ति में

न दिन को चैन मिलता है, न रात को सुख की नींद सोता है। विषयों का अनुसरण महान् कष्टकर है पर हमें अभ्यस्त होने से उसका पता नहीं चलता, परन्तु जो भगवत् शरणागति में निश्चिन्त है उसके लिए यह चिन्ता का भार असह्य है। गोस्वामी जी श्री कवितावली जी में कहते हैं—

मांगि के खैबो मसीत को सोइबो है, लेनो है एक न देनो है दोऊ।

दूसरे सहारे का छोड़ देना ही अनन्यता है (नारद भक्ति सूत्र) सन्तवर शाहन्शाह जी के भजन में हैं।

जब भरोसा ही तेरा राम पे है, फिक्र है क्या ?

पद्म पुराण पाताल खण्ड में 'चातकी वृत्ति' धारण करने का निरूपण है। (अध्याय ५१ श्लोक ३७, ३८)

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु, कलि कल्यान करो॥
(वि०प०)

तथा—

नाहिनै नाथ अवलम्ब मोहि आन की।
करम मन वचन पन सत्य करुणानिधे।
एक गति राम भवदीय पदत्रान की॥
(वि०प० २०९)

तुलसी पै नाथ के निभाएई निबहैगो।
(वि०प०)

रामचरित मानस में देखिए—

कर नित करहि राम पद पूजा। राम भरोस हृदय नहि दूजा॥

तथा—

आपनु जानि न त्यागिहैं, मोहि रघुबीर भरोसु।

(भरत वाक्य)

इस जगत् में सारे काम मात्र अपने बल से नहीं बनते, तब हम सम्बन्धियों, मित्रों आदि का सहयोग लेते हैं, उन पर भरोसा करते हैं। बीमार को डाक्टर पर भरोसा करना होता है, मुकदमें वाले को वकील पर। जिसके भरोसे काम सिपुर्द करके हम निश्चिन्त हो सकें वही सच्चा वकील है। वकील शब्द अरबी भाषा से आया है। कुरान में कहा है—'अल्लाह वकील काफी है।' यही शरणागति और भरोसा है। सन्तों का काम सँवारने वाला वकील भगवान् है, इसलिए उनकी मस्ती है।

जे लोलुप भए दास आस के, ते सेबक सब केरे।
प्रभु विश्वास आस जीती जिन, ते सेबक हरि केरे।।

(वि०प०)

संसार में जहाँ जहाँ दूसरी जगह भरोसा किया जाता है, वह कभी कभी पूरा नहीं उतरता। हर एक आदमी धोखे बाज नहीं है, परन्तु हर एक जीव मायावश है।

देव दनुज मुनि नाग मनुज सब, माया बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे।।

(वि०प०)

दूसरी बात यह है कि जिससे हम कुछ चाहते हैं, वह भी हम से कुछ चाहता है–जब उसकी चाह पूरी नहीं होती तो उसे अघात लगता है। देत एक गुन, लेत कोटि गुन भरि सो। (वि०प०) ऐसी दशा में वह प्रसन्नता से सदा हमारा साथ देता रहे यह कैसे होगा? आशा भंग होने का आघात लगेगा ही।

वृत्तियाँ चञ्चल हैं, जब तक जिनकी वृत्तियाँ अनुकूल हैं वे मित्र हैं, वृत्तियाँ अनुकूल न रहीं तो आघात प्राप्त होता है ।

यदि कोई हमें पूरी मदद करता है पर हमारे कष्टों का अन्त नहीं होता तो भी हमें आघात लगता है ।

भरोसा करके कभी धोखा न हो, पछताना न पड़े यह तभी हो सकता है जब जिस पर भरोसा किया जाय वह मायिक गुणों के वश में न हो, स्वयं उसका कोई स्वार्थ न हो, और वह समर्थ हो । प्रेमी प्रेम की कद्र करता है–

आप दानिश[1] की तराजू में सिला[2] को तोलें ।
हम मुहब्बत से मुहब्बत का सिला[3] देते हैं ।।

(१–बुद्धिमत्ता २–बदला, प्रत्युपकार ३–बदला)

जानत प्रीति रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह सगाई ।।
(वि०प०)

अज्ञानियों की दृष्टि में भगवान् पर भरोसा करने वालों पर भी आफतें आती हैं, पर आश्चर्य है कि उन्हें कोई आघात नहीं लगता । प्रारब्ध सहसा समाप्त नहीं कर दिया जाता, सुख दुःख का चक्र चलता ही रहता है, परन्तु फिर भी सच्चा शरणागत भक्त, निश्चल, शान्त और सुखी रहता है ।

वट विश्वास अचल निज धर्मा ।
(रा०च०मा०)

'सुख दुःख सहौं, रहौं सदा शरणागत तोरे ।
(वि०प०)

भगवान् के भरोसे सुख दु:ख में समान रहना ही आदर्श भक्ति है। 'समत्वमाराधनमच्युतस्य' (श्रीमद्भागवत)।

साधकों की भूमिका अलग अलग होती है। कोई कोई बहुत जगह भरोसा करते हैं, भगवान् पर भी करते हैं, किसी किसी को दूसरे सहारे टूटने पर भगवान् याद आते हैं। इसमें एक प्रकार से भगवान् का अपमान है कि उनका नम्बर अन्तिम रहा। परन्तु करुणानिधि भगवान् इसको बुरा नहीं मानते।

औषधी जाह्नवी तोयं वैद्यो नारायणो हरिः।
कठिवे व्याधि-संप्राप्ते औषधं नान्य विद्यते॥

कठिन बीमारी हो जाने पर कोई और दवा जानी नहीं जाती, श्री गंगाजल ही उसकी दवा है, स्वयं भगवान् उसके वैद्य हैं।

दूसरो भरोसो नहिं, वासना उपासना को।

(वि०प०)

भक्त अपना दोष और भगवान् का गुण समझते हैं–

गुण तुम्हार समुझै निज दोसू। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसू॥

(रा०च०मा०)

भक्त को सभी परिस्थितियों में भगवान् की करुणा, दया, अनुकम्पा पर अडिग विश्वास रहता है। श्री भरत जी के भाव हैं–

जौ करणी समुझैं प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

(रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)

भगवान् पर भरोसा रखने वाले अनन्य गति सन्त एक ओर तो 'दैवाल्लब्धेन सन्तोष:', 'यथा लाभ सन्तोष सदाई।' 'सन्तुष्टो येन केनचित्' (गीता १२.१९)हैं, दूसरी ओर वे भगवान के विधान में प्रसन्न रहते हैं, भगवान् की विरुदावली पर उन्हें विश्वास रहता है, अपने गुणों का अभिमान नहीं होता, भगवान् की कृपा पर भरोसा होता है।

है तुलसिहि परतीति एक प्रभु मूरति कृपा मई है।
(वि०प०)

भगवान् सभी योग क्षेम वहन करेंगे (गीता ९.२२), यौगिक और पारलौकिक भी; उनका विधान ही मगलमय है, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास होता है। अनन्य भक्त का यह आग्रह नहीं होता कि उसकी कल्याण कल्पना भगवान् पूरी करें, जो भगवान् करें वही मंगलमय है, उसी में उसका सुख है। इसी से वह शान्ति सागर में मग्न रहता है। कदापि दुखी नहीं होता–

भोक्तार यज्ञ तपसां सर्व लोक महेश्वरं।
सुहृद सर्व भूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।
(गीता ५.२९)

शरणागति के ६ लक्षण बताये गए हैं–

आनुकूल्यस्य संकल्पं प्रातिकूल्यस्य वर्जनं।
रक्षिष्यतीति विश्वास: भर्तृत्वे वरणं तथा।।
आत्म निक्षेप कार्पण्यं षड्विधा शरणागति:।

१–इष्टदेव के अनुकूल ही संकल्प करना, २-प्रतिकूल संकल्प भी न करना, ३–वे रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास (भरोसा), ४–अपने भरण पोषण कर्ता रूप में इष्टदेव को ही मानना (वरण करना), ५–आत्म

समर्पण तथा ६–दैन्य (कातर) भाव, इन ६ लक्षणों वाली शरणागति है।

'शम दम' के लक्षण पहले कहे जा चुके हैं [छन्द ९] यहाँ प्रपत्ति संकल्प का वर्णन है, 'राम भजन अधिकाई' यह अनुकूल संकल्प है, रक्षा हेतु भरोसा यह इस दोहे में निरूपित है, भर्ता रूप में वरण करना एक आस विश्वास में कथित है, आत्म निवेदन का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख आगे [छन्द ४०] है, कार्पण्य चातक वृत्ति से सूचित है। इस प्रकार शरणागति का पूर्ण प्रतिपादन है।

राम के भरोसे पैं पसारि पाय सूति हौं।
'राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है।

रिन्दों को सियःकारी में भी, रहमत का यक़ीने कामिल है।
ज़ाहिद को इबादत में भी ये शक, शायद वह बख्शा जा न सके।।

(रिन्द = मद्यपी, सियःकारी = पापकर्म, रहमत = करुणा, यकीन = विश्वास, कामिल = पूर्ण, ज़ाहिद = भगवान् का प्रशंसक, उपदेशक, इबादत = उपासना, बख्शा = क्षमा किया)

बाँकी विरुदावली बनैगी पाले ही कृपालु।
अन्त मेरो हाल हेरि, यों न मन रहैगो।।

(वि०प०)

अहो बकीयं स्तन काल कूटम्,
जिघांसया ऽपाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोन्यं,
कं वा दयालुं शरणं प्रपद्ये।।

[श्रीमद्भागवत ३.२.२३]

गई मारन पूतना कुच काल कूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु यादव राइ।।
(वि०प०)

'एक भरोसो' के बाद 'एक बल' भी कहा है अनन्य वही है जिसका एक ही बल है, यानी भगवान् का, और किसी बल का भरोसा नहीं।

साधारण लौकिक वृत्ति वाले को ऐसा उपदेश कायरता का आवाहन जान पड़ता है। एक मात्र भगवान् के बल के भरोसे बैठे रहने में पुरुषार्थी व्यक्ति को सन्तोष नहीं होता। परन्तु पुरुषार्थी और शरणागत की मनोभूमिका एक नहीं होती। पुरुषार्थी की आवाज श्री लक्ष्मण जी के निम्न वचन में हैं।

नाथ दैव कर कौन भरोसा। सोखिय सिन्धु करिय मन रोसा।।
कादर मन कर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।।
[रा०च०मा०]

जिसे अपने बल का अनुभव है वह उसे अवश्य प्रयुक्त करे। परन्तु सचमुच किसका बल काम कर रहा है, इसका तत्वत निश्चय करना इतना सरल नहीं है।

राक्षसों को अपने बल का घमण्ड था, परन्तु श्री हनुमान जी ने रावण का बल नहीं माना—

जाके बल लवलेस तों जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जाकरि, हरि आनेहु प्रिय नारि।।
[सुन्दरकाण्ड २१]

लंका दहन आदि अपने पराक्रम को भी कहा कि—

सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछुक मोरि मनुसाई।।

व्यवहार में हमें विभिन्न बलों का संघर्ष दिखाई देता है, परन्तु सन्त की दृष्टि में एक ही शक्ति कार्यरत है, उसी का बल है जो सन्त को प्राप्त है। अज्ञानी के लिए यदि एक ही बल हाथी और शेर में विरोधी कार्य कर रहा है तो वह व्यर्थ है, उसका आश्रय क्या लेना? परन्तु सन्त के लिए यह सब दूर की चीज या अनुमान प्रमाण के आश्रित नहीं हैं, प्रत्यक्षानुभूति है, वह भगवदीय शक्ति को ही सर्वत्र क्रियमाण पाता है, बल एक ही है और वही बल उसका रक्षक है। इससे विपरीत आभास श्री भगवान् की लीला है, जिससे मोहग्रस्त को भय होता है, ज्ञानी सन्त को नहीं।

नट कृत विकट कपट खगराया। नट सेवकहि न व्यापै माया॥

माया के दो रूप हैं—अविद्या 'जा बस जीव परेउ भवकूपा, और विद्या—जो भगवत्सन्मुख करती है—

हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि विद्या॥
ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै विहंगवर॥
(उत्तरकाण्ड ७९)

मुधा भेद यद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

रहस्यमय अदृष्ट शक्ति ही, कुरान कथित ग़ैब है, वही एक मात्र शक्ति (वाहिद) हैं, सन्त उसके हैं, वह सन्त की है। उसके सहारे जिन्दगी काटना ही इस्लाम (शरणागति) का सार है। उसके बल पर निर्भय रहना सन्त का गौरव है। सबका योग क्षेम (रिज्क) उसी के आश्रित है, वह भर्ता (भरण पोषण कर्ता, रज्ज़ाक) है। सन्त का बल वही है और कोई नहीं।

तुलसिदास शीतल नित एहि बल बड़े ठिकाने ठौर को हौं ।
(वि०प०)

बलं बलवतां चाहं । (गीता ७.११)

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम् ।
प्रह्लाद वाक्य (श्रीमद्भागवत ७.८.८)

यह एकमात्र दिव्य रहस्यमय व्यापक शक्ति जिसके साथ है, वह उसके बल से निर्भय है । इसीलिए अंगद ने रावण की सभा में निर्भीक होकर प्रवेश किया—

यथा मत्त गज यूथ महँ, पंचानन चलि जाइ ।
(लंका काण्ड १९)

एक सन्त के पास एक जगह से नियमित रूप से मनी आर्डर आता था । वह बन्द हो गया तो कुछ मित्र उन्हें धीरज बँधाने गए कि 'महाराज आपकी वृत्ति बन्द होइ गई है !' सन्त ने पूछा, 'हियाँ (इस संसार) से बन्द होइ गई है, कि हुआँ (भगवान् के यहाँ) से बन्द होइ गई है ?'

अकिंचन सन्तों का बल भगवान् ही है, उसकी विशेष व्यवस्था से उन्हें आवश्यकतानुसार सब कुछ प्राप्त होता है । सुरक्षा, पोषण, सुयश, सत्संग, साधन, सद्गति आदि सब कुछ मिलता है । 'दरे करीम पे बन्दे को क्या नहीं मिलता ।

मै कछु कहौं एक बल मोरे । तुम रीझहु सनेह सुठि थोरे ।।
(बालकाण्ड ३८९)

सन्त के लिए भगवान् का बल संकट काल के लिए सुरक्षित नहीं है, सर्वत्र सर्वदा उपलब्ध है। सन्त के लिए वही एक बल सच्चा है, संसार का व्यवहार नट का सा तमाशा है। कठपुतली के तमाशे में कौन पुतली जीतेगी यह सूत्रधार पर निर्भर है, कठपुतलियों पर नहीं—'राम सूत्रधर अन्तर्यामी। (रा०च०मा०) जो सच्चा सन्त हो चुका वही इस दिव्य अनन्यता में रह सकता है, दाम्भिक नहीं।

सन्त को एक ही आस है। इसका पहला संकेत यह है कि एक ही से आस है। किसी और से नहीं। श्री ग ोस्वामी जी कहते हैं–

जग जाँचिउ कोउ न, जाँचिय जौ, जिय जाँचिय जानकी जानहि रे।
जेहि जाँचत जाचकता जरि जाइ, जो जारत जोर जहानहि रे।।

(कवितावली, उत्तरकाण्ड)

पहली बात यह है कि सन्त भगवान् के सिवा किसी और से कुछ नहीं माँगते। बिलकुल नहीं चाहिए तो सबसे अच्छा है, पर माँगने का नम्बर आए तो अपने मन में ही और भगवान् से ही माँगते हैं।

जो छोटा बालक माँ से ही माँगता है और कोई और कुछ देने लगे तो बिना माँ की अनुमति के स्वीकार तक नहीं करता, वह बड़ा अच्छा लगता है। वैसे ही जो भक्त भगवान् से ही माँगता है, दुख कष्ट, की निवृत्ति की आशा करता है, दूसरे के द्वारा कुछ मिलने लगे तो भी भगवदाज्ञा के विरुद्ध कुछ भी स्वीकार तक नहीं करता, वही सचमुच अनन्य और शरणागत है।

यदि भगवान् से सब आशाएँ पूरी होती जायँ, तो ठीक है, नहीं तो और की सहायता ले सकते हैं। उनसे माँग सकते हैं, ऐसा भाव हो तो यह अनन्यता नहीं है, न यह शरणागति है।

जे लोलुप भए दास आस के, ते सबही के चेरे।
प्रभु विस्वास आस जीती जिन, ते सेवक हरि केरे।।
(वि०प०)

तथा-

लोलुप भ्रम गृह ज्यों जहँ तहँ सिर पद त्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग अजहुँ न मूढ़ लजै।।
(वि०प०)

भगवान् सन्त की दृष्टि में कल्पवृक्ष के समान हैं।

जाइ निकट पहिचानि तरु, छाहँ समनि सब सोचु।
माँगत अभिमत पाव जल, राउ रंक भल पोच।।
(अयोध्याकाण्ड)

संसार वालों की आशाएँ पूरी नहीं होतीं, तो यह कहा जा सकता है, उन्होंने कल्पवृक्ष (भगवान्) की निकटता नहीं प्राप्त की, उसे पहचाना नहीं, छाँह (शरणागति) में पहुँचे नहीं, परन्तु भक्तों की आशाएँ पूरी न हो तो क्या यह कहेंगे कि उनको आशा रखनी ही नहीं चाहिए ? तो फिर भगवान् किसकी आशा पूरी करने के लिए कल्पवृक्ष हैं ?

सच्चा शरणागत यह आग्रह नहीं करता है कि उसकी सभी आशाएँ, आकांक्षाएँ, याचनाएँ भगवान् पूरी करें। निवेदन कर दिया, फिर भगवान् का जैसा विधान हो उसी में सन्तुष्ट रहते हैं—

अर्जी हमारी आगे मर्जी तुम्हारी है।

भक्त की इच्छा है, भगवान् पूरी नहीं कर रहे हैं, तो भक्त के विचार से इसका कारण यही है कि भगवान् उसको पूरा करना ठीक नहीं समझते। तो फिर भक्त को भी उनकी मर्जी पर सन्तोष है।

श्री स्वामी रामतीर्थ ने एक प्रवचन में समझाया कि जो जो आप कहें वह वह भगवान् पूरा करते जायँ तब तक आप खुश हैं, नहीं तो आप नाराज हो जायँ, यह आप भगवान् की सेवा पूजा करते हैं या भगवान् को आपने अपना नौकर बना रक्खा है ? फिर कहा कि राम को तो भगवान् का वह नाम प्यारा है जिसका अर्थ है डाकू । हरि = हरण करने वाला = डाकू । पाने के बजाय देने का आनंद है । यदि भगवान् सब पापों, संस्कारों, आसक्तियों आदि का निःशेष अपहरण कर लें तो फिर सहज ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय ।

'हरिर्हरति पापनि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।

व्रजे वसन्तं नवनीत चौरं, गोपांगनानां च दुकूल चौरं ।
अनेक जन्मार्जित्त पाप चौरं, चौराग्रगण्यं सततं नमामि ।।

भक्त यह नहीं चाहता कि पाप छिन जांय, पुण्य बचे रहें, क्योंकि पुण्य बचे रहे तो भव बन्धन और आवागमन भी बचा रहेगा ।

रहीम साहब अकबर का दरबार छोड़कर चित्रकूट में बसने लगे थे, वे वहाँ भार झोंक रहे थे । किसी ने पूछा --

जाके सिर अस भार, सो कस झोंकत भार इमि ?

'इतने बड़े उत्तरदायित्व के पद पर रहते हुए आप इस तरह भार क्यों झोंक रहे हैं ?' रहीम ने उत्तर दिया —

रहिमन उतरे पार, भार झोंकि सब भार में ।।

यदि अबोध बालक अनिष्टकारी क्रिया करता है या अनिष्टकारी वस्तु माँगता है तो हितकारिणी स्नेहमयी माता उसकी बात पूरी नहीं होने देती ।

गह सिसु बच्छ अमल अहि धाई । तहँ राखै जननी अरगाई ।।

अथवा—

कुपथ माँग रुज व्याकुल रोगी । बैद्य न दोइ सुनहु मुनि योगी ।।

तो फिर हम यदि अज्ञानवश या असावधानी से अहितकर वस्तु माँगें तो क्यों मिले ? उसके न मिलने में क्या हित है यह तुरन्त नहीं तो बाद में स्पष्ट हो जाता है, हम अल्पज्ञ हैं, प्रभु तो सर्वज्ञ हैं ।

नारद जी व्याह करना चाहते थे, भगवान् ने नहीं करने दिया इसी में देवर्षि का हित था ।

एक सच्चे भक्त की पत्नी का देहान्त हो गया दूसरा व्याह होने वाला था कि घर में बड़ी भारी चोरी हो गई । उन्होंने श्री रामाज्ञा प्रश्नावली में प्रश्न निकाला तो नारद मोह सम्बन्धी दोहा निकाला । वे भगवान् का संकेत समझ गए कि वे उन्हें दूसरे विवाह से बचाना चाहते हैं । पहले विवाह सम्बन्धी उत्तरदायित्व उन्होंने नौकरी से निवृत्त होते होते लगभग पूरे कर लिए, सेवा निवृत्त होकर लगभग दस वर्ष अयोध्यावास व भजन किया, जो वे दूसरा विवाह होने पर न कर पाते । अत: वे सन्तुष्ट और प्रसन्न ही थे कि भगवान् ने दूसरे विवाह से बचा लिया ।

एक सन्त रास्ते में जा रहे थे, किसी ने ऊपर से चूल्हे की गरम राख (जिसमें आग भी थी, फेंक दी जो उन पर गिरी । वे हँस पड़े । उनसे पूछा गया कि आपके ऊपर आग फेंकी गई और आप नाराज नहीं हुए, उल्टे हँसे ! ऐसा क्यों ? वे बोले, 'आज हमारे भाग्य में यह था कि हमारे ऊपर आग बरसेगी । जरा देखिए तो कि कैसे आग बरसी ?'

अनन्य शरणागत सन्त भगवान् के विधान को ही मंगलमय मानते हैं, इसलिए आशा भंग के दुःख से बचते हैं और भगवान् पर उनकी श्रद्धा कम नहीं होती।

अपनी बातें पूरी न हों, आघात पर आघात लगें तो भी सन्त को भगवान् की ही आशा रहती है, और किसी की नहीं।

जौ धन बरसै समय सिर, जौ भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि, तऊ तिहारी आस।।

(दोहावली २७८)

सन्त का विश्वास एक राम पर ही होता है। सांसारिक संयोग जिनसे हमारा काम चलता है, भगवान् के ही बनाए हुए हैं, उन्हीं की मर्जी से कायम हैं, और उनकी इच्छा से देखते ही देखते बदल सकते हैं, मिट सकते हैं या सुधर सकते हैं।

अपरिग्रही सन्तों का योग क्षेम चलता है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का सिलसिला बनता रहता है। भगवान् सार सँभाल कर रहे हैं, करते रहेंगे ऐसा उनका दृढ़ विश्वास है। यह अक्षयवट के समान अक्षय है, कभी नष्ट नहीं होता।

भगवान् पर अटल विश्वास, इसका अर्थ आलसी जीवन नहीं है, परन्तु सक्रिय जीवन होने पर भी भगवान् की शक्ति पर ही विश्वास रहता है। सन्त यदि कोई मठ या आन्दोलन चलाते हों तो उस कार्य की सफलता के लिए वे भगवान् की कृपा पर ही विश्वास करते हैं। प्रह्लाद जी का विश्वास ही उनका रक्षक बना। बाइबिल में भी इस प्रकार की कथा है जिसमें तीन भक्त आग में झोंके गये। परन्तु उनके कपड़े तक नही जले जबकि आग इतनी तेज थी कि झोंकने वाले जल गए। (ओल्ड टेस्टामेण्ट, डैनिएल, अध्याय ३)। ईसा का उपदेश ही था कि

विश्वास (फ़ेथ्) से पहाड़ भी चल सकते हैं। विश्वास के चमत्कार पुराणों में, कुरान, बाइबिल आदि में, भक्तमाल में, तथा अन्य सन्त चरित्रों में भरे पड़े हैं।

एक कैदी था। उसे फ़ाँसी होनी थी। वह विश्वास करता था कि उसे फाँसी न होगी। कारण कुछ नहीं बता पाता था। फाँसी का दिन आ गया, वह फ़ाँसी के तख्ते तक पहुँच भी गया, मगर वह यह कहता रहा कि उसे फाँसी न होगी। इसी समय सहसा गवर्नर का आदेश पहुँच गया कि अभी फांसी न दी जाय। वह बच गया। सम्बन्धित जल्लाद के वक्तव्य के आधार पर यह घटना समाचार पत्र में प्रकाशित हो चुकी है।

सारी अनन्य गति, अस्मिता (अभिमान, अहंभाव) के निरसन से सम्बन्धित है। इसमें अपने बल की अनुभूति होती ही नहीं। सर्वत्र भगवदीय शक्ति ही क्रियमाण दिखाई पड़ती है। कठिन कलिकाल में विश्वास वालों की ऐसी रक्षा रहती है, जैसे कि जमाने का उन पर कोई असर ही न हो।

इस तरह के प्रश्न तो उठते ही हैं कि यदि यह सब सच है तो महान सन्तों के जीवन में विघ्न बाधा, व्याधि आदि का अभाव होना चाहिए वह क्यों नहीं होता? यह विषय अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमय है, परन्तु एक सीमा तक श्री गोस्वामी जी ने इस विषय पर चातक छत्तीसी में अत्यन्त महत्वपूर्ण संकेत दिये हैं। चातक अपने नेम प्रेम के लिए प्रसिद्ध हैं, उसके जीवन में क्या दुःख आघात नहीं हैं? हैं। फिर उसका नेम प्रेम कैसे निभता है। चातक के रूपक का विस्तार करके श्री गोस्वामी जी ने सन्त रहनि को समझाया है। यह चातक हर बात में प्राणि शास्त्र वाला चातक नहीं है, साहित्य वाला चातक है। उसे (चातक को) श्री गोस्वामीजी ने चातक-छत्तीसी में अनन्य गति का प्रतीक बना दिया है।

यहाँ 'राम रूप स्वाती जलद' पाठ है। श्री दोहावली जी मे दोहा २७७ में केवल तृतीय चरण में थोड़ा पाठभेद है। वहाँ 'एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास ।। पाठ है।

यहाँ यह उपयुक्त होगा कि जब सन्त चातक हैं, भगवान् ही घनश्याम हैं (या स्वाती जलद हैं) तो सन्त रहनि के जो रहस्य 'चातक छत्तीसी' में प्रकट हुए हैं उन्हें संक्षेप से समझ लिया जाय।

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास ।।
(२७७)

जौ घन बरषै समय सिर, जौ भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहिं, तऊ तिहारी आस ।।
(२७८)

मान्यता के अनुसार चातक केवल स्वाति नक्षत्र में हुई वर्षा के पानी की बूँदों को बादल से गिरते समय नभ में ही अपनी चोंच में लेकर पीता है, अन्य जल का पान नहीं करता।

यह आवश्यक तो नहीं है कि स्वाति में जल वर्षा हो। वर्षा आर्द्रा नक्षत्र में सूर्य के आने पर प्रारम्भ होती है। स्वाति नक्षत्र सावन भादौं (श्रावण, भाद्रपद) महीनों के बाद वर्षा के अन्त में आता है। वह विशेष वर्षा का नक्षत्र नहीं है। यदि चातक आशा लगाए रहा, पर स्वाति नक्षत्र में वर्षा हुई ही नहीं तब क्या होगा ? यही नहीं ! कल्पना कीजिमे कि वहुत से वर्ष इसी तरह निकल गए। स्वाति नक्षत्र में पानी नहीं बरसा। तब क्या होगा ? श्रीगोस्वामी जी कहते हैं कि चाहे स्वाति नक्षत्र में वर्षा हो और वर्षा की बूँदें ठीक चातक के सिर पर गिरें और

वह आसानी से पी सके (क्योंकि दूरस्थ देश में वर्षा होने से चातक को क्या लाभ, जबकि वह वहाँ बरसा हुआ पानी पियेगा नहीं), या फिर ऐसा हो कि चातक का परम प्रेमास्पद मेघ जन्म भर उदासीन रहे, चातक को कभी स्वाति नक्षत्र की वृष्ठि की बूंदें मिलें ही नहीं, दोनों दशाओं में चातक को घनश्याम की ही आशा है, किसी और की कभी नहीं।

सन्त रहनि के पक्ष में अर्थ यह है कि सन्त अपरिग्रही हैं, जो कुछ भगवान भिक्षा रूप से सहज ही दिला दे उसी पर गुजर करने वाले हैं। चाहे इसी रूप से आराम के सारे साधन जुट जायँ या उन्हें एकदम वस्त्र अन्न का भी अभाव रहे, सन्त भगवान् के सिवा किसी और से कोई आशा नहीं करते, योग क्षेम के लिए भगवान् के ही आश्रित रहते हैं, उन्हीं की आशा करते हैं।

चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पिये न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि ।। (२७९)

श्री गोस्वामी जी की सम्मति है कि चातक को स्वाति का जल पीना भी बन्द कर देना चाहिए, प्रेम की प्यास बढ़ती ही रहे यही अच्छा है, उसके घटने से तो प्रेम की प्रतिष्ठा ही घट जायेगी।

सन्त भगवदाश्रित हैं, अपरिग्रही हैं, भिक्षा आदि के नियमों का दृढ़ता से पालन करते हैं। भगवान् से निर्मल प्रेम की ही भिक्षा माँगते हैं, और कुछ नहीं माँगते। 'दिव्य भक्ति प्रयच्छ मे' नान्यं वस्तु कदाचन। तथापि यदि कुछ लौकिक आवश्यकताएँ हैं तो वे उनकी पूर्ति के लिए भगवान् के भिक्षुक हैं। योग क्षेम पारमार्थिक भी होती है। साधन ठीक सधे, अन्तःकरण शुद्ध हो, प्रेमा [या परा] भक्ति सिद्ध हो, इन सबके लिए तो अनन्य भक्त भगवान् का भिक्षुक है ही।

याचना कुछ भी हो, तीव्र संवेग के साथ याचना करने में जो भावोद्रेक होता है वह प्रेम का प्राकट्य है। याचना नहीं पूरी होने तक जो भाव की तीव्रता रहती है वह याचना पूरी होने पर नहीं रहती। कम तो हो ही जाती है, भले ही फिर से बढ़े। चातक यदि खूब प्यासा हैं, तो जिस तड़प के साथ घनश्याम से याचना करता है, प्यास बुझने पर वह तड़प कहाँ रहेगी ?

रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग।।

[२८०]

रटन करते करते जीभ थक गई, प्यास से अंग सूख गए, परन्तु चातक के प्रेम के रंग में नित्य नया निखार आता जाता है।

चातक मेघ से बराबर याचना करता है, रटते रटते थक जाता है, प्यास से अंग सूखते हैं, उधर मेघ पानी नहीं दे रहा है। चातक को कोई शिकायत नही पैदा होती। प्यारे के प्रति जो प्रेम है उसमें नित्य नया रंग चढ़ता जाता है, रुचि बढ़ती जाती है, खिन्नता नहीं होती।

सन्त भगवान् का ही नाम रटते हैं, परिस्थितियाँ प्रतिकूल होती जायँ तो भी उनके प्रेम में आघात नही लगता। विषम परिस्थिति में भी भगवान् को अधिकाधिक भावपूर्वक याद करते हैं, पुकारते हैं।

यहाँ स्मरणीय यह है कि सन्त सुख दुःख हानि लाभ आदि के तितिक्षु (सहने वाले) होते हैं। भगवान् ने भी तितिक्षा का उपदेश दिया है (गीता २.१४)। सन्तों के भजन का यह लक्ष्य नहीं है कि सुखी जीवन बना रहे। कोई कोई सन्त वर्षों कठिन बीमारी झेलते रहे, भगवान् से स्वस्थ होने के लिए प्रार्थी न हुए। भगवान् सब देख रहे हैं, जानते हैं,

उन्हें जो पसन्द है वह अपने को भी पसन्द है, उनका विधान सन्तोषपूर्वक स्वीकार है, ऐसा उनका भाव रहता हैं।

दु:ख दर्द में भगवान् को अधिक भावपूर्वक स्मरण करने का अवसर होता है, सबके लिए नहीं शरणागत के लिए। साधारण जीव तो दु:खदर्द के समय सकाम आर्त पुकार भले ही लगा दें, भगवान् का एकाग्रता से स्मरण नहीं कर पाते। शरणागत सन्त के लिए जब साधारण कार्यक्रम दु:खदर्द से भंग हो जाता है, तब विशेषत: भगवान् कों पुकारने का ही कार्यक्रम चलता है।

परिस्थितियाँ बिगड़ी रहें पर प्रेम बढ़ता रहे इसी में सन्त का अनोखा गौरव है, निष्काम भूमिका पुष्ट प्रमाण है। चाह नहीं तो कोई खटक नहीं, और भगवान् के प्रेम में कोई अटक भी नहीं। ग़ालिब कहते हैं—

दर्द मिम्नतकशे दवा न हुआ। मैं न अच्छा हुआ बुरा न हुआ॥

बीमारी ने दवा की मिन्नतें (प्रार्थनाएँ) नहीं की, दवा ने कृपा नहीं की। मैं अच्छा नहीं हुआ। यह कोई बुरी बात नहीं हुई। दवा की मिन्नतें करना ही अपमानजनक था। इस शेर की व्यञ्जना निष्काम भक्ति, शरणागति की ओर है।

चढ़त न चातक चित कबहुँ, प्रिय पयोद के दोख।
तुलसी प्रेम पयोधि की, ताते नाप न जोख॥ (२८१)

चातक के ध्यान में अपने प्यारे मेघ का कोई दोष नहीं आता। इसी से प्रेम के सागर की कोई नाप जोख नहीं हो सकती। वह अथाह और अपार है, उसकी सीमा नहीं।

किसी वस्तु की मजबूती नापने का यह सूत्र है कि उसके तोड़ने में कितनी शक्ति लगानी पड़ती है। जिसे तोड़ने में अधिक शक्ति लगे वह अधिक मजबूत मानी जायेगी।

साधारण व्यक्ति जैसा प्रेम करता है वह थोड़े आघात से चकनाचूर हो सकता है। वह प्रबल आघात सहन नहीं कर सकता।

मित्रता प्राय: टूट जाती है और आरोप सुनने में आता है कि अमुक बड़ा स्वार्थी या कपटी निकला। लेकिन स्वार्थ का आरोप प्राय: दोनों पक्षों की ओर से होगा। कुछ भी हो, आरोप लगाने वाला यह नहीं सोचता कि दूसरे को तो स्वार्थी तब माना गया जब आघात लगा और मैत्री टूटी। आघात लगा यानी अपनी इच्छा (स्वार्थ) पूरी नहीं हुई, उसमें दूसरे ने साथ नहीं दिया या साथ देना बन्द कर दिया। तो फिर विचारणीय है कि अरोपग्रस्त व्यक्ति स्वार्थी निकला (सिद्ध हुआ) या आरोपक स्वयं स्वार्थी निकला। यदि दूसरे की मित्रता स्वार्थपूर्ण थी तो आपकी कब नि:स्वार्थ थी। यदि नि:स्वार्थ होती तो आघात कैसे लगता ?

सुर नर मुनि सबकै यह रीती, स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।

अत: हम अपने स्वार्थ को न पहचानें और दूसरे को स्वार्थी बताएँ, इसमें बड़ा खतरा है, बड़ा धोखा है।

साधारणत: जो प्रेम होता है उसका कुछ लौकिक आधार रहता है। सहपाठी, सहयोगी, सहवासी, सहकर्मी आदि से प्रेम किया जाता है, समान कार्य उसका आधार है। किसी प्रेम में रूप का आकर्षण है, किसी में धन का या किसी में गुण का। इस प्रकार के प्रेम में हम कुछ पाना चाहते हैं, कुछ लाभ उठाना चाहते हैं। साथ में कुछ दे भी सकते

हैं। जो कुछ हम पाना चाहते हैं उसके मूल्य में हम कभी कभी बहुत कुछ दे सकते हैं।

जिस प्रेम (आसक्ति) का आधार नष्ट हो जाय वह जारी नहीं रह सकता। यदि रूप का ही आकर्षण है तो वह सौन्दर्य के नष्ट हो जाने पर टिक नहीं सकता, यह भी सम्भव है कि रूप की अधिकता मिलने पर आकर्षण केन्द्र बदल जाय। जरा या व्याधि से सौन्दर्य नष्ट होने पर आसक्ति का ह्रास हो सकता है। यदि धन (वैभव, सुख, सुविधा आदि) का आकर्षण है तो वह सम्पन्नता नष्ट होने पर नहीं टिकेगा। किसी अन्य गुण का आकर्षण है तो उस गुण के नष्ट, क्षीण या अप्रभावी होने पर वह अस्त होगा। परन्तु इस सब में तो स्वार्थ का आधार है ही। गुणों का प्रवाह एक रस नहीं रह सकता। अत: गुण आधारित प्रेम भी स्थिर या शाश्वत नहीं रह सकता। परन्तु किसी का अन्त:करण इस प्रकार के अस्थाई, क्षय होने वाले, स्वार्थाधारित प्रेम को सच्चा नहीं मानता, उससे सन्तुष्ट नहीं होता। तो फिर सच्चा प्रेम कहाँ है? कैसे होता है?

गुण रहितं कामना रहितं प्रतिक्षण वर्धमानं सक्ष्मतर मनुभवरूपं।
अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपं।

(नारद भक्ति सूत्र)

दार्शनिकों ने, चिन्तकों ने यह माना है कि प्रेम का लौकिक आधार क्षीण होने पर वह अवश्य क्षीण होगा। गुण, कामना आदि के आधार से रहित प्रेम ही स्थिर रह सकता है।

जो प्रेमी जो कुछ माँगता है, वही उसके प्रेम का आधार जान पड़ता है। अभिलषित वस्तु मिलती रहे तो प्रेम दृढ़ होगा, नहीं तो क्षीण होगा। जिससे हम प्यार करते हैं, उससे हम जो कुछ माँगते हैं,

समझते हैं कि हमें मिलना ही चाहिए, वह नहीं मिलता तो आघात लगता है। प्रेमास्पद का हमारी याचना को पूरी न करना बुरा लगता है, वह ऐसा ही करता रहे तो कठोर, सहानुभूति रहित, उदासीन या अत्याचारी भी जान पड़ता है। ऐसे ही सन्दर्भ में उर्दू के कवि प्रेमास्पद को ज़ालिम रूप में चित्रित करते हैं।

ज़ालिम से प्रेम कैसे हो सकता है? परन्तु सच्चे प्रेम की यही प्रशंसा है कि वह कठोरता से समाप्त नहीं होता, बढ़ता ही है।

उन्हें हर दम यही धुन है, नया तर्ज़े जफा क्या है?
हमें भी देखना है यह, जफ़ा की इन्तहा क्या है?
(जफ़ा = अत्याचार)

उनको आता है प्यार पर गुस्सा। हमको गुस्से पे प्यार आता है।।

जुर्मे उल्फत कि हमें लोग सजा देते हैं।
कैसे नादान हैं, शोलों को हवा देते हैं।।

शोलों = अंगारों।

प्रेम की दृढ़ता की यह एक कसौटी है कि वह कितना आघात सह सकता है। कितनी कठोरता, बेरुखी उसे तोड़ सकती है? साधारणत: आसक्ति दोप दर्शन को रोकती है, परन्तु उसमें आघात लगता जाय तो कभी न कभी प्रियतम को दोष लगाना ही पड़ेगा। अत्यन्त आसक्त पुरुष अधिक सहन कर सकता है, अधिक समय तक सहन कर सकता है पर उसकी सहन शक्ति असीम नहीं है। उसकी सीमा पार हो जाने पर तीव्र प्रतिक्रिया होती है।

लो वह भी यह कहते हैं कि बे नंगो नाम है।

यह जानता अगर तो लुटाता न घर को मैं ।।

(ग़ालिब)

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि जहाँ तक प्रियतम की कठोरता सहन करके भी दोष, दर्शन न हो वही तक प्रेम की सीमा है। इसी हिसाब से प्रेम की नाप जोख हो सकती है। लेकिन जहाँ पर कुछ भी होता रहे, प्रियतम के दोष का दर्शन होता ही नही, वहाँ प्रेम की सीमा कैसे निर्धारित की जाय ? वह प्रेम समुद्रवत् अपार, अगाध है, उसकी नाप जोख नही हो सकतीं। चातक का प्रेम ऐसा ही हैं, ऐसा ही प्रेम सच्चा है।

वरषि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए, चतुर चातकहि चूक ।।

(२८२)

मेघ भले ही कठोर ओले बरसाकर चातक के पंख के टुकड़े टुकड़ें कर दे, परन्तु (गोस्वामी जी कहते हैं कि) चतुर चातक को अपने प्रेम प्रण के निर्वाह करने में चूकना नही चाहिए।

यदि चातक जल की याचना करता है, मगर ओले बरस जायँ, तो उसके पंख भी टूट सकते हैं, फिर वह बादलों की ओर उड़ेगा कैसे ? और अपनी टेर कैसे लगाएगा ? साधारण चातक बेबस हो जायगा। परन्तु कवि के अनुसार चाहे जितनी बेबसी आए चातक को चूकना नहीं चाहिए, प्रेम की पुकार लगाते ही रहना चाहिए। प्रेम की पुकार शिकायत की पुकार न होने पाए।

सन्त वृत्ति की गहराई में कवि उतर रहा है। बहुत विपत्ति आने पर भक्त कभी कभी विचलित होते देखे गए हैं। मिथिला के एक भक्त महारानी (सीता जी) के गहरे प्रेमी थे, उन पर विपत्ति पर विपत्ति

बढ़ती गई। एक दिन उनका धीरज छूटा और उन्होंने एक पद बनाकर रोते हुए गाया—'सिय जू के चरण, चौपट करण।' उनके आर्त भाव से महारानी जी ने प्रसन्न होकर दर्शन दिए। तब उन्होंने प्रसन्न होकर भावपूर्वक दूसरा पद गाया—

'सिय जू के चरण मंगल करण। उनके दुःख दूर हुए।

हम लोगों को, जो थोड़े से दुःख से विचलित हो जाते हैं, यह अधिकार कदापि नहीं है कि उन सन्तों की आलोचना करें जो विपत्ति के पहाड़ टूटने पर कभी क्वचित् विचलित हो गए। वे हमारी प्रशंसा, श्रद्धा के ही पात्र हैं। यदि वे प्रेम की झील सिद्ध हुए अपार सागर नहीं सिद्ध हुए, तो वे लोग उनका उपहास करने के अधिकारी कहाँ हैं, जो प्रेम का एक गिलास भी सिद्ध नहीं हुए।

तथापि कवि ने आदर्श को स्पष्ट किया कि परिस्थिति चाहे जितनी विषम हो जाय चतुर चातक (आदर्श सन्त) प्रेम निर्वाह में चूकेगा नहीं।

विषम परिस्थिति में ही प्रेम की परीक्षा हो जाती है। आदर्श अध्यापक को विद्यार्थी की स्थिति परीक्षा से पूर्व ही ज्ञात रहती है, परन्तु परीक्षा के बाद विद्यार्थी को अपनी स्थिति अच्छी तरह ज्ञात हो जाती है तथा अन्य लोगों को भी ज्ञात हो जाती है। इसी तरह साधक की परीक्षा उसी के लिए उपयोगी होती है तथा अन्य लोगों को भी इससे उसकी स्थिति के समझने में सहायता मिलती है।

कुन्ती ने भगवान् से वरदान ही माँगा कि विपत्तियाँ सदैव आती रहें (श्रीमद्भागवत १.८.२५), जिनको दूर करने के लिए आप आकर दर्शन देते हैं।

जैसे अग्नि स्वर्ण के मैल को भस्म करती है, वैसे ही धैर्य और तितिक्षा पूर्वक प्रेम निर्वाह करने से अन्त:करण पवित्र होता है और प्रेम विकसित होता है ।

कनकहिं बान चढ़ै जिमि दाहे । तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहे ।।

चतुर (सावधान) सन्त अन्त:करण शुद्धि और प्रेम की वृद्धि होती रहे इसके लिए सब कुछ सहने को तैयार रहते हैं, क्योंकि वे अर्थ धर्म काम मोक्ष के चाहने वाले नहीं हैं, केवल प्रेम के ही चाहने वाले हैं ।

माँ बालक का खेल इसलिए भी बिगाड़ सकती है कि वह उसे गोद में लेना चाहती है । वृत्रासुर ने रणभूमि में कहा—

त्रैवर्गिकायास विघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।
तत्रानुमेयो भगवत्प्रसादो न लभ्यतेऽकिंचन गोचरोन्यैः ।।

(श्रीमदभागवत ६.११.२३)

हमारे प्रभु ! हम लोगों के त्रैवर्गिक (अर्थ धर्म, काम सम्बन्धी) प्रयासों में विघ्न डाल देते हैं, उसमें भगवत्कृपा का ही अनुमान (दर्शन) करना चाहिए क्योंकि वे अकिंचन गोचर हैं, दूसरों को नहीं मिलते ।

परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ।

(रा०च०मा०)

श्री राघवेन्द्र सरकार को स्वयं विवाह के थोड़े ही समय बाद राज्यतिलक मिलते मिलते बनवास मिल गया । परन्तु उन्होंने यहीं माना कि—

'सबहि भाँति हित मोर ।,

(रा०च०मा०, अयोध्याकाण्ड)

इसलिए चतुर सन्त (सावधान, धीर, तितिक्षु, निष्काम, प्रेम का ही आदर्श रखने वाले सन्त) बड़ी से बड़ी विपदाओं में भी प्रेम प्रण के निर्वाह करने में चूक नहीं करते।

उपल वरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर।।

(२८३)

यद्यपि मेघ कभी कभी ओले बरसाता है, गरजता है मानो चातक को फटकार रहा हो और वज्रपात (बिजली गिरना) भी करता है, परन्तु फिर भी क्या चातक मेघ को छोड़कर कभी दूसरी ओर देखता है ? (नहीं देखता)।

इस दोहे में अनन्य गति को और भी स्पष्ट किया है। ओले बरसाना, पत्थरों को फेंक कर मारने के समान है, गरजना डाटने के समान है, और वज्रपात करना (बिजली गिराना) क्रोध पूर्वक महान् दण्ड देने के समान् है। इस सबसे आकाश में उड़ते हुए चातक की कोई बचत नहीं और इस सबसे यह प्रतीत होता है कि चातक के प्रेम से मेघ प्रसन्न नहीं है, नाराज है। इसी प्रकार जो सन्त घोर कष्ट में पड़े हैं, विपत्ति दूर नहीं होती, बढ़ती ही जान पड़ती है, अज्ञानियों की दृष्टि में भगवान् उनसे नाराज हैं, खुश नहीं हैं। उनका प्रेम भगवान् को स्वीकार नहीं है, तभी तो वे दुःख में पड़े हैं। परन्तु सन्त और भगवन्त का सम्बन्ध अत्यन्त रहस्यमय है।

धैर्य में सहायक एक विचार यह है कि भगवान् किसी भक्त पर कृपा करके उसके कर्म का लेखा इसी जन्म में चुका देना चाहते हैं, कभी कभी यह कष्टमय जीवन सन्तों का कवच होता है, क्योंकि वह अज्ञानियों की दृष्टि से उनकी महिमा को दूर रखता है, अतः उनके भजन में

विघ्नकारी साँसारिक पुरुषों की भीड़ उनके पास नहीं जुटती। परन्तु सचमुच जो धीर है, सब्र करता है, साबिर (सन्तोषी) है, तितिक्षु है, वही पूज्य है, दान उसे मिलना चाहिए, वही उत्तम साधु (फ़कीर) है, वही भगवान् का साथी (औलिया) है, उसको दिया हुआ भगवान् को दिए हुए कर्ज़ के समान है, भगवान् उसे बढ़ा चढ़ाकर (सूद सहित) अदा करते हैं। वही सच्चा शरणागत है, अब्द उल् अल्लाह (भगवान् का दास)। आप चाहे धोखे से भगवान् के क्रोध का भाजन मानें परन्तु सचमुच वह प्रेम भाजन है। (मुहीबुल्लाह, अल्लाह का प्यारा है)। सूफी सन्त सरमद को नास्तिक करार देकर उनकी गरदन काटी गई परन्तु उन्होंने भगवान् से कहा—

बजुर्मे इश्क़े तोरा मो कुनन्द ग़ौका एस्त।
बर सरे बाम आ कि खुश तमाशा एस्त॥

तेरे प्रेम के जुर्म में लोग मुझको मार रहे हैं, जरा छज्जे पर आकर यह बढ़िया तमाशा तो देखो।

दुनियाँ कुछ भी समझे, सन्त विपत्तिग्रस्त होने पर भी भगवत्कृपा का ही अनुभव करते हैं। वे प्रत्यक्ष अनुभूति रखते हैं, अनुमान से काम नहीं चलाते—आत्मवान्नानुमानिक: (श्रीमद्भागवत ११.१९.१)। इसलिए सन्त कभी भगवान् से भिन्न किसी सत्ता का सहारा नहीं पकड़ते। भए हूँ उदास राम, मेरे आस रावरी। (वि०प०) जो तुम त्यागहु राम हौं तो नहिं त्यागौं। परिहरि पाँय काहि अनुरागौं॥ (वि०प०)। यही अनन्यता है।

पवि पाहन दामिनि गरज, झरि झकोरि खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि, तुलसी रागहि रीझि॥
(२८४)

मेघ बिजली गिराकर, ओले बरसाकर, बिजली चमकाकर, गरज गरज कर, वर्षा की झड़ी लगाकर, सब प्रकार से अपनी खीझ यानी अप्रसन्नता प्रकट करता है, परन्तु चातक इस सब व्यवहार में अपने परम प्यारे मेघ का कोई दोष नहीं देता, क्रोध नहीं करता, उल्टे वह मेघ के राग (अनुराग, प्रेम) का ही अनुभव करता है और प्रसन्न होता है।

उनको आता है प्यार पर गुस्सा। हमको गुस्से पे प्यार आता है।।

जहाँ प्रेमास्पद का प्रतिकूल भाव है वहाँ अनुकूल भाव भी हो सकता है, यदि भाव परिवर्तन हो जाय। उदासीनता का प्रेम में बदल जाना कठिन है, विपरीत भाव बदलकर अनुकूल हो जाय यह इतना कठिन नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी है कि कभी कभी प्रेम के प्रत्युत्तर में विपरीत भाव आत्म रक्षार्थ होता है, अपयश, अपराध, पाप या कानून से बचने के लिए। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि प्रायः प्रेमास्पद अपने को बचाना चाहता है कि प्रबल प्रेम के सामने आत्म समर्पण न करना पड़े, इसमें प्रेम की महती शक्ति की मान्यता तो रहती ही है। इस मान्यता से भी प्रेमी प्रसन्न हो सकता है। प्रतिकूल व्यवहार में भी प्रेम की मान्यता निहित रह सकती है।

कई बार प्रतिकूल व्यवहार द्वारा प्रेम की परीक्षा हो जाती है। सच्चा प्रेमी ऐसी परीक्षा से व्यथित नहीं होता।

मुहब्बत करने वाले ग़म से घबराया नहीं करते।

एक और रहस्य है वह विचार विशेष रूप से इस दोहे में निहित है। प्रेमास्पद प्रेम को पहचानता है। वह अपने प्रेमी को आदर्श रूप में देखना चाहता है। साधारण मनुष्य से जिस त्याग, धैर्य, बलिदान,

तितिक्षा आदि की आशा नहीं की जाती उसकी आशा प्रेमी से की जाती है। प्रेमी इस उच्च आदर्श को पूरा न करे तो बुरा लगता है, क्योंकि वह अपना है, इस प्रकार प्रतिकूल व्यवहार भी राग का प्रमाण बन सकता है।

कहते हैं कि लैला दान बाँट रही थी, मजनूँ भी अपना खप्पर लेकर पहुँच गए। इनको भीख न मिली, हाथ के प्रहार से खप्पर गिरा दिया गया और टूट गया। ये प्रसन्न होकर नाचने लगे। किसी ने कारण पूछा तो कहा—सबकी तरह मुझे भी कुछ भीख मिल जाती तो क्या विशेषता थी? विशेषता तो यही है कि सबकी तरह साधारण भिखारी की तरह सामने खड़ा होना नापसन्द किया गया।

इस प्रकार प्रतिकूल व्यवहार में भी अनेक प्रकार से राग का छिपा होना सिद्ध होता है। इस राग (प्रेम) को पहचानकर प्रेमी प्रसन्न होता है, प्रेमास्पद पर और भी रीझता है।

भक्त और भगवान् का सम्बन्ध अति गूढ़ है। कभी कभी तो सन्त दूसरे का दु:ख अपने ऊपर लेकर झेल डालते हैं। इसलिए साधारण व्यक्ति की यह कल्पना कि यदि कोई सन्त लौकिक दृष्टि से कष्ट में है, तो भगवान् उन पर रुष्ट हैं, मोह या अज्ञान ही है। सुख दु:खादि के आधार पर भगवान् की कृपा या कोप की पहचान करना मोहग्रस्त जीव का काम है, सन्त का नहीं।

मान राखिबो माँगिबो, पिय सों नित नव नेहु।
तुलसी तीनिउ तब फबैं, जो चातक मत लेहु।।

(२८५)

सम्मान की रक्षा, भिक्षा वृत्ति और प्यारे से नित्य नया प्रेम, (श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि) ये तीनों बातें एक साथ तब निभ सकती

है, शोभायमान हो सकती हैं, जब चातक की रहनि का अनुसरण किया जाय।

सम्मावित जीवन, याचना और प्रेम निर्वाह—यह तीनों बेमेल तत्व हैं, एक दूसरे के विपरीत काम करते हैं, तीनों का साथ साथ निर्वाह होना कठिन है, परन्तु चातक इन तीनों का निर्वाह करता है। सन्त के जीवन में भी इन तीनों का निर्वाह पाया जाता है।

'सेवक सुख चह मान भिखारी।' के अनुसार भिक्षुक के लिए सन्मान की इच्छा रखना व्यर्थ है। भिखारी सन्मानित नहीं हो सकता। उसे याचना भंग का डर है और अपमान सहन करना पड़ सकता है। इसलिए सन्मान रक्षा तथा भीख माँगना ये दोनों परस्पर विरोधी कार्य हैं, सहयोगी कार्य कदापि नहीं हैं।

इसी तरह यदि प्रेमास्पद के प्रति प्रेम का निर्वाह करना है, उसे अनुकूल करना हैं, उसकी प्रतिकूलता को बचाना है, तो उसके अनुकूल होकर चलना पड़ेगा। अपनी बात रह जाय, पूरी हो जाय, जो प्रेमी चाहे वह प्रेमास्पद को करना पड़े इसमें प्रेमी की शान है, लेकिन प्रेमी अपनी बात का आग्रह न करे, प्रेमास्पद की मर्जी पूरी होने दे तो इसमें प्रेमास्पद की शान है। जिस विषय में दोनों की रुचि अलग अलग हो, दोनों की शान नही रहेगी, एक की ही रहेगी। यदि प्रेमी ने अपनी बात का आग्रह नहीं किया, प्रेमास्पद की बात चलने दी तो शान (यानी सन्मान) की हानि हुई, परन्तु प्रेमास्पद की अनुकूलता मिल सकती है, अपनी शान रह जाय तो प्रेम की हानि हो सकती है। इस प्रकार सन्मान रक्षा व प्रेम—ये दोनों तत्व भी प्रतियोगी हैं, सहयोगी नहीं है। प्रेम में मान का त्याग करना पड़ेगा या मान के लिए प्रेम का।

परस्पर विरोधी तीनों तत्वों का समन्वय कैसे होगा ? ये साथ साथ कैसे चलेंगे ? चातक के रूपक का आश्रय लेकर कवि ने इन तीनों गुणों का सहअस्तित्व सन्तों के जीवन में प्रदर्शित किया है ।

चातक भिक्षु है पर सन्मानित है । प्रणय प्रार्थी है तथापि वह सन्मानित है । मान से उसका प्रेम खण्डित नहीं होता, न प्रेम से मान की हानि होती है । इसी प्रकार सन्त के जीवन में भिक्षुचर्या भी है, सन्मान भी तथा प्रेमास्पद प्रभु के प्रति नित्य नया प्रेम भी है । तीनों का निर्वाह भी हैं । यह आगे स्पष्ट किया गया है ।

तुलसी चातक ही फवै, मान राखिबो प्रेम ।
बक्र बूँद लखि स्वाति हू, निदरि निबाहत नेम ।।

(२८६)

तुलसीदास जी कहते हैं, अपनी सन्मान–रक्षा और प्रेम दोनों का निर्वाह चातक को ही शोभा देता है क्योंकि स्वाति नक्षत्र की वर्षा में भी यदि कोई बूँद टेढ़ी जा रही है, ठीक उसकी चोंच में नहीं आ रही है, तो उसके प्राप्त करने के लिए वह लपकता नही, उसका निरादर करके अपने नियम की रक्षा करता है ।

इस दोहे में नियम निर्वाह, मर्यादा का महत्व, निरूपित है । चातक अपने नेम (नियम निर्वाह) आदि के लिए प्रसिद्ध है ।

नेम तौ पपीहा ही के, प्रेम प्यारी मीन ही के,
तुलसी कही है नीके, हृदय आनि ।

(गीतावली)

चातक हंस सराहियत, टेक विवेक, विभूति ।

(रा०च०मा०, अयोध्याकाण्ड)

प्रेम नेम के निबाहे, चातक सराहिए।

(वि०प० १७८)

सन्त की शान इसी में है कि वह अपने त्याग मूलक नियमों को सुख सुविधा, सफ़लता आदि के पाने के लिए शिथिल नहीं करते, दृढ़ता से उनका पालन करते हैं। शिथिल करने के लिए बहाने तो सदैव उपलब्ध रहते हैं पर सन्त उनको प्रश्रय नहीं देते। सन्त अपने नियमों को हृदय से अपनाए हुए हैं, फिर वे उन्हें शिथिल करने के लिए बहाने क्यों ढूंढें ? कोटि विघ्न ते सन्त कर, मन जिमि नीति न त्याग।

(रा०च०मा०)

चातक का पहला नियम यह माना जाता है कि वह स्वाति नक्षत्र की वर्षा का ही जल पीता है, अन्य जल नहीं पीता। इस नियम से चातक साल भर प्यासा ही रहता है, स्वाति नक्षत्र में सूर्यं लगभग दो सप्ताह ही रहता है। उसी अवधि में पानी बरसा तो पिया नहीं तो वह भी गया। चातक का दूसरा नियम है कि बरसता हुआ जल ही पीता है पृथ्वी पर गिर जाने पर नहीं पीता। स्वाती नक्षत्र में खूब पानी बरसकर निकल जाय तो तालाबों में भरा पानी नहीं पीता। बादल से ही बरसा है, स्वाति नक्षत्र में ही बरसा है पर भूमि पर गिर जाने पर उसके काम का नहीं। चातक का तीसरा नियम है कि स्वाति की वर्षा में भी बूंद सीधे मुंह में आये तो स्वीकार करे नहीं तो निरादर करे, जाने दे, उसका पीछा न करे। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन तीन नियमों के निर्वाह से तो चातक की जान ही चली ज़ायगी, वह जी ही न सकेगा। परन्तु चातक जीता ही है।

अब सन्त जीवन का पहलू देखिए। वह अपने कठोर नियमों से बँधा है। सांग रूपक में सन्तों की रहनि के नियम ही चातक पर घटित

किए गये हैं। सन्त का पहला नियम यह है कि कुवाच्य का वर्जन करता है, शुद्ध कमाई करता है या शुद्ध कमाई की भिक्षा लेता है। यह वैसा ही है कि पपीहा केवल स्वाति का जल पीता है। आजकल शुद्ध कमाई विरलतर हो गई है। शुद्ध कमाई पर ही गुजर करना अशक्य होता जा रहा है। शुद्ध कमाई की भिक्षा पर निर्वाह करना भी उतना ही कठिन है क्योंकि शुद्ध कमाई करने वाले कहाँ से आएँ, जिनकी भिक्षा सन्त ग्रहण करें? अत: इस नियम का पालन अशक्य दिखाई पड़ता है। पर सन्त तो इसके आगे और भी कठोर नियम रखते हैं।

सन्त रहनि का दूसरा नियम यह है कि भिक्षा देने वाले का भाव शुद्ध हो। भिक्षा में अजगरी, मधुकरी, कूकरी, व शूकरी, इस प्रकार चार भेद हैं। अजगर की तरह अपने स्थान पर पड़े रहना, वहीं लाकर दी जाय वही भिक्षा ग्रहण करना, भिक्षा प्राप्ति का यत्न न करना, यह अजगरी वृत्ति है। मधुकरी वृत्ति में थोड़ा थोड़ा भोजन कई घरों से माँग कर खाना होता है। किसी एक व्यक्ति पर एक समय के भोजन का भी भार न पड़े, भ्रमर की तरह विभिन्न पुष्पों का थोड़ा थोड़ा पराग ग्रहण करके काम चलाया जाता है। मधुकर किसी का आश्रित नहीं होता। किसी एक पर आश्रित होकर उसके दान पर गुजर करना और उसके प्रति कृतज्ञ होना उसका पक्ष ग्रहण करना, उसके हितों की पहरेदारी करना यह कूकरी (कुत्ते की) वृत्ति है। शुद्ध अशुद्ध, भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करना, किसी तरह पेट भरना, अपमानजनक दी हुई भिक्षा भी स्वीकार करना, अपमानित जीवन व्यतीत करना, यह शूकरी वृत्ति है। अजगरी और मधुकरी वृत्तियाँ ही प्रशस्त हैं। चातक स्वाति नक्षत्र का भी जल, जलाशयों का भरा हुआ, नहीं ग्रहण करता। सहज प्राप्त ही उसे स्वीकार है। जलाशयों में भरा हुआ जल है, उस पर सभी जीवों का अधिकार है, उसमें चातक हिस्सा नहीं बटाना चाहता। सामूहिक सम्पत्ति, सार्वजनिक दान, अन्नक्षेत्र आदि पर निर्भर रहना भी सन्तों

को पसन्द नहीं। तो उनके लिए अलग अलग ट्रस्ट बना दिये जायँ? वह भी सन्त को पसन्द नहीं। किसी ट्रस्ट का उसी के निर्वाह के लिए बनाया जाना भी उसे पसन्द नहीं। यह तो ऐसा ही होगा कि एक जलाशय उसके लिए अलग कर दिया जाय, और जीव उसमें पानी न पियें। असली सन्त वृत्ति सभी प्रकार की आर्थिक स्थिरता या सुरक्षा का त्याग करती है। सन्त आकाश वृत्ति से रहना चाहते हैं। सभी सन्त इन सब कठोर नियमों को नहीं अपनाते, परन्तु सन्त वृत्ति त्यागपूर्ण ही होती है। विकासशील सन्त स्वभाव उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर त्याग सोपानों पर पहुँचता है। इसलिए इन सोपानों का दिग्दर्शन है। पृथ्वी पर गिरे हुए जल को न पीना अर्थात् आर्थिक स्थिरता, सुरक्षा का त्याग, आकाश वृत्ति का आश्रय। दैवाल्लब्धेन सन्तोषः। (यथा लाभ सन्तोष सदाई।)

एक सोपान इसके आगे भी है। स्वाति नक्षत्र गत हो रही वर्षा का जल जो अभी भूमि पर पहुँचा नहीं है, आकाश में ही है, यह चातक का पेय है। पर उसकी टेढ़ी बूँद को वह लपककर, झपटकर नहीं लेगा, उसका त्याग करेगा। स्वतः चोंच में आ जाय उसी बूँद को स्वीकार करेगा। अन्य बूंदों का त्याग करेगा।

सन्त अपने नियमों के अनुकूल भिक्षा के प्रति भी उत्साहित, उत्कंठित या व्यग्र नहीं रहते, उसके पीछे नहीं पड़ते : वह सहज ही सम्मानपूर्वक उन्हें मिले, उसके लिए वे, प्रयास नहीं करते, लालच नहीं करते।

इन प्रतिबन्धों के साथ कोई जीवित रह सकता है या नहीं, यह अलग प्रश्न है, यथा स्थान उस पर विचार किया जायगा। परन्तु यहां यह समझ लेना पर्याप्त है कि इतने नियमों से प्रतिबन्धित भिक्षा ग्रहण करने वाला सन्त नीच या अपमानित नहीं कहा जा सकता, उसका अत्यन्त सम्मानित होना सुनिश्चित है।

इस प्रकार चातक के इस सांग रूपक के बहाने श्री गोस्वामी जी ने सन्तों की रहनि समझाई है और स्पष्ट किया है कि किस प्रकार दो परस्पर विरोधी भावों (भिक्षा वृत्ति व सम्मान का) सामञ्जस्य, सन्तुलन व समन्वय सन्त जीवन में पाया जाता है।

तुलसी चातक माँगनो, एक सबै धन दानि।
देत जो भू भाजन भरत, लेत जो घूँटक पानि।।
(२८७)

तुलसीदास जी कहते हैं कि चातक एक अनोखा भिखारी है और बादल वैसा ही अनोखा दानी है। देते समय मेघ पृथ्वी के सभी जलाशयों को भर देता है, परन्तु लेने वाला चातक केवल घूँट भर पानी लेता है।

कहते हैं कि एक सन्त थे उन्हें दो पैसे रोज़ प्राप्त होते थे। उतने में ही (सस्ते जमाने में) उनकी गुजर हो जाती थी। एक बार उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि दो ही पैसे प्रतिदिन के हिसाब सम्पूर्ण जीवन के पैसे उन्हें एकदम एक बार में ही मिल जायँ। भगवान् ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। उन्हें जीवन भर की आय तुरन्त मिल गई। उन्होंने अपने ऊपर दो ही पैसे खर्च किए, शेष सब धन से साधुओं का भण्डारा कर दिया। दूसरे दिन उन्हें फिर पूर्व दिवस के ही समान धनराशि मिली और उन्होंने उसका वैसा ही उपयोग किया। किसी सन्त ने भगवान् से जिज्ञासा की कि जब उक्त सन्त ने जीवन भर की आय एक ही दिन में प्राप्त कर ली, तो अब उन्हें रोज उतनी धनराशि क्यों मिलती है? भगवान् ने कहा – उन्हें पूर्ववत् दो पैसे रोज मिलते हैं, शेष दूसरों का भाग है, जो दूसरों को उनके माध्यम से मिलता है।

विभिन्न योनियों में भोजन की खोज जारी ही रहती है, मनुष्यों को भी पेट भरने की विकराल समस्या का सामना करना पड़ता है।

रोटी की समस्या के कारण मनुष्य अत्यन्त विवश हो जाता हैं। उसको बहुत से कार्य न चाहते हुए भी करने पड़ते हैं लोग कहते ही हैं कि पेट बड़ा ज़ालिम है, पेट सब कुछ कराता है आदि ? इसके उल्टे यह भी कहा जाता है कि पेट न होता तो कोई भी उद्योग धन्धे या परोपकार के कार्य क्यों करता ? समाज का बहुत सा उपयोगी या आवश्यक कार्य लोग रोजी रोटी के लिए ही करते हैं। सन्त की रहनि में भोजन की समस्या का महत्व नहीं रहता है। सन्त यदि ग्रहस्थ आश्रम में भी हुए तो भी उनमें अद्भुत सहन शक्ति और धैर्य पाया जाता है। अनेक विघ्न आने पर भी सन्त नीति का मार्ग नहीं छोड़ते हैं। पेट के नाम पर भी वे कुमार्ग में पैर रखने को विवश नही होते। विरक्त सन्त पेट के लिए कोई धन्धा नहीं करते। कबीर और रैदास जैसे सन्त घर में रहते हैं और अपना धन्धा भी करते हैं परन्तु आर्थिक विवशता के नाम पर वे भगवान् के प्रेम के मार्ग को छोड़कर पाप के मार्ग में नहीं जाते। सन्त चाहे कोई उद्योग धन्धा करते हों चाहे न करते हों भाव जगत् में वे भगवान् के ही आश्रित हैं। जैसे सम्पन्न ईसाई भी भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु मुझे आज की रोटी दे (बाइबिल मेथ्यू ६।११)। सन्त के लिए केवल भगवान् का ही आश्रय है और किसी का नही। यही उसकी अनन्यता है। कुरान में कहा है कि भगवान् जिसकी रोजी रोटी चाहता है बढ़ा देता है या घटा देता है। सन्त न सम्पन्नता से प्रसन्न होते हैं न विपन्नता से खिन्न होते हैं। अतः किसी दृष्टि से वे भिक्षुक बिल्कुल नही हैं। असली भिक्षुक को आवश्यकता की वस्तु माँगने पर भी न मिले तो दुःख होता ही है। सन्त ऐसे नहीं हैं। वे भिखारी की दीनता, विवशता आदि से रहित हैं। इसलिए उनका मांगना प्रीति का कार्य है, विवशता का कार्य नहीं। इसी दृष्टि से सन्त की भिक्षा वृत्ति गौरव की वस्तु है निन्दा की वस्तु नहीं। श्री गोस्वामी जी ने इस पक्ष को भली भाँति उजागर किया है।

जब बादल बरसता है तब चातक की आवश्यकता या माँग की पूर्ति मात्र के लिए जल नहीं देता वह तो बरसने पर आवे तो वह पृथ्वी को जलमयी कर देता है। मेघ ऐसा दानी है कि सारी पृथ्वी को जल (जीवन) देता है, केवल चातक को ही नहीं, सबको देता है। चातक जिससे माँगता है वह जब इस प्रकार उदारता से देने लगता है तो भी चातक चाव से उसके दिए हुए जल का संग्रह नहीं करता और उसके द्वारा भरे हुए सरोवरों आदि का जल भी ग्रहण नहीं करता। इस सबसे स्पष्ट हो जाता है कि यह भिखारी और दानी की जोड़ी अनोखी और अनुपम है। यहाँ कवि ने इस अनुपमता की एक बात उठाई है और बातें आगे प्रदर्शित की हैं। चातक साल भर माँगता है परन्तु स्वाति नक्षत्र में बरसती हुई बूंदों का ही पान करता है। स्पष्ट है कि देने वाला असीम दान करने को तैयार है परन्तु लेने वाला केवल अपने मांगने को सार्थक करने के लिए नाम मात्र लेता है चातक एक घूंट पानी ही पीता है। इस प्रकार सदैव आर्त भाव से मांगने वाले परन्तु अपने जीवन में अभाव से व्यथित न होने वाले और सारी दुनियां की सम्पत्ति बरस पड़े तो भी अपने त्याग और अपरिग्रह के नियमों को ढीला न करने वाले सन्त जन यदि भिखारी हैं तो केवल भगवान् के और वह भी विलक्षण प्रकार के भिखारी हैं। ऐसे भिखारी कहीं और प्राप्त नहीं होते। सन्त सभी प्रकार की वासना और आवश्यकता से ऊपर उठ चुके हैं। परन्तु भगवान् के साथ प्रेम लीला में वे भिक्षुक बने रहते हैं। इसलिए वे अनोखे भिक्षुक हैं और भगवान् वैसे ही अनोखे दानी हैं। इसी विलक्षणता के कारण राजा लोग भी उनकी चरण बन्दना हेतु आते हैं और उनके समक्ष अपने मनोरथों की याचना प्रस्तुत करते हैं। इसलिए विवेकी साधकों को सन्तों की भिक्षा वृत्ति का कभी उपहास नहीं करना चाहिए। सन्तों की भिक्षा वृत्ति प्राय: उनकी महिमा को छिपाने का काम करती है। परन्तु ऐसा देखा गया है कि बड़े बड़े दुखी व्यक्तियों का दु:ख उनकी कृपा से दूर हो जाता है।

तीनि लोक तिहुँकाल जस, चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता, सुनी दूसरे नाथ।।
(२८८)

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि तीनों लोकों में और भूत, भविष्यत् और वर्तमान् तीनों कालों में सुयश का सेहरा चातक के ही सिर पर है जिसकी दीनता की पुकार केवल मेघ ने ही सुनी, और किसी स्वामी ने नहीं सुनी।

यहां अनन्यता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है जगत् के व्यवहार में यदि रोगी को एक डाक्टर से लाभ नहीं होता तो स्वाभाविक ही वह दूसरे डाक्टर के पास जाता है। अगर कोई मुकदमा एक वकील के सम्हाले नहीं सम्हलता है तो वह दूसरे बड़े वकील के सिपुर्द किया जाता है, क्योकि रोगी या वादी किसी एक के साथ बंधा नहीं है उसका काम होना चाहिए जिसके द्वारा भी हो सके। इसी प्रकार यदि हम अपनी इच्छा पूर्ति के लिए, अपना काम बनाने के लिए, विभिन्न शक्तियों की शरण लेते हैं तो हम स्वार्थ को सिद्ध करने का ही प्रयोजन रखते हैं। यह भगवत् प्रीति का प्रयोजन नहीं। भगवान् में अटल विश्वास रखने वाले सन्त अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए भगवान् के सिवा किसी और से नहीं कहते, वे प्राय: भगवान से भी कुछ नहीं माँगते।

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासुउर, सो राउर निज गेहु।।
(रा०च०मा० अयो०)

नहीं कुछ चाहिए जिसको, यही जिसकी इबादत हैं।

श्री आदि शंकराचार्य जी ने भी अत्यन्त निर्धन विधवा के लिए श्री लक्ष्मी जी की स्तुति की थी और धन की धारा बरसाने की प्रार्थना की थी। संस्कृत में इस स्तोत्र का नाम कनक धारा स्तोत्र है क्योंकि इसके बाद उस निर्धन विधवा के आंगन में सोने के आँवले बरस गए और उसकी विपन्नता दूर हो गई। इस प्रकार करुणावश आदि शंकराचार्य जी ने निर्धन विधवा के लिए धन की याचना की (अपने लिए नहीं)। समझने की बात यह है कि ऐसे किसी प्रकरण में भी कोई सन्त भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य से याचना नहीं करते।

जानकी नाथ बिना तुलसी, जग दूसरे सों करिहै नं हहा है।
(कवितावली)

चातक इसलिए धन्य है कि उसकी आर्त वाणी मेघ ही सुनता है, किसी और के सुनने में नहीं आती, अर्थात् किसी और को सम्बोधित नहीं होती। इसी प्रकार सच्चे सन्त की आर्त वाणी केवल इष्टदेव के लिए होती है। दूसरे के प्रति वह वैसी भावना नहीं रख सकते न वैसी वाणी सम्बोधित कर सकते हैं। इसीलिए सन्त गौरवान्वित हैं, धन्य हैं और सुयश का मुकुट उन्हीं के शीष पर शोभायमान है। उनका विश्वास अक्षय वट की भाँति शाश्वत है। भारी से भारी विपत्ति में भी उनका भगवत् प्रेम क्षीण नहीं होता, दूसरे किसी से वे कोई सहायता नहीं मांगते न स्वीकार करते हैं। इसी अनन्यता पर श्री गोस्वामी जी उन्हें साधुवाद देते हैं और यही उनकी अनोखी महिमा है।

प्रीति पपीहा पयद की, प्रगट नई पहिचानि।
जाचक जगत कनावडो, कियो कनौडो दानि॥
(२८९)

चातक और मेघ की प्रीति एकदम अनोखी और नए ढंग की है। वह इसी रूप में पहचानी गई है। सारे जगत में यह देखा गया है कि दान के मिल जाने पर भिखारी दानी का आभारी होता है परन्तु चातक ने दानी मेघ को अपना कृतज्ञ बना लिया।

व्यवहार की मर्यादा है कि लेने वाला देने वाले का आभारी होता है, धन्यवाद देता है, कृतज्ञता ज्ञापन करता है, न कि देने वाला। पपीहे की जीवन की एक रोचक घटना के बहाने श्री गोस्वामी जी ने यहाँ सन्त जीवन के एक और गौरव को उजागर किया है। चातक आकाश में उड़ता हुआ मेघ के सामने सिर ऊँचा (मेघ की ओर) किए हुए पी पी की रट लगाता है। पानी बरसे तो सिर ऊँचा करके चोंच में पानी लेना चाहता है। पानी प्राप्त करने पर भी सिर ऊँचा ही रहता है (मेघ की ओर रहता है)। आभार से सर नहीं झुकता। मेघ जल से भरे होने पर मन्द गामी और नीचे हो जाते हैं—नवाम्बुभिर्भूरि विलम्बिनो घना:। कालिदास देने वाला बादल मन्दगामी होता है, नीचे झुकता है, लेने वाला चातक सर नहीं झुकाता, अभार नहीं प्रगट करता। यह प्रचलित मर्यादा का उल्टा है। सन्त भी इस मामले में चातक की तरह हैं।

वे गिड़गिड़ा कर नहीं माँगते, न पाने पर व्यथित नहीं होते, भिक्षा मिलने पर अति हर्षित या आभारी नहीं होते, याचना पूर्ति को भगवत्कृपा का निर्णायक तथ्य यानी कसौटी कभी नहीं मानते, भगवान् प्रसन्न होकर सम्पूर्ण पृथ्वी का समस्त वैभव उन्हें देने लगें तो भी ग्रहण नहीं करते, सात्विक धन भी अल्पमत मात्रा में ही स्वीकार करते हैं। वे महान् यश के भागी हैं, क्योंकि भगवान् को अपने प्रेम से इतना प्रसन्न कर लेते हैं कि वह सब कुछ देने को तैयार हो जाता है, परन्तु वे अपने त्यागपूर्ण जीवन में कोई कमी नहीं करते। निर्वाह मात्र से अधिक भगवान् का दिया हुआ भी नहीं लेना चाहते।

ऐसे ही सन्तों के वश में भगवान् हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं— 'हम बन्दर वे कलन्दर', जैसा चाहें हमें नचाएँ। 'बस में होते आए, भगवान भगत के।'

पीछे पीछे हरि फिरैं कि भूखे ना रहि जायँ।' कथा है कि श्री राघवेन्द्र पुरी जी के लिए भगवान् ने क्षीर पात्र चुराकर रख लिया, और पुजारी को आदेश देकर उनके पास भिजवाया।

अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे॥

(रा०च०मा०)

तथापि व्यवहार में सन्त भिक्षुक हैं, भगवान् दानी है। कृतज्ञ तो भिक्षुक को होना चाहिए फिर भगवान् क्यों कृतज्ञ होते हैं? यही सन्त तपस्या की तेजस्विता है कि दानी भिखारी का कृतज्ञ रहता है।

सन्त भगवन्त दोनों ही एक दूसरे के प्रति समर्पित हैं, एक दूसरे पर न्यौछावर होते हैं। उनमें अभेद ही है, सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी।

कपि सेवा बस भए कनौड़े, कह्यो पवन सुत आउ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौं, धनिक तू पट्ट लिखाउ॥

(वि०प०)

भगवान् की कृतज्ञता का यह प्रमाण भी है कि वे अपनी बात कट जाय पर भक्त की बात रखते ही हैं—

प्रबल प्रेम के पाले पड़कर प्रभु को नियम बदलते देखा।

महाभारत के युद्ध में भी कृष्ण की प्रतिज्ञा (अस्त्र न धारण करना) के विरुद्ध भीष्म की प्रतिज्ञा हुई कि उन्हें अस्त्र धारण करने पर विवश कर दिया जायगा। भगवान् ने भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी होने दी।

भाग्य के विधान के विरुद्ध भी सन्त वचन को भगवान् पूरा करते हैं। नृसिंहावतार का खम्भे से प्रकट होना—इसमें भी अपने भक्त की बात पूरी करने का प्रयोजन था—

'सत्यं विधातुं निज भृत्य भाषितम्।'

(श्रीमद्भागवत ७.८,१८)

सूफी सन्त शम्से तब्रेज़ का चरित्र है कि सुल्तान के मृत पुत्र को उन्होंने दो बार आज्ञा दी 'अल्लाह के हुक्म से खड़ा हो जा' तो वह जीवित होकर खड़ा नहीं हुआ। तीसरी बार वे बोले–'मेरे हुक्म से खड़ा हो जा।' तो वह जी उठा। यहाँ भी रहस्य यही है कि भगवान ने सन्त की बात पूरी करने को विशेष महत्व दिया। जिस भिखारी पर दाता इस प्रकार लट्टू हो जाय उसके भाग्य या यश का क्या कहना! वह अप्रतिम तो है ही।

नहिं जाँचत नहिं संग्रही, सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहिं को वारिद बिनु देइ॥

(२९०)

जो भिखारी कुछ माँगता नही, जिसे लेकर रक्खे रहने (जमा रखने) से इनकार है, जो सिर झुकाकर दीनता या कृतज्ञता पूर्वक नहीं लेता, ऐसे मानी भिखारी को मेघ के अतिरिक्त और कौन दे सकता है।

यहाँ भी चातक के रूपक के बहाने सन्त रहनि की महिमा व कीर्ति को उजागर करने में कमाल किया गया है। 'सेवक सुख चह मान भिखारी'

(रा०च०मा० अरण्यकाण्ड) भिखारी के लिए इज्जत (सन्मान) का जीवन बिताना सम्भव नहीं। इसलिए 'मान राखिबो' और माँगिबो परस्पर विरोधी हैं। इनका समन्वय चातक के जीवन में पाया जाता है, या फिर सन्त के जीवन में।

भिखारी की असम्मान जनक स्थिति क्यों बनती है ? उसके जीवन में असंमानजनक तत्व तीन हैं—भीख माँगने से ही माँगने वाले की स्थिति देने वाले से निम्न सिद्ध होती है, यह सम्भावना तो रहती ही है कि माँगी हुई भीख न मिले, अस्वीकार के साथ अपमानजनक व्यवहार भी हो तो सहना पड़ेगा। अपमानपूर्वक दिया हुआ दान भी स्वीकार करना पड़े तो मान की रक्षा कैसे होगी ? इसलिए सुप्रसिद्ध है कि भिखमगे सम्मानित स्थिति नहीं पा सकते।

यदि साधारण स्थिति में भिक्षा माँगी जाय और मिल भी जाय, अपमानपूर्वक न मिले साधारण रूप से मिले, तो भी भिक्षा देने वाले के प्रति कृतज्ञ होना पड़ता है, चाहे अन्यत: उसका जीवन कैसा ही क्यों न हो। यह भी असम्मानजनक स्थिति है। भिक्षा न मिलने पर यदि कोसते हुए आगे बढ़ें तोअपना सम्मान नष्ट होता ही है, प्रतिष्ठा नहीं रह सकती है। भिखारी को तत्काल भोजन के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की भी आवश्यकता पड़ती है, परन्तु कोई पसन्द नहीं करता कि भिक्षा मांग कर आश्रित अपने या आश्रित के चिकित्सा व्यय, यात्रा व्यय, त्योहार व्यय, संस्कार व्यय आदि को पूरा करे या तदर्थ संग्रह करे।

एक रोचक घटना कभी समाचार पत्र में छपी थी। एक भिखारिन कानपुर में किसी कारण गिरफ्तार करके थाने ले जाई गई। उसे छुड़ाने के लिए एक वकील साहब पहुँचे और उससे बोले, 'अम्मा, तुमसे कितनी बार कहा कि भीख न मांगो मगर तुम मानती नहीं, कितनी मानहानि

महाभारत के युद्ध में भी कृष्ण की प्रतिज्ञा (अस्त्र न धारण करना) के विरुद्ध भीष्म की प्रतिज्ञा हुई कि उन्हें अस्त्र धारण करने पर विवश कर दिया जायगा। भगवान् ने भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी होने दी।

भाग्य के विधान के विरुद्ध भी सन्त वचन को भगवान् पूरा करते हैं। नृसिंहावतार का खम्भे से प्रकट होना—इसमें भी अपने भक्त की बात पूरी करने का प्रयोजन था—

'सत्यं विधातुं निज भृत्य भाषितम्।'

(श्रीमद्भागवत ७.८,१८)

सूफी सन्त शम्से तब्रेज़ का चरित्र है कि सुल्तान के मृत पुत्र को उन्होंने दो बार आज्ञा दी 'अल्लाह के हुक्म से खड़ा हो जा' तो वह जीवित होकर खड़ा नहीं हुआ। तीसरी बार वे बोले—'मेरे हुक्म से खड़ा हो जा।' तो वह जी उठा। यहाँ भी रहस्य यही है कि भगवान ने सन्त की बात पूरी करने को विशेष महत्व दिया। जिस भिखारी पर दाता इस प्रकार लट्टू हो जाय उसके भाग्य या यश का क्या कहना! वह अप्रतिम तो है ही।

नहिं जाँचत नहिं संग्रही, सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहि को वारिद बिनु देइ॥

(२९०)

जो भिखारी कुछ माँगता नही, जिसे लेकर रक्खे रहने (जमा रखने) से इनकार है, जो सिर झुकाकर दीनता या कृतज्ञता पूर्वक नहीं लेता, ऐसे मानी भिखारी को मेघ के अतिरिक्त और कौन दे सकता है।

यहाँ भी चातक के रूपक के बहाने सन्त रहनि की महिमा व कीर्ति को उजागर करने में कमाल किया गया है। 'सेवक सुख चह मान भिखारी'

(रा०च०मा० अरण्यकाण्ड) भिखारी के लिए इज्जत (सन्मान) का जीवन बिताना सम्भव नहीं। इसलिए 'मान राखिबो' और माँगिबो परस्पर विरोधी हैं। इनका समन्वय चातक के जीवन में पाया जाता है, या फिर सन्त के जीवन में।

भिखारी की असम्मान जनक स्थिति क्यों बनती है? उसके जीवन में असंमानजनक तत्व तीन हैं—भीख माँगने से ही माँगने वाले की स्थिति देने वाले से निम्न सिद्ध होती है, यह सम्भावना तो रहती ही है कि माँगी हुई भीख न मिले, अस्वीकार के साथ अपमानजनक व्यवहार भी हो तो सहना पड़ेगा। अपमानपूर्वक दिया हुआ दान भी स्वीकार करना पड़े तो मान की रक्षा कैसे होगी? इसलिए सुप्रसिद्ध है कि भिखमगे सम्मानित स्थिति नहीं पा सकते।

यदि साधारण स्थिति में भिक्षा माँगी जाय और मिल भी जाय, अपमानपूर्वक न मिले साधारण रूप से मिले, तो भी भिक्षा देने वाले के प्रति कृतज्ञ होना पड़ता है, चाहे अन्यत: उसका जीवन कैसा ही क्यों न हो। यह भी असम्मानजनक स्थिति है। भिक्षा न मिलने पर यदि कोसते हुए आगे बढ़ें तोअपना सम्मान नष्ट होता ही है, प्रतिष्ठा नहीं रह सकती है। भिखारी को तत्काल भोजन के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की भी आवश्यकता पड़ती है, परन्तु कोई पसन्द नहीं करता कि भिक्षा मांग कर आश्रित अपने या आश्रित के चिकित्सा व्यय, यात्रा व्यय, त्योहार व्यय, संस्कार व्यय आदि को पूरा करे या तदर्थ संग्रह करे।

एक रोचक घटना कभी समाचार पत्र में छपी थी। एक भिखारिन कानपुर में किसी कारण गिरफ्तार करके थाने ले जाई गई। उसे छुड़ाने के लिए एक वकील साहब पहुँचे और उससे बोले, 'अम्मा, तुमसे कितनी बार कहा कि भीख न माँगो मगर तुम मानती नहीं, कितनी मानहानि

होती है ?' वह बोली, 'मैंने भीख माँग माँगकर तुम्हें वकील बना दिया, तुमने वकालत करके क्या किया, वह बताओ।' भीख माँग माँगकर बेटे को वकील बना दिया इसकी कदर समाज में नहीं। पेट भरने के अलावा संग्रह किया इसका अपयश मिलता है। संग्रह भी असम्मान का कारण है।

साधु का अपमान भी ऐसे कारणों से होता है, भोजन के लिए आतुर होने पर उसे दुष्ट का दिया हुआ कुत्रान्य भी ग्रहण करना पडता है और बेईमान और शोषक व्यक्ति का भी आभार मानना पड़ता है।

जे जड़ जीव कुटिल कायर खल, केवल कलिमल साने।
सूखत वदन प्रशंसत तिन कहँ, हरि ते अधिक करि माने।।
(वि०प०)

तस्करों आदि की प्रशंसा में प्रवृत्त होना पड़ता है।

तौ लौं जोगी जगतगुरु, जौ लौं रहे उदास।
जौ मन में आशा भई, जग गुरु जोगी दास।।

जे लोलुप भए दास आस के ते सब ही के चेरे।
प्रभु विश्वास आस जीती जिन तो सेवक सब केरे।।
(वि०प०)

लोलुप भ्रम गृह पसु ज्यों जहँ तहँ, सिर पद त्रान बजै।।
(वि०प०)

तुलसी अद्‌भुत देवता, आसा देवी नाम।
सेवत सोक समर्पई, बिमुख भए अभिराम।।
(दोहावली)

सोइ सेंभर सोई सुआ, सेवत सदा बसन्त ।
तुलसी महिमा मोह की, सुनत सराहत सन्त ।। (दोहावली)

भिखारी के विषय में सहज ही ऐसी मान्यता रहती है कि वह दीन हीन, पापों का फल भोगने वाला, लोभ मोहादि से पीड़ित, आलसी व संदिग्ध व्यक्ति है । अत: सन्मान कैसे मिल सकता है ? सन्त भी यदि वह किसी डाकू या लोभी रईस का आश्रित हो जाता है तो जानकार विवेकियों की दृष्टि में सन्मानित नहीं रह पाता ।

साधू रुपया क्यों लेता है ? संग्रह क्य करता है ? उसके पास सम्पत्ति क्यों है ? वह अमीरी ठाठ से क्यों रहता है ? महन्ती के नाम पर विलासी जीवन क्यों है ? ऐसी बातें कही जाती हैं और उसका सन्मान नष्ट होता है ?

चातक मेघ से जल की याचना करता है, अन्य से नहीं, बारहों महीने माँगता है, पर स्वाति नक्षत्र का ही जल ग्रहण करता है, बरसता हुआ जल ग्रहण करता है, पृथ्वी पर गिरा हुआ नहीं । टेढ़ी बूंद को लपक कर नहीं लेता, सीधे चोंच में आई हुई बूँदं ग्रहण करता है । बरसती हुई बूँदों को सिर उठाकर ग्रहण करता है, सिर झुकाकर नहीं लेता । संग्रह नहीं करता । स्वाति नक्षत्र का बरसा हुआ भी पृथ्वी पर सग्रहीत जल नहीं सेवन करता । इसलिए अपमानजनक तत्व उसके जीवन में नही हैं । वह सन्मानित ही रहता है । बल्कि श्री गोस्वामी जी महाराज कहते हैं कि ऐसे मानी भिखारी को मेघ के सिवा कोई अन्य दाता दे ही कैसे सकता है । अन्य दाता मानी भिखारी को दान देना पसन्द नही करेंगे ।

अब सन्त को देखिए । जैसे चातक 'पानी, पानी' की पुकार नही लगाता, 'पी कहाँ, पी कहां' पुकारता है, प्यारे को पुकारता है, पानी

को नहीं। इसी प्रकार सन्त जन भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए भी 'नारायण हरि' पुकारते हैं या भगवान् का कोई और नाम लेते हैं। भिक्षा के आदर्श के अनुसार सन्त जन सीधे सीधे रोटी दाल कभी नहीं माँगते। न मिलने पर शोक या क्रोध के बस में नहीं होते, मिलने पर वे दाता को धन्यवाद नही देते, उसके आभारी नहीं होते। प्राप्त भिक्षा को भगवान् का दिया हुआ प्रसाद ही मानते हैं, उसी को धन्यवाद दे सकते हैं। पैगम्बर मोहम्मद साहब जब भोजन करते थे तो कहते थे—बिस्मिल्ला हिर्रहमानिर्रहीम। (परम कृपालु करुणाकर भगवान् के नाम पर)। जब भोजन कर चुकते थे, तब कहते थे, 'अल् हम्द लिल्लाहि रब्बिल् आलमीन्। (सारी प्रशंसा उसी जगन्नियन्ता प्रभु की है)। आज भी कितने ही फकीर भिक्षा माँगते हुए कहते हैं–'दे खुदा की राह पर।' जो दाता भगवान् की ओर से देता है, अपने अभिमान पूर्वक नहीं, सन्त उसी का दिया स्वीकार करते हैं। जो दाता दान देकर सन्तों को अपना अनुवर्ती बनाना चाहता है, उसका दान शुद्ध नहीं, अनन्य गति सन्तों को वह स्वीकार नहीं। इस प्रकार सन्त भी (चातक की तरह) न भीख माँगते हैं, न सिर झुकाकर लेते हैं।

साधारण भिखारी खुश होते हैं कि दाता ने उन्हें दिया, सन्त किसी का दिया स्वीकार कर लें तो वह खुश और कृतज्ञ होता है कि सन्त ने उसका दिया स्वीकार (कबूल) किया। यहाँ दाता ही कृतज्ञ होता है, आदाता (लेने वाला) नहीं। सन्त साधारण भिखारियों की तरह दीन दुःखी नहीं हैं, उनका देने वाला भगवान् ही है, अन्य कोई नहीं, दूसरे माध्यम मात्र हैं, पत्र पहुँचाने वाले डाकिये की तरह।

यदि माध्यमों की उपेक्षा कर दें और दाता भगवान् और भिखारी सन्त को ही लें, तो भी हम देखेंगे कि सन्त का गौरव यह है कि वह कुछ नहीं चाहता—'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु' (रा०च०मा०) तथा

'यस्य आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्' (प्रह्लाद वाक्य। श्रीमद्भागवत ७ १० ४) 'जिसे आपसे वरदान की आशा है, वह सेवक (भक्त) नहीं बनिया है।' उधर भगवान् सन्त को सब कुछ देना चाहता है, परन्तु सन्त योग क्षेम मात्र के लिए कम से कम ही लेते हैं, जितना वे स्वीकार करें उतने के लिए एक प्रकार से भगवान् भी उनका आभारी रहता है।

भगवान् सन्तों को जिस आराम से रखना चाहता है, सन्त उस आराम से रहना स्वीकार नहीं करते। वे अपने प्रखर त्याग को शिथिल नही करना चाहते। अतः भगवदीय पक्ष में भी दाता को ही हम कृतज्ञ पाते हैं। यह नहीं कि सन्त भगवान् के कृतज्ञ नहीं होते, वे ही सचमुच कृतज्ञ और विनीत होते है पर परम प्रेमास्पद की कृपा के लिए कृतज्ञ रहते हैं। रोटी या सांसारिक सुख सुविधा उस कृपा की (उनके लिए) कसौटी नहीं, प्रतीक या प्रमाण नहीं।

असंग्रह वाली बात भी नहीं भूलनी चाहिए। सभी लोग अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं की पूर्ति के लिए भगवान् की ही मर्जी पर उन्ही की व्यवस्था पर निर्भर हैं, भले ही वे इसे न जानते हों, न मानते हों। यदि यह मान् लिया जाय कि जिसे सुख सुविधा अधिक प्राप्त है, उस पर भगवान् की अधिक कृपा है, तो यह साधारण मनुष्य की कल्पना के अनुकूल तो हो सकता है, परन्तु तत्वदृष्टि से बड़ा व्यतिक्रम हो जायगा। फिर तो अरबपति लोग भगवान् के सर्वश्रेष्ठ कृपापात्र प्रतीत होंगे और 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरं (रा०च०मा०) का सिद्धान्त समझ में ही न आ सकेगा।

स्वामी रामतीर्थ जी ने कहा था 'आपके अधिकृत पदार्थ आप पर कब्जा किये हैं और आपको सताते हैं।' संग्रह की हुई वस्तुओं की

रक्षा, उपयोग आदि की चिन्ता करनी पड़ती है। अधिक रईसी का अर्थ है अधिक चिन्ता। चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः (गीता १६.११) चिन्ता से अशान्ति होती है–अशान्तस्यः कुतः सुखम्। (गीता २ ६६)। इस स्थिति वाला भगवच्चितन और भगवत्प्रेम निर्वाह के लिए कब खाली है—

तुम्हें गैरों से कब फुरसत हम अपने ग़म से कब खाली।
चलो बस हो चुका मिलना, न तुम खाली न हम खाली।।

सुख के माथे सिल परै, जो नाम हृदय ते जाय।
बलिहारी वा दुःख की, जो छिन छिन नाम रटाय।।

(कबीर)

मान बड़ाई जा दिन भाई, ता दिन किस्मत फूटी।
पूरी विपति महन्ती आई, प्रीति राम से टूटी।।

(काष्ठ जिह्वा स्वामी)

इन्द्र को या राजा को या करोड़पति को सुख नहीं है, विरक्त को ही सुख है। असंग्रही, अपरिग्रही सन्तों की साधारण आवश्यकताएँ सहज ही पूरी होती रहती हैं (योगसूत्र २.३७)। वे निश्चिन्त रहते हैं, भगवच्चिन्तन निर्विघ्नता से चलता है, भगवत्प्रेम का निर्वाह होता है। वही उनका सुख है। सम्पदा या किसी प्रकार की सिद्धि उनके लिए विघ्न रूप है। अन्तराया वदन्त्येता कालक्षपण हेतवः। (श्रीमद्भागवत ११.१५.३३)। बिल्लौर से बेहतर है मेरा जामे सफ़ाली। (आपके बिल्लौरी पत्थर के प्याले से मेरा मिट्टी का कुल्हड़अच्छा है।)

और ले आइये बाजार से गर टूट गया।
जामे जम से मेरा जामे सफ़ाल अच्छा है ।।

जामे जम √जमशेद का प्याला, जामे सफाल √मिट्टी का कुल्हड़।

भगवान् के अनन्य प्रेमियों के लिए अपरिग्रह एक कवच है, वह उन्हें प्रेम निर्वाह की सुविधा प्रदान करता है। त्यागाच्छान्तिरनन्तरं। (गीता १२.१२)। 'जो ब्रह्म लोकादि वैभव विरागी' हैं (वि०प०), जिसका कोई और दायित्व रह नहीं गया है, वही अनन्य प्रेम को निबाह सकता है।

इसीलिए सन्त अचल सम्पत्ति नहीं स्वीकार करना चाहते, धनराशि का दान लेकर रखना स्वीकार नहीं करते। कोई दानी प्रतिवर्ष वर्ष भर के लिए खर्च पूरा करने का दान दे तो नहीं लेते। किसी संचित निधि पर भी आश्रित नहीं रहना चाहते। संसार की सारी सम्पत्ति भगवान् की ही है, पर उस पर उनका मन नहीं चलता। भोजनादि के लिए एक व्यक्ति का आश्रय वे नहीं ग्रहण करते।

'दाता एक राम, भिखारी सारी दुनियाँ' परन्तु बरसी हुई लक्ष्मी से उन्हें कुछ सरोकार नहीं, उन्हें ताल, झील से काम नहीं, घूँट भर पानी जो मुख में आ जाय वही उनके लिए है। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। (ईशोपनिषद १)।

ऐसे सम्मानित भिखारी को देने की प्रेरणा साधारण दाता को कैसे हो सकती है? जलधर, मेघ, जीवन दानी, घनश्याम ही ऐसे मानी चातक या सन्त को दे सकता है। इस प्रकार परम कुशलता पूर्वक सन्तवर श्री गोस्वामी जी ने यह स्पष्ट कर दिया कि सच्चे सन्तों को देखने मे जो कोई भी देता हो, उनका सच्चा दाता एक मात्र भगवान्

ही है। है मजाल किसकी तेरे सिवा, जो भरे फ़कीरों की झोलियाँ। जिसे तू हि दे वही ले तो ले, किसी और से कोई लेगा क्या ?

को को न ज्यायो जगत में, जीवन दायक दानि।
भयो कनौड़ो जाचकहि, पयद प्रेम पहिचानि।।
(दोहा २९१)

इस संसार में जीवनदायक (जलदायक मेघ, जीवनदायक भगवान्) ने किस किस को नहीं जिलाया ? परन्तु पयद (मेघ) प्रेम को पहिचान कर अपने याचक चातक का कृतज्ञ हो गया।

पानी की आवश्यकता मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों, बनस्पतियों सभी को होती है। उन्हें जीवित रहने के लिए पानी की आवश्यकता है। इसलिए पानी को जीवन भी कहते हैं, जलद (मेघ) को जीवनदानी भी कहते हैं।

गर्मी के दिनों में पानी ठीक से न मिले तो पेड़ सूखने लगते हैं। पशु पक्षी मरने लगते हैं, मनुष्य भी प्यास से जल्दी मरते हैं, भूख से इतनी जल्दी नहीं मरते। वर्षाऋतु में विशेषत: मेघ पानी बरसाते हैं, जिससे प्राणियों को जीवन मिलता है। मेघ अप्रतिम दानी है, करोड़ों, अरबों, खरबों आदमियों को वह प्यासे मरने से बचाता है, जिलाता है, किसको किसको उसने नहीं जिलाया ? अर्थात् सभी को जिलाया।

भगवान् के पक्ष में—

भगवान् ही सब जीवों के पालक प्रभु, जन्म और जीवन देने वाले, गुजर का सामान देने वाले, जीविका दायक, (रज्ज़ाक), जिलाने वाले, जीवित रखने वाले हैं, सभी का जीवन उन्हीं का दिया हुआ है, उन्होंने किसको किसको नहीं जिलाया, किसको नहीं जीता रक्खा, मौत से बचाया, नया जीवन दिया ? जब सबको जीवन देते हैं तो सन्त के साथ

और क्या करते हैं ? सबके भरण पोषण करता हैं, मालिक हैं, तो सन्तों का योग क्षेम चलाने में विशेपता क्या हुई ? विशेषता दोनों ओर से है उसे समझने की जरूरत है।

भगवान् की ओर से—

करम प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करै सो तस फल चाखा ।।
तदपि करहिं सम विषम विहारा । भगत अभगत हृदय अनुसारा ।।

सबके दिल में बसते हैं पर भक्त का हृदय उनका विशेष निवास स्थल है। अपना घर है, मेहमानी की जगह नहीं है।

या रहें आप इसमें घर की तरह। या या मेरे दिल में आप घर न करें।
(ग़ालिब)

सन्तों का कहना है कि अनन्य शरणागति में प्रारब्ध भी भगवत् समर्पित हो जाता है, फिर तो भगवान् की मर्जी या लीला ही भक्त का प्रारब्ध बन जाती है। 'राज़ी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है।' ऐसे सन्त और भगवन्त् में विशेष निकट का सम्बन्ध है, रहस्यमय सम्बन्ध है, साधारण सम्बन्ध नहीं।

मुख्य भेद आत्म निवेदन का ही है, अन्य भेद उसी के परिणाम हैं। सन्त का लोक परलोक सम्बन्धी समस्त योग क्षेम भगवान् चलाते हैं **(गीता ९ २२)। ऐसे अनन्य** भाव के बदले भगवान् की असीम अनुकम्पा और भक्त वत्सलता **सक्रिय ही** तो आश्चर्य कैसा ? सहज प्रेम का अति-क्रमण तो प्रभु भी नहीं कर सकते। 'जानत प्रीति रीति रघुराई।' नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ।। (वि०प०)

जो भिखारी निरा स्वार्थी है उस पर किसी का प्रेम नहीं होता।

काज परे कछु और है, काज सरे कछु और।
रहिमन भाँवर के परे, नदी सिरावत मौर ।।

ऐसे स्वार्थी याचक को दाता संयोगवश दे दे, तो भी प्रेम, से अत्यन्त प्रसन्नता से नहीं देता। परन्तु जितना ही निःस्वार्थ, त्यागी याचक हो, उतना ही दाता दान देने में विवश नहीं रहता। न देने में कोई आशंका नहीं, पर देने की श्रद्धा उमड़ती है। भगवान् जो सबको देते हैं वह प्रारब्धानुसार देते हैं, परन्तु सन्त यद्यपि प्रारब्ध को भोगने को बराबर तैयार रहते हैं, तथापि भगवान् प्रारब्ध को भी अपनी दिव्य अनुकम्पा से सौम्य और हितकर स्वरूप दे देते हैं। यह सन्तों की प्रार्थना पर नहीं, अपनी मर्जी से।

भीष्म ने महाभारत में कहा है कि वह मनुष्य है—'कृतः यस्मिन् न नश्यति।' जिसके साथ किया हुआ उपकार नष्ट नही होता। कृतघ्नी को मनुष्यता से गिरा हुआ माना। कहा कि अत्यान्य पापों के प्रायश्चित शास्त्रों में है पर कृतघ्नता का कोई प्रायश्चित नही है।

साधारण मनुष्य भगवान् का कृतघ्नी है। सब चीजें भगवान् की दी हुई हैं, पर वह उसे सोचता नहीं, जानता नहीं, मानता नहीं। उसके लिए भगवान् का उपकार नही मानता, आभारी नहीं होता, धन्यवाद नहीं देता, प्रेम नहीं करता। कुरान में एक अध्याय है, जिसमें प्रत्येक आयत (पद्य) में यह पूछा गया है कि तुम अपने रब (प्रभु) की किन किन नियामतों (हितकर वस्तुओं) को झुठलाओगे। इसी कृतघ्नता के पाप से हम भटक रहे हैं, भव बन्धन में हैं, अशान्त हैं, दुःखी हैं। भगवान् ही सबके सुहृद (हितू) हैं इसको जानने वाला ही शान्ति प्राप्त करता हैं। (गीता ५.२९)। प्राप्त दुःख के लिए लोग भगवान् को दोष भी देते हैं अति बरसे, अनबरसे हूँ देहि दैवहि मारी। (वि०१०) यह लोग नितान्त मायावश हैं, निकृष्ट जीव हैं।

इन लोगों से वे अच्छे हैं जो भगथान् के न्याय में विश्वास करते हैं। सुख दुःखादि को प्रारब्ध जनित मानते हैं, भगवान् के पास न्याय तुला है (इंसाफ का तराजू है) वे कर्मानुसार ठीक ठीक फल देते हैं। (आमालनामे के हिसाब से ही अंज्जाम, यानी परिणाम होता है। ऐसे लोग भगवान् को दोष नहीं देते। भगवान् तो निष्पक्ष जज की तरह फैसला देता है, पक्षपात नहीं करता, इसलिए भगवान् का कोई दोष नहीं। निज कृत करम भोग सब भ्राता। भगवान् न्यायकर्ता हैं इस विश्वास से धैर्य प्राप्त हो सकता है, प्रेम नहीं। खुदा के इन्साफ पर एतक़ाद (विश्वास) होने से साबिर (धीर) बनने में आसानी होती है, आशिक़ बनने में नहीं।

जब हम इससे आगे बढ़कर भगवान् को अपना मित्र, सुहृद, संरक्षक, गोप्ता, भर्ता पहचानते हैं तब कहीं उनसे प्रेम करने का मार्ग प्रशस्त होता है। जितने अंश तक हम उनकी कृपा, करुणा, अनुकम्पा, दया, वात्सल्य को जानते हैं, अनुभव करते हैं, उतने अंश में शरणागति की भूमिका बनती है, प्रेम होता है। भगवान् के सच्चे शरणागत के लिए इन्साफ (न्याय) का कोई सवाल नहीं है। भगवान् की मनमानी (मन को पसन्द आने वाली) बात में ही उसे सुख है। वह तो भगवान् के हाथ का खिलौना बनकर रहना चाहता है, भगवान् चाहें प्यार करें या पटकें तोड़ें —

खेलिबे को खग मृग तरु किंकर, ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
(वि०प०)

यदि आप भगवान् से न्याय की ही आशा करते हैं, तो फिर अपनापन कैसा ? न्याय तो गैर के साथ भी करना ही है। जिसके साथ न्याय के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते, मनमानी की तो आरोप

ग्रस्त होंगे, यह अपना कहाँ है ? इसलिए पाप प्रवृत्ति के कारण नहीं शरणागति की भावना के कारण शरणागत को भगवान् के न्याय की आवश्यकता नहीं है। सारी दुनियाँ के लिए वह निष्पक्ष जज बना रहे, उसके उस रूप से इनकार नहीं है परन्तु शरणागत को उसका 'जुल्मों सितम' अत्याचार भी पसन्द है—जैसा जी चाहे करे परन्तु प्राणनाथ वही है—

यथा तथा वा विदधातु लम्पटो, मत्प्राण नाथस्तु स एव नापर: ।।
(श्री चैतन्याष्टक ८)

सन्त पाप का फल भोगने को सदैव तैयार हैं परन्तु वहाँ भी वह यह आवश्यक नहीं मानते कि भगवान् पाप का फल दे अवश्य। वह क्षमा भी कर सकता है, बख्श सकता है, क्योंकि वह करुणासागर है (रहमानिरँहीम है)। इसलिए बह जैसा चाहे करे, बख्श दे, सजा दे, सितम करे या करम करे, क्षमा करे, दण्ड दे, दु:ख दे या दया करे, सब खुशी से स्वीकार है—

जो वह सितम भी न करता तो आप क्या करते ?

इस भूमिका में पहुँचकर फिर यही हो जाता है कि—

मोरे शरण राम की पनहीं। राम सुस्वामि दोष सब जनहीं ।।
गुन तुम्हार समुझै निज दोसू। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसू ।।
प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा ।।

यह दशा है जहाँ लोक वेद व्यापार का सन्यास हो जाता है पुण्यापुण्य विवर्जित पन्थ है, नि:स्वार्थ निष्काम नि:सीम प्रेम है, प्रभु से अभिन्नता है।

ऐसे सन्त बिल्कुल भगवान् के हाथ में हैं परन्तु भगवान् भी बिल्कुल उनके हाथ में हैं। इसलिए शम्से तब्रेज़ की दृष्टि में इज्लल्लाह (भगवदाज्ञा) और इज्ज्नी (मेरी आज्ञा) में कोई भेद नहीं। प्रेम को पहिचानकर मेघ चातक का कृतज्ञ हो जाता है। अलौकिक प्रेम को पहिचान कर प्रभु सन्त के वश में हो जाता है। अपने बचनों से अधिक सन्त वचनों की पूर्ति की प्रभु व्यवस्था करते हैं। सन्तों के आभारी रहते हैं–

देवे को न कछू ऋषियां हौं, धनि कलु पट्ट लिखाउ।
(वि०प०)

साधन साँसति सब सहत, सबहिं सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की रीझि बूझ बुध काहु॥
(२९२)

इस संसार में सभी लोग विभिन्न प्रयोजनों के लिए साधन करते हैं और साधन का कष्ध सहते हैं, साधन सफल हो जाने पर सबको सुख होता है। परन्तु चातक और मेघ की परस्पर प्रीति और बूझ (भावना धारणा, विचार) अत्यन्त रहस्यमय है, उसे कोई बिरला ज्ञानी ही समझ सकता है।

संसार में कर्म सिद्धान्त प्रवर्तमान हैं, आप जो कुछ पाना चाहते हैं उसका मूल्य चुकाना पड़ता है, अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधग रूप मूल्य चुकाइये, तब लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। अर्थात् साधन रूपी मूल्य देकर साध्य वस्तु को खरीदिये। यह जगत् का व्यापार है। परन्तु प्रेम के पन्थ में यह सौदागरी नहीं चलती। जो कर्म का परिणाम है वही कर्म के द्वारा प्राप्त हो सकता है। जो कर्म का परिणाम नहीं है वह कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता—नास्त्यकृत: कृतेन। (उपनिषद्)

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय। (कबीर)

प्रेम इस बाजार में बिकता नहीं, कर्म से खरीदा नहीं जा सकता, प्राप्त नहीं हो सकता।

चातक और मेघ के बीच (और वैसे ही सन्त और भगवन्त के बीच) जगत् के व्यवहार से उल्टा दृश्य दिखाई देता है। कभी तो यह दिखाई देता है कि चातक (या सन्त) का सम्पूर्ण तप, त्याग आदि व्यर्थ जा रहा है, क्योंकि मेघ की अभीष्ट कृपा उस पर नहीं होती।' कभी यह दिखाई देता है कि मेघ असीम दान करने की कृपा करता है, पर चातक उसे ग्रहण नहीं कर रहा है। यह सब क्या है? यह लोक व्यवहार से उल्टा है।

पूरी तड़प से मांगे और न मिले तो शिकायत या व्यथा होती ही है, पर चातक को यह व्यथा नहीं होती। वह मेघ पर कभी खीझता नहीं, रीझता ही है। इसी तरह प्रियतम की कृपा से सब कुछ मिलने लगे तो भी नाममात्र लेता है, अपने नियम की मर्यादा निभाता है, विशेष हर्षित नहीं होता।

आसक्ति के विघात से दुःख होता ही है और उसकी पूर्ति में सुख मिलता है। जहाँ यह लक्षण न मिले, साधारण आसक्ति का अभाव सिद्ध होता है। वास्तविक प्रेम अलौकिक है, जगत् की आसक्ति से उल्टा है– गुण रहित कामना रहित प्रतिक्षण वर्धमान सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। अर्निवचनीय प्रेम स्वरूपं। (नारद भक्ति सूत्र)। किसी किसी अलौकिक पुरुष में ही त्रिगुणातीत, निष्काम प्रेम प्राप्त होता है, जैसे ब्रज की गोपियों में।

वैष्णव दर्शन में प्रेम और काम परस्पर विरोधी माने गए हैं। काम अपने सुख के लिए दूसरे को अपना बनाना चाहता है, उस पर अधिकार करना चाहता है, प्रेम दूसरे के हित व सुख के लिए उसके प्रति आत्म समर्पण की प्रेरणा देता है, इसमें देना ही देना है, त्याग ही त्याग है, तड़प और याचना तो प्रेमी में भी दिखाई देती है परन्तु उसका कामना से कोई सम्बन्ध नहीं। भक्तराज प्रह्लाद ने भगवान् की इच्छा से उनसे वरदान भी मांगा तो यह कि 'कामनामसरोहम् (कामनाएँ कभी न पैदा हों। जब कामना रहित प्रेम है तो तड़प या याचना कैसी? यही अद्भुत और रहस्यमय है। मीरा के प्रेम में भी याचना थी, तड़प थी, पर किस बात की? संसार की किसी वस्तु की नहीं। भगवत्प्रेम सम्बन्धी ही तड़प और याचना थी। गोपियों का विरह प्रसिद्ध है पर उसके साथ पूर्ण वैराग्य था, जगत् की आसक्ति का नितान्त अभाव था। भक्तों का जो विरह है वह आसक्ति को निर्मूल करने में सहायक है, अन्तःकरण को शुद्ध करता है। अतः भगवत्प्रेम का प्रभाध जगत् की आसक्ति के प्रभाव से उल्टा है। इसलिए आसक्ति की दृष्टि से यह प्रेम समझ में नहीं आता, स्वार्थ की दृष्टि से प्रेम व्यवहार को समझा नहीं जा सकता।

मज़ा देता है जख्में खञ्जरे इश्क़। कभी ऐ बुल्हवस खाया तो होता॥

प्रेम की कटार का घाव सुखद है, बासनाग्रस्त जीवों ने कभी वह घाव प्राप्त तो किया होता!

नागरिया नागर मई, चली प्रेम तरवार।
नकटे नकटे ना कटे, कटे प्रेम रिझवार॥
(नागरीदास जी)

इसलिए चातक और मेघ की, और वैसे ही सन्त और भगवन्त की प्रीति, रहनि, भावना, व्यवहार, प्रेरणा, दार्शनिक भूमिका, बन्धन या मोक्ष आदि साधारण मनुष्य की समझ में नहीं आ सकता, इसके लिए कोई अनोखा ज्ञानी चाहिए। जो इस प्रेम की दशा में स्वयं प्रतिष्ठित है, जगत् की आसक्ति से एकदम अलग, उसके लिए यह कैसे कहा जाय कि वह इसे नहीं समझता। वही अनोखा ज्ञानी है। परन्तु वह भी इसे साधारण जनों के लिए बोधगम्य नहीं बना सकता। प्रेम का स्वरूप वाणी से प्रगट नहीं किया जा सकता। (ना०भ० सूत्र)।

चातक जीवन दायकहिं, जीवन समय सुरीति।
तुलसी अलख न लखि परै, चातक प्रीति प्रतीति।।

(२९३)

चातक की अपने जीवन (जल, प्राण) दायक मेघ के प्रति जो सुन्दर रीति है, (व्यवहार है, मर्यादा है नियम है), यह उसके जीवन काल में देखी जा सकती है। (इसी प्रीति के आधार पर उसका अप्रतिम यश है)। परन्तु श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि चातक का प्रेम (प्रीति) और विश्वास [प्रतीति] अलक्ष्य है, वह न दिखाई पड़ती है, न समझ में आती है। वह अलक्ष्य है।

जब कोई स्वार्थ नहीं है, कोई कामना नहीं है तो चातक व मेघ का प्रेम कैसे हो गया ? चातक की सुरीति तो दिखाई देती है, परन्तु उसका परिणाम ? लाभ ? यह अकारण प्रीति कैसी ? क्या यह मूर्खता या पागलपन है ?

इसी तरह सन्त के जीवन की तपस्या, मर्यादा, नीति, त्यागवृत्ति तो स्पष्ट है पर उससे लाभ ? सांसारिक लोग सन्तों को भी चमत्कार के आधार पर नमस्कार करते हैं, परन्तु चमत्कार, सिद्धि आदि सन्त के

लिए विघ्न रूप है, प्रेम में सहायक नही है। यदि चमत्कार भी न दिखाई पड़े तो बहुत से लोग सन्तों की साधना को निष्फल या व्यर्थ मान लेते हैं, उसका जारी रहना उनकी समझ में नही आता।

सन्तों का भगवान् में जो प्रेम और विश्वास है बाद भी यदि वे लौकिक दृष्टि से दुःख में पाए गए तो लौकिक परिणाम की अपेक्षा करने वाले उसकी सफलता कैसे समझें? अतः वे उसका लक्ष्य नहीं कर पाते, उसे बिल्कुल नहीं समझ पाते क्योंकि वह परिणाम निरपेक्ष है।

सन्तों का जो गूढ़ और रहस्यमय परन्तु प्रगाढ़ प्रभु प्रेम है वह रामचरित मानस में श्री गोस्वामी जी ने श्री भरत चरित्र में प्रदर्शित किया है, परन्तु श्री भरत चरित्र भी इसीलिए परम गूढ़ और रहस्यमय हो गया है।

जीव चराचर जहँ लगे, हैं सबको हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो, घन सों सहज सनेह॥

(२९४)

चलने वाले (पशु पक्षी आदि) और न चलने वाले (वृक्ष,लता आदि) सभी प्रकार के जीवों के लिए मेघ हितकारी है, श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि इनमें से चातक ही ऐसा है जिसके मन में मेघ के प्रति स्वाभाविक प्रेम बस गया है।

स्थावर जगम सभी प्रकार जीवों को प्राणधारण करने के लिए जल चाहिए, वह मेघ से वर्षा द्वारा मिलता है। इसी लिए मेघ सभी प्राणियों का हितू है 'सुहृदः सर्वं भूतानां, (गीता ५.२९) परन्तु फिर भी सब जीव मेघ से प्रेम नहीं करते। गर्मी जब अधिक होती है तो मेघ का आना और बरसना सभी को अच्छा लगता है, परन्तु यह तो स्वार्थ पूर्ति का सुख है प्रेम नहीं। सधारण जीव मेघ से लाभ उठाते हैं पर प्रेम नहीं करते,

विपरीतत: चातक मेघ से लाभ उठाने में बहुत पीछे है परन्तु प्रेम करता है। जहाँ प्राप्त लाभ के अनुपात में प्रेम हो, वह प्रेम नहीं है, स्वार्थ ही है। सच्चे प्रेम में अदला बदली या सौदा नहीं है, वहाँ बिना शर्त प्रेम है। बिना मोल की दासता है। जो प्रेम परिणाम निरपेक्ष है, प्रत्युपकार निरपेक्ष है, वही सच्चा प्रेम है। ऐसा प्रेम सुखार्थी नहीं होता। इसी लिए वह स्वाभाविक या नैसर्गिक या सहज कहा जाता है। वह विषम परिस्थिति में भी स्थिर रहता है। वह शाश्वत, अभिनाशी, अमर है।

जो उपकार के वदले में होगा यह नपा तुला, सोमित होगा, वह सापेक्ष ही रहेगा, निरपेक्ष नहीं, सहज प्रेम तो उपकार के साथ भी चलेगा, अपकार के साथ भी चलेगा। सहज है यानी स्वाभाविक है यानी यानी बाहरी परिस्थिति जन्य कारणों से नहीं है। जैसे प्रह्लाद की भक्ति के बारे में गुरुजनों ने कहा–नैर्सगिकीयं मतिरस्य राजन् (श्रीमद्भागवत ७. .५ २८)।

जव हम प्राण और अन्य सब कुछ भगवान् ही से प्राप्त करते हैं, फिर भी सुख में भी कृतज्ञ नहीं होते आसक्ति नहीं होते तो फ़िर परिण म निरपेक्ष शाश्वत प्रेम भला कैसे करेंगे !

विषयी जीब और सन्त में आकाश पाताल का अन्तर है। विषयी सब कुछ पाने पर भी भगवान् से प्रेम नहीं करता, सन्त भगवान् से प्रेम करते हैं, जागतिक परिस्थिति की ओर से उदासीन रहते हैं। सांसरिक जीव भगवान् से उदासीन है, सन्त संसार से उदासीन हैं।

यह कल्पना बहुत ठीक नहीं हैं कि अमुक अमुक कष्ट कट जायें तो हम भगवान् का भजन करेंगे, उससे प्रेम करेंगे,। जो लोग उन कष्टों से रहित हैं, वे क्या भगवान् से प्रेम करते हैं। जो व्यावहारिक कष्ट से रहित दिखाई पड़ते है वे प्राय: सांसारिक सुखोपभोग में मग्न होने के लिए अधिक खाली हैं न कि भगवत्प्रेम में मग्न होने के लिए।

इसी लिए बाह्य घटना क्रम भगवान् के प्रेम का थोड़ा बहुत साधक या बाधक हो सकता है, भगवत्प्रेम का मुख्य कारण नहीं हो सकता।

सहज सनेह ही स्थिर रह सकता है,

यह जीव किसी भी उपकार के बदले अपनी स्वतन्त्तता, अपनी अस्मिता खोने के लिए तय्यार नहीं है। एक बार पता चल जाय कि कोई हमें अपने बस में करने के लिए उपकार कर रहा है तो उल्टे खिचाव पैदा हो सकता है। भगवान् के अनन्त उपकार हैं—

कोटिहुं मुख कहि जायँ न प्रभु के एक एक उपकार। (वि. प.)

परन्तु फिर भी हम उनके प्रति आत्म- निवेदन नहीं करते अल्प उपकार वालों की बात ही क्या है?

वास्तविक प्रेम उपकार का प्रत्युपकार रूप नहीं हैं। वह स्वाभाविक प्रवाह है। सन्त का भी प्रेम ऐसा ही है, सहज है, अनपाई (क्षय न होने वाला) है।

साधारण जीवों की चेष्टा है कि 'देत एक गुन, लेत कोटि गुन भरि सो' (वि. प.) परन्तु—

हेतु रहित जग युग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥

श्री गोस्वामी जी ने यही बर माँगा है कि—

हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई॥
(वि. प.)

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम ।।
(रा. च. मा. उत्तर कांड)

राम कबहु प्रिय लागि हौ, जैसे नीर मीन को ।
सुख जीवन ज्यों जीवको, मनि जो ज्यों फनि को,
हित ज्यो धन लोभ लीन को ।।

ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को ।
ज्यों मेंरे मन लालसा करिये करुणाकर ! पावन प्रेम पीनको ।
(वि. प २६९)

सन्त भगवान् के प्रति ऐसा ही प्रेम रखते हैं :

डोलत विपुल विहंग वन, पियत पोखरनि वारि ।
सुजस धबल चातक नवल, तुही भुवन दस चारि ।। २९५ ।।

जंगल में बहुत से पक्षी उड़ते फिरते हैं, प्यास लगने पर ताल तलैयों में जल पी लेते हैं, परन्तु हे चातक !चौदहों लोकों में उज्जवल और नई कीर्ति तूने ही पाई है, वैसी किसी और ने नही पाई ।

चातक भी पक्षी है और भी अनेक प्रकार के पक्षी हैं । पक्षित्व सबमें समान है । फिर भी चातक का नित्य नया उज्ज्वल यश है, दूसरे पक्षियों का नही । ऐसा क्यों? इसका रहस्य उनकी वृत्ति (जीविका) में है । श्री गोस्वामी जी ने यहाँ शुद्ध जीविका का महत्व सूत्र रूप में रख दिया है ।

संस्कृत में एक उक्ति है–हितभुक् मितभुक् ऋतभुक् । सोऽरुक् सोऽरुक् सोडरुक् । 'हित कारी, नपातुला, सच्ची कमाई का भोजन जो खाता है,

वह अरोगी है, वह अरोगी है, वह:अरोगी है।) सिर्फ़ स्वास्थ का सवाल नहीं है। सन्तों की उक्ति है जैसा अन्न वैसा मन, जैसा वत्त वैसा चित्त। उत्तेजक भोजन करने वाले और शान्ति दायक भौजन करने वाले एकाग्रता की समान शक्ति नहींरखते। वेईमानी की कमाई से गुज़र करने पर बुद्धि भी भ्रष्ट होगी, शुद्ध भक्ति भी नहीं सधेगी। भगवान् बुद्ध ने सम्यक् अजीविका को अष्टांग साधन का आवश्यक अंग माना।

आज कल परिस्थितियाँ विगड़ती जा रही हैं। शुद्ध कमाई से गुजर करना अशक्य होता जा रहा है। अशुद्ध कमाई का आश्रय लेने की विवशता बढ़ती जा रही है। उसी हिसाब से विचार भी बदलते जा हहे हैं। खाने में क्या रक्खा है ? कुछ भी खाएँ, भजन करें, भगवान् की याद करें, ऐसा ही लोग समझने और कहने लगे हैं। परन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि अलग अलग प्रकार के भोजनों का न केवल शारीरिकस्वास्थ्य पर बल्कि मन पर भी, संकल्प शक्ति, चिन्तन शक्ति, ध्यान शक्ति, धारणा शक्ति, मेधा शक्ति, एकाग्रता शक्ति आदि पर भी बहुत प्रभाव पड़ता है। यही नहीं, गाढ़ी कमाई का अन्न खाया कि काम चोरी का, कि रिश्वा का, तस्करी या लूट का, इसका भी प्रभाव पड़ता है।

अशुद्ध कमाई का केवल शुद्ध प्रयोजन के लिए उपयोग हो यह संभव नहीं होता। पाप की कमाई हाथ में आकर और भी पाप कराती है। पापी स्वाभात: भगवद्विमुख ही होता है, सम्मुख नहीं। पाप की कमाई वालों को एकाग्रता कठिन पड़ती है। भगवान् के प्रेम में प्रवृत्ति कठिन है। इस लिए यह कल्पना ठीक नहीं है कि रोजी रोटी की समस्या जैसे भी हो हल कर लेना चाहिए फिर भगवान् से प्रेम करने का कार्यक्रम बरता जा सकता है।। वित्त अशुद्ध हो तो चित्त शुद्ध नहीं हौता और–

निरमल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥

जैसे सम्पत्ति उत्पादन के साधन होंगे उनका प्रभाव धर्म, दर्शन आदि समस्त जीवन पर पड़ेगा। मह केवल मार्क्स का सिद्धान्त नहीं है, भीष्म ने भी कहा है–

अर्थस्य पुरुषो दास: नार्थो दासस्तु कस्यचित्।
(पुरुष अर्थ का का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं।)

साधारण व्यक्ति शुद्ध कमाई के मामले में पूरी सावधानी बरत नहीं पाता। वह उन्हीं पशु पक्षियों कि तरह है जो प्यास लगने पर किसी भी जलाशय का जल पी लेते हैं। वह आती हुई लक्ष्मी का त्याग नहीं कर पाता। इस समय प्रजा (१९८४) में विषम आर्थिक कष्ट में है, अत: अर्थाभाव के कारण भी अर्थ का त्याग कठिन है। परन्तु विवेक द्रष्टि से यह स्मरणीय ही है कि येऽार्थ शुचि: स शुचि: जो वित्त के मामले में पवित्र है, वह पवित्र है।

यद्यपि अर्थ-शुचिता का विस्तृत विवेचन यहाँ प्रासंगिक न होगा परन्तु यह कह देना आवश्यक है कि इस विषम समय में भी अर्थ-शुचिता, ईमानदारी की कमाई, मेहनत की रोटी का ध्यान रखना आवश्यक है। इस विषय में कुछ बातें याद रखना उपयोगी होगा—

बेईमानी की कमाई सबको उपलब्ध नहीं है। शायद सहस्र में एक को उपलब्ध हो। शेष लोगों को जो मुसीबत झेलनी है, उसे बढ़ाकर हम चैन करें, ऐसा विचार नहीं करना चाहिए। ऐसे विचारों से हम अपने से भी अधिक दीनदु:खियों के प्रति सहानुभूति नहीं रख पाते। राष्ट्र द्रोह होता है। हमें दीन दु:खियों का आशीर्वाद नहीं मिलता अभिशाप मिलता है। जिन लोगों के शोषण सें पाप की, बेईमानी की कमाई नहीं आती है उन्हें भी आप विवश कर रहे हैं कि अवसर मिले तो वे

भी बेईमानी की कमाई करें। इस प्रकार अस्वस्थ समाज बनता है। स्वस्थ समाज सेवा और सहयोग पर ही आधारित हो सकता है, लोभ और लूट पर नहीं। देश, राष्ट्र व समाज की प्रगति भी मेहनत और ईमानदारी पर निर्भर है। स्वस्थ व अस्वस्थ अर्थ व्यवस्था यहाँ हमारा विषय नहीं है। परन्तु यह तो हमारा विषय है ही कि ईमानदारी की रोजी वाला व्यक्ति ही भगवत्प्रेम के मार्ग में प्रगति कर सकता है।

यह ठीक है कि वाह्य क्रियाओं के आधार पर आज बहुत से लोग भक्त, सन्त या भगवत्प्रेमी मान लिए गए हैं, जिनका ईमानदारी की रोटी पर आग्रह नहीं। किसी प्रकार धन अर्जित करके उसका एक अंश दान पुण्य में व्यय करने से यश मिल जाता है, परन्तु भगवान् के जिस सच्चे और अनन्य प्रेम का वर्णन इस ग्रंथ में हुआ है, उससे यह लोग दूर ही रहते हैं। सच्चा प्रेम वैराग्य के साथ चलता है–

जिन रघुबीर चरन अनुरागे। तिन सब भोग रोग सम त्यागे।
(वि. प.)

वैराग्य और बेईमानी की कमाई का कोई मेल नहीं बैठता। अनन्य भक्त सबको प्रभु का रूप देखता है–

निज प्रभु मय देखहिं जगत (रा. च. मा. उत्तर कांड)। तो वह क्या अपने इष्ट देव को ही ठगेगा? शोषित करेगा?

साधारण लोगों कीं दृष्टि में आप भक्त बन जायँ पर आप शुद्ध कमाई का आश्रय लिए बिना न परा भक्ति कर सकते हैं, न उसका यश आप को मिल सकता है। जो पशु पक्षी पोखरों का पानी पीते हैं, वे चातक के यश का एक क्षुद्र अंश भी नहीं पा सकते। चातक चौदहों भुवनों में विमल यशभाजन है।

इस दोहे में व्यंजना-शक्ति से आकाश-वृत्ति का प्रति पादन कर दिया गया। सन्तों की प्राय: आकाश-वृत्ति रहती है, जैसे चातक की रहती है। आसमान से जो बरस पड़े, सहज ही अपने को प्राप्त हो जाय उसी पर गुज़र करना, पृथ्वी पर फैले हुए वैभव से उदासीन रहना, कम मिलने न मिलने का खतरा उठाना और सुख दुख को सब्र के साथ सहना। इस तपके साथ जो भगवान् से प्रेम करते हैं, वे ही अनन्यता (चातकवृत्ति) का निर्वाह कर सकते हैं।औरों को तो दूसरे सहारे पकड़ने ही पड़ेंगे।

यह भ्रम नहीं रखना चाहिए कि यह सब निरूपण केवल साधुवेश-धारियों के लिए है। चातक लक्षणों में सन्त है, वेश से नहीं। भगवान् की 'योग क्षेमं वहाम्यहम्' वाली विरुदावली सिर्फ़ साधु वेश धारियों के लिए नहीं है। जिन सन्तों की आकाश वृत्ति है उनके द्वारा भी भगवान् की कृपा से बड़े बड़े कार्य हो जाते हैं, विवेकियों की दृष्टि में यह भगवान् की लीला ही है।

मुख मीठे मानस मलिन, कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल, रह्यो भुवन भरि तोर।।

(२९६

कोयल, मोर व चकोर मुख के मीठे है, मन के मलीन हैं, पर हे चातक। सारे ससार में तेरा नवीन व निर्मल यश परिपूर्ण हो रहा है।

प्रह्लाद ने कहा–

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विम्डबमम् (श्रीमद्भागवत)।

भगवान् निर्मल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं, बाकी सब ढोंग है।

रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सौ बार हिये की।।

(रा. च. मा.)

काय न कलेस लेस लेत मानि मन की । (वि० प०) ।

भगवान् हृदय का भाव देखते हैं। इस दोहे में दंभ और सच्ची प्रीति का भेद बता दिया गया है।

कोयल अपनी मधुर स्वर-लहरी के लिए प्रसिद्ध है उसकी बोली सबको प्रिय लगती है, वह विशेषत: वसन्त ऋतु में ही सुनी जा सकती है। वाणी से तो इतनी कधुर है परन्तु कहा जाता है कि वह अपने अण्डे कौवे के घोसले में रख आती है, जन्म के कुछ वाद कोयल के बच्चे कोयलों में मिल जाते हैं। इस प्रकार कोयल के मन में चालाकी है। वृत्ति में स्वार्थ है, व्यवहार में धोखा धड़ी है मीठी वाणी इस सब में सहायक है।

जो लोग मिलन सार हैं, मिष्ट भाषी हैं, लोगों को आकर्षित करते परन्तु है, अपना उल्लू सिद्ध करते हैं, स्वार्थी हैं, चालाक हैं दूसरों को धोखा देकर अनुचित लाभ उठाते हैं, वे कोयल की तरह हैं। मुहँ के मीठे मन के मलीन हैं।

मोर एक उदाहरण है—

देखत चारु मयूर बयन सुभ बोलि सुधा इव सानी ।

सविष उरग आहार निठुर उर, यह करनी वह बानी । (वि. प.) ।

कोयल देखने में काली है, कौवे की तरह, परन्तु कौवे की बोली कर्कश है कोयल की मधुर है। मोर शरीर का भी रंग बिरंगा, सुन्दर है, वाणी भी मधुर है, अमृत से सनी जान पड़ती है परन्तु सर्प उसका आहार है, विषधर को वह खा जाता है। रूप सुन्दर, वाणी मधुर, करनी कठिन, हृदय निष्ठुर है। समझने की बात यह है कि कथनी करनी में बड़ा अन्तर

है। यही असन्त का लक्षण है। मन वचन कर्म की एकता और सत्य निष्ठा महात्माओं का लक्षण है, मन में कुछ, वचन में कुछ, कर्म में कुछ और दुरात्माओं का लक्षण है। इस लिए कोयल और मोर महात्माओं के लक्षण नहीं रखते।

तीसरा उदाहरण चकोर का है। वह चन्द्रमा का प्रेमी माना जाता है। उसकी नज़र चन्द्रमा पर लगी रहती है। परन्तु किम्वदन्ती है कि वह अंगार खाता है। चन्द्रमा का प्रेमी और अंगार का आहार ! हिमांशु का प्रेम, अग्नि का आहार ! इष्ट के विपरीत गुण वाले से निकटता ! यही तो अनन्य या परा भक्ति का बाधक है शरणागति में तो 'प्रातिकूल्य-स्य वर्जनम्' है, सेवन नहीं। एक ओर तो इष्ट से प्रत्यक्ष प्रेम व्यवहार दूसरी ओर प्रतिकूल का सेवन। यही कमी है।

बहुत से लोग भक्त कहे जाते हैं, अपने को भक्त मानते भी हैं, भक्ति का व्यवहार भी करते हैं, परन्तु 'इष्ट के प्रतिकूल का त्याग' इस लक्षण में शिथिल रहते हैं।

कृष्ण गोपाल थे और हैं, क्या आप कृष्ण भक्त, सच्चे भक्त हो सकते हैं, परन्तु गोपालन में उदासीन रहकर श्वानपाल रह सकते हैं। भगवान् विष्णु को तुलसी प्रिय है, क्या आप सच्चे वैष्णव भी हैं और तुलसी से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। यानी इष्ट के अनुकूल संकल्प रखना आवश्यक नहीं समझते ? यदि ऐसा है, तो सच्ची शरणागति से आप दूर हैं। इसलिए चकोर भी कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

चातक प्रेम की कसौटी पर खरा उतरता है। इसीलिए उसका सुयश संसार भर में ब्याप्त है।

विपुल उदाहरणों से युक्त एक अन्य दोहा भी श्री गोस्वामी जी ने दोहावली जी में लिखा है—

माखी काक उलूक बक, दादुर से भए लोग ।
भले ते शुक पिक मोर से, कोउ न सराहन जोग ।।

समय खराब आ गया । साधारण लोग मक्खी, कौवा, उल्लू, बगुला, मेढक के से हो गए हैं, जो इनसे अच्छे हैं वे तोते, कोयल या मोर से हैं, इनमें कोई भी प्रसंसा योग्य नहीं । जो अच्छे हैं वे शुक पिक मोर से हैं हमारे दोहावली जी के दोहा न० २९६ में कोकिल मोर चकोर कहे गए है, इसमें भेद इतना ही है कि एक जगह चकोर को गिना दूसरी जगह शुक (तोते) को । तोता चश्मी प्रसिद्ध है । बहुत दिन जिसने पाला, उसके प्रति भी उसे कोई प्रेम नहीं होता । पिंजड़े से खुल जाय, उड़ जाय तो पालने वाले के पास नहीं लौटता । (कबूतर का व्यवहार इससे भिन्न है ।)

सच्ची स्वामि भक्ति, अनन्यता, सत्यनिष्ठा, प्रेम इनमें नहीं होता, अत: इनमें से कोई भी प्रशंसा योग्य नहीं हंस, मछली और चातक प्रशंसनीय माने गए हैं ।

वास वेश बोलनि चलनि, मानस मंजु मराल ।
तुलसी चातक प्रेम की, कीरति विशद विशाल ।। (२९७)

निवास स्थान बोली चाल, सभी जिसके उत्तम हैं, ऐसा पक्षी हंस हैं, परन्तु प्रेम के मामले में विशद कीर्ति वाला पक्षी चातक ही है, अन्य कोई नहीं । विशेष प्रशंसनीय पक्षी हंस है । उसका रूप सुन्दर है, रंग भी सफ़ेद है, बोलता कम है परन्तु वाणी मधुर ही है, चाल भी अच्छी है, सौम्य है, सधी हुई है, उत्तम है । हस मन का भी कपटी नहीं है । शिकारी भी नहीं है कि दूसरों के लिए घातक हो । इस प्रकार हंस गुणों से भरपूर है । बगुले की तरह ही हंस धोखा देने के लिए ध्यान नहीं

लगाता। वह सचमुच शान्त है। संस्कृत में एक श्लोक हैं, उसमें श्री राम चन्द्र जी श्री लक्ष्मण जी से कहते हैं—

पश्य लक्ष्मण पम्पायां बका: परम धार्मिका: ।
शनै: शनै: पद धत्ते जीव घात विशंकया ।।

हे लक्ष्मण ! देखो पम्पासर के बगुले परम धार्मिक हैं, धीरे धीरे पैर रखते हैं कि कहीं कोई जीव दब न जाय। इस पर उस साहित्यिक ग्रथ में उल्लेख है कि एक मछली पम्पासर से बोली—'सहवासी विजानीयात् चरितं सहवासिन:'। (साथ में रहने वाले एक दूसरे का चरित्र जानते है। किबगुले क्यों धीरे धीरे पैर रखते हैं)। हंस निर्मल मन है।

परन्तु हंस का विशेष यश नीर–क्षीर विवेक के कारण है। कहा जाता है कि दूध और पानी मिला हुआ हो, तो हंस दूध पी जायगा, पानी रह जायगा। उसका यह विवेक बड़ा प्रशसनीय रहा है। विवेषत: संस्कृत साहित्य व हिन्दी साहित्य में इसी गुण के कारण हंस की कीर्ति पताका फहरा रही है।

श्री गोस्वामी जी हंस की प्रशंसा ही करते हैं, आलोचना बिल्कुल नहीं करते, परन्तु वे यह कह देते है कि चातक के प्रेम की विशद और विशाल कीर्ति है। इसमें पूज्यपाद गोस्वामी जी की पूर्णत: मर्यादित भाषा में यह संकेत आ गया कि सिद्धि और ज्ञान दोनों से प्रेमाभक्ति श्रेष्ठ है।

नीर–क्षीर विवेक हंस की सिद्धि है, अनेक सिद्धियाँ विविधि साधनों की सफलता से मिलती हैं। सिद्धियों से वाहवाही खूब मिल सकती हैं और लौकिक सम्पन्नता भी बन सकती है। परन्तु सिद्धियों के कारण पुज जाना और बात है, भगवत्प्रेम में डूब जाना और बात है। सच्चे भगवत्प्रेम तथा मोक्ष के मार्ग में सिद्धियाँ विन्घकारी मानी गई हैं–

अन्तरायान् वदन्त्येते कालक्षपण हेतवः। (श्रीद्भभागव ११.१५.३३)

सिद्धियों से बहुत सी तकलीफें दूर हो सकती हैं, बहुत सा आराम मिल सकता है, अपने को भी, दूसरों को भी। परन्तु इस रास्ते में चलते हुएँ सुख दुःख समान वाली भूमिका में प्रतिष्ठित होने की प्रेरणा नहीं होगी, संसार को स्वप्नवत् जानने की प्रेरणा नहीं होगी अर्थात् परमार्थिक उच्च भूमिकाएँ उपलब्ध नहीं होंगी। यदि सिद्धियों से सम्मान अर्जित किया तो 'देख ब्रह्म समान सब माहीं'। (रा. च. मा) वाली बात से उल्टी भावना बनेगी। 'मान' और 'ज्ञान' परस्पर सहायक नहीं हैं, विरोधी हैं। सिद्धियाँ ज्ञान की भी बाधक हैं, प्रेम की भी। भगवान् की शक्ति सिद्धियों में काम कर रही है। यदि हम सिद्धियों में अटक गए, आसक्त हो गए, और भगवान् के प्रेमी न हुए, तो यह अविवेक का काम हो गया। माँ के दिए हुए खिलौनों में भूल कर, माँ को ही भूल जाना ऐस काम है जिसे मूर्ख बालक भी अधिक समय तक नहीं कर सकता। परन्तु सिद्धियों में अटक कर हम सिद्धिदाता को भूल जाते हैं और सिद्धियों की शक्ति अपनी विशेष उपलब्धि है, ऐसा अभिमान भी कर बैठते हैं। बिना श्रद्धा विश्वास के सिद्धाजन भी अपने भीतर स्थित ईश्वर को नहीं देख पाते। (रा च मा. बाल काण्ड)। यहाँ यह सकेत बिल्कुल नहीं कि हंस में सिद्धि के कारण ऐसे दोष हैं। चमत्कार को नमस्कार साधारण लोगों कि वृत्ति है, परन्तु भगवत्प्रेम को ही नमस्कार, यह अनन्य भक्ति का लक्षण है।

हंस को ज्ञान का स्वरूप माना जा सकता है। इस जगत् में जो सारभूत सत्य वस्तु है ब्रह्म, उसे असार, असत्य से अलग करके ग्रहण कर लेना, असार वस्तु को हंस की तरह छोड़ देना ज्ञानी का लक्षण है। सच्चे ज्ञानी का सब जगह सन्मान होता है। होना भी चाहिए। परन्तु ज्ञान का यश होना और बात है, भगवान की प्रीति की कीर्ति और ही है।

चातक का प्रेम के मामले में, उत्तम, निर्मल और विपुल यश है। सन्त के दरबार में भगवत्प्रेम का ही महत्व है, उससे भिन्न ज्ञान का नहीं।

विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविधि जीव जग वेद बखाने।
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू।
(रा०च०मा०)

सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। कर्णधार बिनु जिमि जलजानू।।
(रा०च०मा०)

नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाव वर्जितं न शोभितं ज्ञानमलं निरंजनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पित कर्म यदप्यकारणम्।।
(श्रीमद्भागवत १ ५.१२)

कर्म बन्धन से रहित, निर्मल ज्ञान की जो दशा है, वह भी श्रीभगवान् के प्रेमभाव के बिना शोभामती नहीं होती है, फिर अन्य कर्म तो सदा ही अभद्र (अकल्याणकारी) हैं, वह कामना से न भी किया गया हो, तो भी यदि भगवान् को समर्पित नहीं हैं, तो वह भला शोभा को कैसे प्राप्त हो सकता है ?

प्रेम के पन्थ में चातक ही यशस्वी है, सन्तों के लिए वह हंस से भी श्रेष्ठ है। श्री गोस्वामी जी महाराज ने अत्यन्त कुशलता और मर्यादा पूर्वक इसी बात का इस दोहे में संकेत दिया है।

प्रेम न परिखिय परुषपन, पयद सिखावन एह।
जग कह चातक पातकी, ऊसर बरसैं मेंह।।
(२९८)

मेघ यह शिक्षा देता है कि प्रेम में कठोरता पर ध्यान नहीं देना चाहिए। (गलत धारणा के कारण ही) संसार वाले लोग यह कहते

हैं कि ऊसर में भी बरसने वाला मेघ, चातक की याचना पर जल क्यों नहीं देता ? अवश्य ही चातक पापी है, अभागा है ।

इस दोहे में यह मन्त्र दिया गया है कि साधारण अज्ञानी जीव या नए साधक की यह धारणा, कि संसार की सुख सुविधा मिले और कष्ट की निवृत्ति हो, तो भगवत्कृपा का लक्षण है, विपरीत दशा है तो भगवान् का कोप या अकृपा की सूचक है, ठीक नहीं है ।

नए साधक की दृष्टि इसी गलत धारणा के अनुसार काम करती है । जब यह कहा जाता है कि भगवान् भक्त के बस में हैं, भगवान् भक्त की इच्छा पूरी करते हैं, भगवान् योग क्षेम वहन करते हैं, भगवान् के लिए कुछ भी ऐसा नहीं जो वह भक्त को न दे सकें, वे सर्व समर्थ और कृपासिन्धु भी हैं, तो फिर भक्तों पर विपत्ति या सन्तों को कष्ट क्यों ? वे पूरे सुखी निर्विघ्न निश्चिन्त क्यों नहीं ।

इसका पहला जबाब तो यही है कि भक्तों सन्तों को भी सुख दु:ख, हर्ष शोक, हानि लाभ, यशापयश, प्रारब्धानुसार मिलता ही है । यदि ऐसा ही है, तो क्या मान लिया जाय कि सुख-दु:खादि की प्राप्ति पूर्व कर्मों के परिपाकानुसार ही होगी, उसमें भक्ति से कोई अन्तर नहीं पड़ेगा । ऐसा मानें तब तो सीधे सीधे यही सिद्ध होगा कि दु:ख में पड़े हुए सन्त इस समय चाहे पापी न हों, पर्वकाल का अवश्य कोई पाप है जो फलित होकर दु:ख दे रहा है । यदि यह भी कहें कि भगवान् अशुभ प्रारब्ध कम कर देते हैं, एकदम नष्ट नहीं करते, तो भी तीव्र कष्ट में पड़े हुए सन्त का कोई पूर्वकृत् महापाप सिद्ध होगा जिसका फलोदय हो रहा है ।

यदि कोई चोर जेल काट रहा है, तो उसके परिचय में यही कहा जाता है कि यह चोर है, यह नहीं कहा जाता कि यह चोर था, अब

इसकी चोरी का पाप जेल काटने से क्षय हो रहा है। उसे चोर ही कहा और माना जाता है। यद्यपि सब लोगों की (और अपनी भी) ऐसी मान्यता का यह प्रभाव होता है कि चोर बने रहने की ही उसकी धारणा पुष्ट होती है, सुधार की भूमिका नहीं बनती। इसी तरह जिसे हम बड़े कष्ट में देखते हैं, उसके किसी पुराने महापाप का फल मिल रहा है, ऐसा मानते हैं। उस समय यह नहीं सोचते इसका कोई महान् पाप भोग द्वारा क्षीण हो रहा है। वह शुद्ध हो रहा है। हम उसे महापापी के रूप में लेते हैं। इस प्रकार लोक दृष्टि में सन्त पापी ठहरते हैं। तात्विक, यौगिक या दार्शनिक दृष्टि से यह कल्पना ठीक नहीं है।

कर्मभोग पर भक्ति का क्या प्रभाव पड़ता है या पड़ सकता है, वैसा पड़ना दृष्टिगोचर न हुआ तो हम जल्दी से फैसला देते हैं या तो भक्त के विरुद्ध या भगवान् के विरुद्ध या दोनों के विरुद्ध। भक्त या सन्त को हम पापी निश्चित करते हैं या भगवान् को निष्ठुर (कठोर) या कुपित मान लेते हैं। इस प्रकार के प्राय: सब निर्णय गलत ही होते हैं, वे केवल हमारी भक्ति को असिद्ध करते हैं, हमारी अविनय के भी सूचक हैं, कि हम सन्त भगवन्त के गूढ़ और रहस्यमय सम्बन्धों के विषय में जज बनकर बैठे हैं।

कर्म परिपाक की सारी बारीकियाँ यहाँ प्रासंगिक नहीं हैं, परन्तु यह बात विचारणीय है कि प्रेमी और प्रेमास्पद के दृश्यमान् व्यवहार से ही हम अनुकूलता या प्रतिकूलता का अनुमान करते हैं, यह स्वाभाविक है। जहाँ हम जानते हैं कि प्रेमास्पद तो समर्थ और उदार प्रसिद्ध है (यथा मेघ या भगवान्) वहाँ यदि प्रेमी को माँगने से घूंट भर पानी भी न मिले तो उसके अपात्र (अयोग्य, पापी) होने का अनुमान होता ही है। विपरीतत: यदि हमारी अत्यन्त श्रद्धा और सहानुभूति प्रेमी के प्रति है, तो प्रेमास्पद को मूर्ख या अयोग्य या अनुचित रूप से कठोर मानना

स्वाभाविक होगा। कुतर्कियों के लिए दोनों को दोष देना भी सम्भव है। साधारण लौकिक प्रेम में भी यदि माधुर्य की कमी दिखाई पड़े, कष्ट हो या कटुता दिखाई पड़े तो देखने वाले पूरा सन्दर्भ न जानते हुए भी विविधि अनुमान और चर्चा करते हैं। उसका सचमुच ठीक होना आवश्यक नहीं।

यत: संसार में प्रेम प्राय: निर्विघ्न नहीं चलता, विविधि प्रकार की उक्तियाँ प्रचलित हो गई हैं, जैसे—शुद्ध प्रेम का घटनाक्रम कभी स्निग्ध और निर्विघ्न नहीं होता।

सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माँहि।
(कबीर)

मोहब्बत करने वाले ग़म से घबराया नहीं करते।
न लावे ताब जो ग़म की, वो मेरा राजदाँ क्यूँ हो ?
(ग़ालिब)

रोएँगे हम हजार बार, कोई हमें सताए क्यों ?
(ग़ालिब, आदि

साँसारिक अनुभव यह है कि हम प्रेम के बिना रह नही सकते और प्रेम में आघात लगता है। इसलिए प्रेमी के प्रति हमारी प्राय: सहानुभूति बनती है। श्रृंगार और करुणा रस के कवियों, नाटककारों, उपन्यासकारों ने अपनी प्रतिभा से इस सहानुभूति को बढ़ाया है। प्रेमी के दु:ख का प्रभावशाली चित्रण करके करुणा रस का उत्तम परिपाक किया जाता है। प्रेमी के दु:ख, कष्ट, विरह व्यथा आदि के वर्णन में उर्दू शायरों ने एक अनोखा कीर्तिमान स्थापित किया है। चातक छत्तीसी में भी चातक नायक है। कवि की प्रतिभा से हमारी सहानुभूति उसी की ओर आकृष्ट होती है। इसलिए प्रेमास्पद घनश्याम, जलद को दोष

देना स्वाभाविक हो जाता है। उर्दू शायरी में तो प्रेमास्पद (माशूक़) अत्याचारी (सितमगर) के रूप में रूढ़ हो ही गया है।

हम सब प्राय: अपनी आसक्तियाँ रखते हैं, जिनमें आघात लगता है तो दु:ख होता है. उसमें सहानुभूति चाहते हैं (दण्ड नहीं चाहते)। ऐसी दशा में हम सब शृंगार व करुणारस के साहित्य से जी बहलाएँ यह स्वाभाविक हो सकता है। आचार्य भवभूति ने तो मात्र करुणारस को ही रस माना है और उसी से निमित्तभेद से अन्य रसों की उत्पत्ति मान्य की है।

साहित्यकारों, कवियों में, प्राय: सभी प्रेमी की ओर के वकील मिलेंगे प्रेमास्पद की ओर के नहीं, परन्तु श्री चातक छत्तीसी में (या श्री वैराग्य संदीपनी में), तत्वत: निर्णय का भी प्रश्न है, केवल साहित्यिक मनोविनोद तो है नहीं, अत: प्रेमास्पद का भी पक्ष विचारगत होना चाहिए। दोहावली जी के दोहा (सं॰ २९८) में उसका सूत्र दे दिया गया है।

मेघ का उपदेश (सिखावन) यह हैं कि प्रेम में कठोर व्यवहार या (या मृदुल व्यवहार) की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। जैसे बड़े से बड़ा अधिवक्ता कभी कभी अपने पक्ष को एक ही वाक्य में प्रस्तुत कर देता है, और वही वाक्य निर्णायक होता है, वैसे ही श्री गोस्वामी जी ने चार ही शब्दों में मेघ का पक्ष प्रस्तुत कर दिया है—'प्रेम न परखिय परुषपन' वैसे इस पंक्ति में प्रेम के प्रथमाक्षर 'प' के अनुप्रास की छटा भी देखते ही बनती है।

कोई असली विवाद तो है नहीं जिसमें किसी निर्णायक के समक्ष गोस्वामी जी मेघ का पक्ष प्रस्तुत कर रहे हों, यहाँ तो साधारण जीवों को कुछ मार्गदर्शन देना है, जिससे वे विवेकपूर्वक निश्चय कर सकें, भटक

न जायँ। तदर्थं मेघ का उपदेश है—व्यवहार के मृदुल या पुरुष होने की कसौटी ठीक नहीं है, इसके आधार पर प्रेम का निर्णय न कीजिये। एक ही वाक्य में बहुत कुछ भरा है—'अरथ अमित अति आखर थोरे।' (रा०च०मा०)

प्रेम में परुषपन की परीक्षा या समीक्षा क्यों नहीं होनी चाहिए। यह बात मननीय है। ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जब कठोरपन दिखाई देता है पर वह प्रेम के अभाव का सूचक नहीं होता।

कभी कभी प्रेम को गुप्त रखने के लिए कठोरपन दिखाया जाता है, सहज या अन्तः स्फूर्त नहीं होता। यह कठोरपन प्रेम का आवरण होता है, अभाव का प्रमाण नहीं।

कहा गया है कि—माता शत्रुर्पिता वैरी, येन बालो न पाठितः। बालक को पढ़ाना ही प्रेम है, अपढ़ रहने देना प्रेम नहीं। पढ़ाने में माता, पिता, अध्यापक आदि को सख्ती करनी पड़ती है, यह प्रेम का ही अंग है। वैसी सख्ती न करने से प्रेम सिद्ध न होगा।

कहा गया है कि पुत्र या शिष्य की प्रशंसा उसके मुख पर नहीं करनी चाहिए। पुत्र के या शिष्य के दोष दूर करने के लिए यदि उस पर सख्ती की जाय और उससे यह परिस्थिति बने कि उसके गुरुजन उसकी प्रशंसा औरों से सुनें, स्वयं न करें, तो यह उसका हित होगा, ऐसा हित करना ही सच्चा प्रेम है, न कि लाड़ प्यार में पुत्र या शिष्य को बिगड़ने देना।

इसी प्रकार वे सेवक अभागे हैं जिनसे उनके मालिक अपनापन मानकर उनके अपराध करने पर शिक्षार्थं दण्ड नहीं देते। (श्रीमद्भागवत ४.२६.२१)।

जिससे अपनापन नहीं होता उससे इसलिए भी मृदु व्यवहार रक्खा जाता है, कि अत्याचार का आरोप न आए। अर्थात् बिगानापन साबित न हो इसलिए मृदु व्यवहार आवश्यक लगता है। जैसे प्रेम को छिपाने के लिए कभी कठोरपन का दिखावा होता है।

कभी कभी ऐसा होता है आपके स्नेहपूर्ण व्यवहार पर दूसरे लोग आलोचना करेंगे परन्तु आप कठोर व्यवहार करें तो वे ही लोग मृदु व्यवहार की सलाह देंगे, जो आपके अनुकूल होगी।

जहाँ प्रेमी सच्चा और निर्दोष है और प्रेमास्पद भी भीतर से अनुकूल ही है पर व्यवहार में कठोर है, वहाँ प्रेमास्पद प्रेमी का यश चाहता है, अपयश नहीं। कठोर व्यवहार का दोष प्रेमास्पद पर आएगा, परन्तु सच्चे प्रेम की नेकनामी प्रेमी को मिलेगी। उसका हित होगा।

ऐसा हो सकता है कि प्रेमी सच्चा ही हो और प्रेमास्पद भीतर से उसके अनुकूल भी हो पर अन्य कुछ मित्रों, गुरुजनों आदि को प्रेमी के सच्चे होने का विश्वास न हो। ऐसी दशा में यदि प्रतिकूलता होते हुए भी वह टिक गया तो सन्देहशील लोगों को भी उसके सच्चे प्रेमी होने का विश्वास सहज ही हो जायेगा। इस प्रकार कई बार कठोरपन प्रेम की कसौटी सिद्ध होता है। उस पर खरा उतरने पर प्रेमी यशश्वी होता है। यह प्रेमास्पद की अनुकूलता ही है यदि वह प्रेमी को यशश्वी देखना चाहता है, अपयश भाजन नहीं।

इन सब बातों से भी अधिक महत्व पूर्ण बात वह है जो श्री भरत जी ने कहीं हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति व चहौं निरवान।
जनम जनम रति राम पद, यह वर दान न आन॥

जानहु राम कुटिल करि मोहीं। लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही ।।
सीताराम चरण रति मोरे। अनुदिन बढ़ै अनुग्रह तोरे ।।
जलद जनम भरि सुरति बिसारउ। माँगत जल पबि पाहन डारउ ।।
चातक रटनि घटैं घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई ।।
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहे ।।

जैसे स्वर्ण को तपाते हैं तो वह अधिकाधिक खरा होता जाता है, निखर उठता है, उसी तरह प्रतिकूलता को सहन करते हुए प्रियतम के चरण कमलों में प्रेम का निर्वाह करने से अन्त:करण भी शुद्ध होता जाता है, शुद्धतम प्रेम का पात्र बनता जाता है।

जहाँ प्रेम सुख का साधन है, उपर्युक्त भाव नहीं टिक सकते, परन्तु जहाँ तप प्रेम के लिए है और शुद्ध प्रेम ही जीवन का लक्ष्य है, श्रेष्ठतम मूल्य है, वहाँ यही भावधारा स्वाभाविकी है।

श्रीमद्भागवत में रास लीला का वर्णन है। जब श्रीकृष्ण रासलीला में अन्तर्धान हो गए तो गोपियाँ बहुत दुःखी हुईं। उनका विलाप गोपी गीत श्रीमद्भागवत का मधुरतम अध्याय माना जाता है। जब श्रीकृष्ण पुनः प्रकट हुए तो गोपियों ने उपालम्भपूर्वक पूछा—कोई सज्जन ऐसे होते हैं कि अपने से प्यार न करने वालों को भी प्यार करते हैं, कोई अपने से प्यार करने वालों से ही प्यार करते हैं, और कोई अपने से प्यार करने वालों को भी प्यार नहीं करते। आप इनमें से कौन हैं ?

श्री भगवान् ने कहा उदार चरित्र वाले, परोपकारी, निःस्वार्थ सज्जन अपने से प्यार न करने वालों से भी प्यार करते हैं। जो अपने से प्यार करने वालों से ही प्यार करते हैं, औरों से नहीं, वे साधारण स्वार्थी जन हैं। जो अपने से प्यार करने वालों से भी प्यार नहीं करते, उनमें कई तरह के लोग हैं—

आत्मा रामा आप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः।
(श्रीमद्भागवत १०.३२.१९)

कुछ लोग आत्माराम हैं, अपने स्वरूप का बोध हो चुका है, आत्म-रति, आत्म-तुष्टि है, कभी वाह्य परिस्थिति या व्यक्ति में आसक्त नही होते। ऐसे दिव्य सन्तों के व्यवहार से ऐसा आभास हो सकता है कि वे अपने से प्यार करने वालों से भी प्यार नहीं करते, बड़े निष्ठुर या कठोर हैं। कुछ लोग आप्त काम (पूर्ण काम) होते हैं। अपनी कोई कामना बाकी नहीं है, जिसकी पूर्ति करना हो, इसलिए और के प्यार के जबाब में वे प्यार नहीं करते। प्रेम के जबाब में प्रेम नहीं कर पाते, उनको लौकिक प्रेम की आवश्यकता ही नहीं, अतः उपराम हो गए हैं। यह दो (आत्माराम व आप्तकाम) निन्दनीय नहीं हैं, वन्दनीय ही है। तीसरे ऐसे लोग भी हैं कि हैं जो साधारण कोटि के हैं, जिन्हें ममता और सहारा चाहिए परन्तु वे अपने से प्यार करने वालों की कोमल भावनाओं का स्वागत नहीं करते अथवा सत्य निष्ठा नही रखते इसलिए दूसरे लोगों के प्रेम की कद्र नहीं करते, उनके प्रेम में आघात लगे तो उसकी परवाह नही करते। यह लोग अकृतज्ञ हैं (यानी कृतघ्नी हैं)। जिनका उपकार मानना चाहिए, उनका उपकार नही मानते।

एक चौथा वर्ग भी है जो अपने से प्यार करने वालों से भी प्यार नहीं करता। जगत् के व्यवहार में ममता पानी की तरह निम्न गामिनी होती है। ममता अपने से छोटे के प्रति प्रवाहित होती है, गुरुजनों के प्रति भक्ति होती है, साधारण ममता नहीं। प्रकृति ममता की ही प्रेरणा देती है, भक्ति की नहीं।

माता, पिता, गुरुजन, पुत्रों, पुत्रियों, शिष्यों पर ममता करते हैं, यह प्यार उनके विकास में उन्नति में सहायक होता है, इसके लिए छोटों को कृतज्ञ, विनयशील, आज्ञा परायण और भक्त होना चाहिए। परन्तु

नालायक लोग गुरुजनों की ममता का लाभ उठाते हुए भी उसका तिरस्कार करते हैं। यह द्रोह है, करना नहीं चाहिए, परन्तु बहुत प्रचलित होता जा रहा है। गुरुजनों के प्रेम के बदले प्रेम करने की प्रेरणा प्रकृति नहीं देती। यह भक्ति एक अर्जित गुण है। जो गुरुजनों के प्यार का लाभ उठाते हैं, परन्तु भक्ति नहीं करते, वे गुरु द्रोही हैं, पापी हैं। वे निन्दनीय हैं।

प्रेम करने वालों से भी प्रेम करने वालों के दो वर्ग (आत्माराम व आप्तकाम) वन्दनीय हैं और दो वर्ग (अकृतज्ञ, गुरुद्रोही) निन्दनीय हैं। श्रीकृष्ण इन चारों वर्गों से भी अपने को अलग बताते हैं। वे प्यार करने वालों से जब प्यार नहीं करते तो उनका प्रयोजन उस प्रेम को तीव्रतर करने का होता है, फिर उस तीव्रतर प्रेम का उत्तर मिलता है।

इस प्रकार प्रेमास्पद की कठोरता का यह प्रयोजन भी हो सकता है कि प्रेमी का प्रेम शुद्धतर, तीव्रतर हो झाय। तब उस प्रेम के साथ मिलन हो। यह तो अनुकूलता ही हुई। अधिक अनुकूलता अधिक कठोरता के रूप में भी दिखाई दे सकती है।

इसलिए प्रेमास्पद मेघ का सारा पक्ष एक सूत्र में कहा गया, 'प्रम न परखिय परुषपन'। प्रेम में कठोरता की परीक्षा करके उसके आधार पर प्रेम के अस्तित्व या अभाव का निर्णय नहीं करनाचाहिए।

होइ न चातक पातकी, जीवन दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रह्लाद की, समुझि प्रेम पथ गूढ़॥ (२९९)

न चातक पापी है, न जीवनदानी मेघ मूर्ख है। श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रेम को समझने के लिए प्रह्लाद की गति पर विचार करना चाहिए, प्रेम का पथ गूढ़ है रहस्यमय है।

भक्त हैं, वे भक्तराज माने गए। वे द्वादश महा भागवतों में भी पहले गिने गए-प्रह्लाद नारद पराशर पुण्डरीक,

व्यासम्बरीश शुक शौनक भीष्म दाल्भ्यान्।

हिरण्यकश्यप ने अपने पुत्र प्रह्लाद को मरवा देने की सब तरकीबें कर डालीं, परन्तु वे बेकार हुईं। तब उसे बड़ा आश्चर्य और भय हुआ। अपना पुत्र है इससे वह कुछ भी आश्वस्त नहीं हुआ। उसने सोचा—

परोऽप्यपत्यं हितकृद्यथौषधं, स्वदेहजोऽप्यामयवत् सुतोऽहितः।

(श्रीमद्भागवत ७. ५. ३७)

दूसरे से पैदा (अन्य का पुत्र) भी हितकारी हो सकता है, जैसे औषधि। जड़ी बूटी वनस्पति से प्राप्त होने पर भी मानव शरीर के लिए दवा के रूप में हितकारी हो सकती हैं, जबकि अपने शरीर से पैदा किया पुत्र भी अहितकारी हो सकता है। बीमारी अपने शरीर से उत्पन्न है पर वह अहितकर है, उसकी चिकत्सा के लिए अन्य शरीर से उत्पन्न औषधि का प्रयोग आवश्यक हो सकता है।

इधर प्रह्लाद उद्विग्न भी नहीं हुए, वे यह मानते रहे कि–

देवाऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च।

भजन्मुकुन्द चरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयं॥

(श्रीमद्भागवत ७ ७ ५०)

देव, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व कोई भी हो भगवान् के चरणों की भक्ति करता हुआ हमारी तरह कुशलमंगल से रह सकता है।

परमापत्ति में भी 'स्वस्तिमान्'! प्रत्येक परिस्थिति में समत्व-

समत्वमाराधनमच्युतस्य

कष्टों के विचार से तो प्रह्लाद भी महान पापी मालुम होंगे, परन्तु वे निष्पाप भक्तराज-मान्य हैं, इसी लिए प्रह्लाद का प्रबलतम उदाहरण माना जा सकता है जो यह सिद्ध करता है कि प्राप्त कष्टों के ही आधार पर किसी को पापी नहीं माना जा सकता। यह भी आवश्यक नहीं कि पहले कभी वह महापापी रह चुका हो। प्रह्लाद का उदाहरण इन धारणाओं को ध्वस्त करता है। ऐसे महान् भक्तों (सन्तों) के जीवन के घटनाक्रम का अपनी बुद्धि से कर्म सिद्धान्त मात्र के आधार पर विश्लेषण नहीं करना चाहिए।

यदि प्रह्लाद को पापी न मानें तो क्या भगवान् को मूर्ख मान सकते हैं ? भगवान् ने विपत्ति की निवृत्ति क्यों नहीं की ? ज्ञानियों की दृष्टि में तो विपत्ति निवृत्ति की ही, नहीं तो मृत्यु के सब उपाय क्यों बेकार हो जाते। प्रह्लाद अपने को 'स्वस्तिमान्' कैसे कह पाते ? अन्त में भगवान् नाटकीय ढग से नृसिंहावतार धारण करके भक्त की रक्षा करते हैं।

शेर को देखकर तो बालक सहम कर भी मर सकता है पर प्रह्लाद भगवान् के सिंह वाले मुख से बिल्कुल नहीं डरे। (श्रीमद्भागवत ७ ९.१५)। देवताओं को और स्वयं लक्ष्मी जी को उस समय भगवान् के पास जाने का साहस न हुआ तो प्रह्लाद भेजे गये। भगवान् ने उन्हें गोद में बिठाकर उन्हें उन्हीं शेर के पंजों से दुलराया और उसे भक्त ने कर कमलों का प्रसाद (पद्मकर: प्रसाद: ७.९.२६) माना।

इन सब बातों में भक्त और भगवान् की लीला है जो साधारण बुद्धि से समझ में नहीं आती। समस्त प्रह्लाद चरित्र पर विचार करके कोई भी भगवान् को मूर्ख या सितमगर नहीं ठहराता, वे करुणाकर ही

सिद्ध होते हैं। कौन कह सकता है कि उन्होंने प्रह्लाद की भक्ति की कद्र नहीं की ?

'होय न चातक पातकी, जीवन दानि न मूढ़' इसके दोनों बिन्दु सिद्ध करने के लिए श्री गोस्वामी जी ने श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया। इसी से प्रेम पथ की गूढ़ता भी स्पष्ट हो गई।

अतर्क्या खलु ये भावा न तान् तर्केण साधयेत्।

यह भाव अतर्क्य हैं, इन्हें तर्क में सिद्ध करने का प्रयास न करें।

गरज आपनी सबनि को, गरज करत उर आनि।
तुलसी चातक चतुर भो, जाचक जानि सुदानि।
(३००)

स्वार्थ की आवश्यकता सबको होती है, वह हृदय में आकर गरजती है, (ज़ोर करती है), व्यक्ति को अनुनय विनय, प्रार्थना, याचना के लिए विवश करती है। पर चातक सुजान दानी को पहचान गया इसलिए चतुर जाचक हो गया, धन्य हो गया।

कहते हैं कि एक फ़कीर एक शाह के दरबार में गए। शाह नमाज़ पढ़ रहे थे। नमाज़ अदा कर चुकने पर फ़कीर से बातचीत की और योग्य सेवा पूँछी। फ़कीर ने कहा, पहले यह तो बताइये कि आप कर क्या रहे थे। शाह ने उत्तर दिया, 'खुदा से दुआ माँग रहा था। फकीर ने कहा, कि जब आप खुद माँग रहे थे तो मैं माँगने वाले से क्या माँगूं ? उसी से माँगूंगा जिससे आप माँग रहे थे।

यहाँ यह उपदेश दिया गयाँ है कि आवश्यकताओं का होना और याचना करना यह लगभग सर्वव्यापी है, परन्तु याचकों में भी वर्ग और

श्रेणी विभाजन है। इसीलिए एक से एक अपमानित और सन्मानित याचक हैं। सबको एक सा नहीं मान सकते।

'दाता एक राम, भिखारी सारी दुनियाँ।'

सारी दुनियां की आवश्यकताएँ हैं, कामनाएं हैं, लालसाएं हैं, उनके पूरी करने की प्यास सबको है। यदि आवश्यकता का अनुभव है, तो पूर्ति का प्रश्न भी है। जो भी पूर्ति होती है, भगवान् के विधान से ही होती है, अत: सबकी स्थिति भिखारी की है, दाता केवल भगवान् हैं। साधारण भिखारी केवल प्रत्यक्ष दाता को जानता है। मनी आर्डर के रुपये का प्रत्यक्ष दाता डाकिया है पर असली, परोक्ष दाता भेजने वाला है। माँ बच्चे को दूध पिलाती है, वह प्रत्यक्ष दातृ है परन्तु बच्चे के लिए माँ के स्तनों में दूध आ जाने का विधान भगवान् का है। अज्ञानी जीव इन बातों को नही समझता। इसलिए वह दीन होकर सबसे माँगता है, सबकी सहता है, अपमानित होता है, भगवान् की शक्ति को, उनके विधान को नहीं जानता।

इससे कुछ श्रेष्ठ भिखारी वह हैं जो साधारणत: तो सबसे माँगता है पर जब इस स्थिति से अति कष्ट मिलता है तो भगवान् से माँगता है।

इससे भी आगे वह है जो पुरुषार्थ करता है, पर विशेष विपत्ति के समय भगवान् से माँगता है। दूसरों से कुछ भी माँगने में उसे संकोच होता है।

यदि आपत्ति में पड़ने पर आवश्यकतानुसार विभिन्न दैवी शक्तियों का आराधन किया जाय और उनसे माँगा जाय तो यह दूसरों से माँगने के समान हुआ। अनन्य भक्त ईष्टदेव के अतिरिक्त दूसरों से नहीं माँगता।

उस भक्त की सत्यनिष्ठा अधिक है, जो साधारणतः किसी से कुछ नहीं माँगता, विषम परिस्थिति में आर्त भक्ति से ईष्टदेव की ही सहायता माँगता है। इससे भी अधिक समर्पण उसका है जो कि विषम परिस्थिति में भी ईष्टदेव के आगे रोता चिल्लाता नहीं। स्थिति को भगवान् के आगे रख दिया, प्रार्थना की, परन्तु इसके बाद भगवान् की मर्ज़ी में सन्तुष्ट हैं—

राज़ी हैं हम उसी में, जिसमें तेरी रज़ा है।

पं० रामप्रसाद बिस्मिल (क्रान्तिकारी) जब फ़ाँसी के लिए जाने लगे तो इस प्रकार गाते हुए गए–

मालिक तेरी रज़ा रहे, और तू ही तू रहे।
बाकी न मैं रहूं, न मेरी आरज़ू रहे।
जब तक कि तन में जान, रगों में लहू रहे।
तेरा ही ज़िक्र हो या तेरी जुस्तजू रहे।।

रज़ा = मर्ज़ी, इच्छा, आरज़ू = वासना, ज़िक्र = याद, जुस्तजू = खोज

यह उत्तम समर्पण का भाव है।

'कामानामहृद्यसंरोहम्' (श्रीमद्भागवत ७.१०.७), यह भी एक कामना है।

कोई भिखारी दुनियाँ से ही माँगता है, भगवान् से नहीं, कोई दोनों से माँगता है, कोई केवल भगवान् से माँगता है, पर अधीर है, कोई भगवान् से भी अधीर होकर कुछ नहीं माँगता, और किसी से कुछ नहीं माँगता। कोई निष्काम होते हुए पराभक्ति, अहैतुकी प्रीति, सच्ची शरणागति की भावना आदि की याचना करता है। भगवान् के विधान को अपने लिए मंगलकारी मानता है। भगवान् याचना पूरी न करें तो उसमें भी अपना कल्याण ही देखता है—

कुपथ माँग रुज व्याकुल रोगी । वैद्य न देइ सुनहु मुनि योगी ।।

अबोध बालक कुपथ माँगे तो भी वैद्य या माता उसे क्यों दे ? भगवान् सब जीवों के सुहृद हैं (गीता ५.२९) इसका ज्ञान होने पर ही शान्ति प्राप्त होती है । श्री गोस्वामी जी कवितावली जी में कहते हैं—

जग जाँचिइ कोउ न जाँचिय जो, जिय जाँचिय जानकि जानहिं रे ।

१—संसार में किसी से कुछ न माँगिए, २—यदि माँगिये तो श्री जानकी जीवन रामजी से ही माँगिये, ३—वह भी अपने मन में माँगिये । भगवान् से आपने क्या माँगा, उन्होंने दिया या नहीं, इन बातों को सबको विदित न होने दीजिये कि लोग तरह तरह की मनमानी बातें कहते फिरें ।

जिसकी दुनियाँ को खबर हो ये वो नासूर नहीं ।
उनके मातम की नुमाइश मुझे मंजूर नहीं ।।

किसी भी दशा में भगवान् के विधान से असन्तुष्ट न रहिये । अखण्ड प्रफुल्लित रहिए दुःख में भी । (श्री १००८ स्वामी एकरसानन्द जी का उपदेश) ।

उपर्युक्त श्रेणियों के याचकों में श्रेष्ठता उसी अनुपात में है जिस अनुपात में वे भगवान् के दयालु और दानी स्वभाव को जानते हैं और शरणागत हैं ।

उमा राम स्वभाव जिन जाना । तिनहिं भजन तजि भाव न आना ।।

चातक की श्रेष्ठता इसी में है कि मेघ के स्वरूप को समझता है जीवनदानी और दयालु जानकर मेघ का शरणागत है । सुदानी, को पहचानकर मात्र उसी का याचक बन जाने में ही चातक का चातुर्य है,

अन्यथा अन्य प्राणी न उसे ऐसा दानी मानते हैं, न उसके प्रति शरणप्रपन्न होते हैं। क्योंकि मेघ अतिवृष्टि, अवृष्टि, उपलवृष्टि, बज्रपात आदि के लिए भी उत्तरदायी है।

इसी तरह सन्त भगवान् का करुणासिन्धु होना जानते हैं, उनके अनन्य शरणागत हैं, अन्य लोगों की तरह वे संशयशील नहीं हैं कि—

अति बरसे अनबरसे हूँ, देहिं दैवहिं गारी।

(वि०ष०)

भगवान का दानी स्वभाव समझ जाना ही सन्तों का चातुर्य है, यही उनकी बड़ाई है, इसी में उनका विवेक है, श्रेष्ठता है, और यही उनकी शरणागति भावना का रहस्य है, अनन्यता का आधार है।

तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जौ चाहसि मन मेरे।
तो भजु राम काम सब पूरन करहिं कृपानिधि तेरे।।

(वि०प०)

चरग चंगु गत चातकहिं, नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर, परिहैं पुहुमी नीर।।

(३०१)

बाज के चंगुल में पड़ जाने पर चातक को मृत्यु की पीड़ा नहीं है, नेम प्रेम के निर्वाह की पीड़ा है, बाज के पंजे में आ जाने पर वह बेबस हो गया अत: उसे आशंका है कि न मालूम किस भूमि पर उसकी हड्डियाँ गिरेंगी, तब पृथ्वी पर गिरा हुआ जल उन हड्डियों पर पड़ेगा। (मरते मरते वह यह चाहता है कि उसकी हड्डियाँ पृथ्वी के जल में न गिरें, स्वाति के बरसते हुए जल के ही बरतने के नियम का निर्वाह हो जाय।)

काल के पंजे में पड़ा हुआ चातक, अपने घाव की, मृत्यु की, परवाह नहीं करता, उसे केवल इस बात की चिन्ता है कि कहीं अपना नेम प्रेम न विगड़ जाय। जीवन भर तो स्वाति नक्षत्र के बरसते हुए जल पर गुजर की, दूसरे पृथ्वी पर पड़े हुए जल से कोई सरोकार नही रक्खा, अत: अन्त समय, परवश हुए तो पृथ्वी पर के जल में हड्डी न गिर पड़े, यही चिन्ता है।

चातक की यह इच्छा नहीं मानी गई कि जीवन में तो नेम प्रेम निभा दिया अब अन्त समय में हड्डियाँ श्री गंगा जी में गिरें या पहुँचें तो उत्तम गति प्राप्त हो।

आदर्श सन्त अपने नेम प्रेम को अन्त तक निभा देते हैं। मृत्यु के समय तक उसमें कोई अन्तर नहीं आने देते। बीमारी या मृत्यु भी उन्हें विवश नहीं कर पाती। बीमारी की चिकित्सा, परहेज, स्वास्थ्य या जीवन की कामना, लोक की कोई विभूति या परलोक की कोई सुगति भी उन्हें अपने व्रत से च्युत नहीं कर पाती।

सन्त मृत्यु से नहीं डरते परन्तु परम प्यारे प्रभु की याद में ही मरना चाहते हैं। जैसे परीक्षित जी की यह इच्छा थी कि मैं भगवत्कथा में मग्न रहूँ, उसी दशा में तक्षक मुझे काटे। उन्होंने ऐसा कोई यत्न नहीं किया कि शाप सफल न हो, तक्षक काट ही न पाए। कथा में आता है देवता लोग कथा के पहले अमृत का घड़ा लेकर उपस्थित हुए और कहा कि परीक्षित जी अमृत पीकर अमर हो जायँ, कथा हमें दे दी जाय, परन्तु श्री शुकदेव जी ने इसे स्वीकार नहीं किया। कहाँ मणि के समान कथा, कहाँ कांच की तरह सुधा! मर जाना स्वीकार है, करके प्रेम निबाह। श्री दशरथ जी ने भी शरीर को त्याग करके प्रेम का निर्वाह

किया। एक कृष्ण भक्त अन्त समय में निम्न छन्द को विह्वल होकर गाते हुए गए—

ऐसे नहीं हम चाहन हारे कि आज तुम्हैं कल और को चाहैं।
फोरि के आँखैं निकारि दें दोऊ, जो दूसरी ओर मिलावैं निगाहैं।।
लाख मिलैं तुमसे हमको, तुमही को चहैं, तुमही को सराहैं।
देह में प्रान रहैं जबलौं, हम नेह को नातो सदा ही निबाहैं।।

भगवान् के सच्चे प्रेमी तो मोक्ष भी नहीं लेते,विभिन्न योनियों और जन्मान्तरों में भी केवल अहैतुकी भक्ति का निर्वाह चाहते हैं।

एक सन्त प्रात: नदी स्नान को जाते थे। रास्ते में एक वेश्या का घर पड़ता था। वह कभी कभी पूछ देती, 'आपकी मूँछ श्रेष्ठ है, या कुत्ते की पूँछ?' वे कभी चुप रह जाते, कभी उत्तर देते, 'कभी कहेंगे।' सन्त ने शरीर छोड़ा और उनकी लाश उसी मार्ग से निकली। वेश्या ने कहा, 'सन्त ने कभी उत्तर देने को कहा था, बिना उत्तर दिये चले जा रहे हैं।' सन्त उठ बैठे और कहा, 'माई मेरी मूँछ कुत्ते की पूंछ से अच्छी है।' वेश्या ने कहा, 'तो अब तक कहा क्यों नहीं था?' उन्होंने उत्तर दिया, 'कुत्ते की पूँछ यदि उठी रहती है तो जीवन भर वैसी ही (उठी हुई) रहती है। लच (झुक) नहीं सकती। जीवन काल में यह आशंका थी कि अपने से कोई अधम कार्य न हो जाय कि मूँछ नीची हो जाय। अब जीवन पूरा हो चुका इसलिए कहा।' नेम प्रेम निर्वाह की सन्तों को इतनी चिन्ता रहती है।

बध्यो बधिक पर्यो पुण्य जल, उलटि चलाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहु लगी न खोंच।।
(३०२)

किसी बधिक ने, बहेलिये ने चातक को तीर मारा तो वह पुण्य शलिला गंगा जी में गिरा। उसने चोंच ऊपर को उठा ली कि गंगाजल मुख में न चला जाय (और अपना व्रत भंग हो जाय)। श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि चातक के प्रेम के पट (वस्त्र) में मरते मरते (अन्तकाल में भी) एक खोंच तक नहीं लगी, उसका प्रेम पूर्णतः अन्त तक निभ गया।

प्रेम की साधना में नियम-निर्वाह की सत्यनिष्ठा यहां भली भाँति दर्शाई गई है। यह कहना ग़लत है कि नियम मूर्खों के लिए हैं, या यह कि प्रेम में कोई नेम (नियम) नहीं। प्रेम की साधना में नेम की आवश्यकता होती है। प्रेम के कारण जो नियम लिए जाते हैं और निर्दिष्ट हैं, आवश्यक हैं, उनका दृढ़ अनुपालन प्रेमी की सत्यनिष्ठा का प्रमाण है। केवल यह कहा जा सकता है कि उनका निर्वाह विवेकपूर्वक करना विहित है, जिससे वे विरोधी प्रभाव वाले, प्रेम के बाधक, न बन जायँ। अन्यथा उनका दृढ़ पालन ही प्रेम की शोभा है, प्रेमी का गौरव है। प्रेम में अपनी सुविधा का मार्ग नहीं ढूंढा जा सकता। प्रेमी तो सब कुछ त्याग करने को तैयार रहता है। वह प्राण रक्षा की परवाह नहीं करता, प्रेम रक्षा की परवाह करता है।

हमने दिल दे भी दिया, अहदे वफ़ा ले भी लिया।
आप अब दे दें खुशी से, जो सज़ा देते हैं॥

अहद = प्रतिज्ञा, वफ़ा = प्रेम में सत्य-निष्ठा।

सभी लोग चाहते हैं कि उनके अन्त समय में श्री गंगा जल उनके मुख में पहुँचे और पार्थिव शरीर के अवशेष श्री गंगा जी को समर्पण किए जायँ। श्री आदि शंकराचार्य कहते हैं—

किया। एक कृष्ण भक्त अन्त समय में निम्न छन्द को विह्वल होकर गाते हुए गए—

ऐसे नहीं हम चाहन हारे कि आज तुम्हैं कल और को चाहैं।
फोरि के आंखैं निकारि दें दोऊ, जो दूसरी ओर मिलावैं निगाहैं।।
लाख मिलैं तुमसे हमको, तुमही को चहैं, तुमही को सराहैं।
देह में प्रान रहैं जबलौं, हम नेह को नातो सदा ही निबाहैं।।

भगवान् के सच्चे प्रेमी तो मोक्ष भी नहीं लेते, विभिन्न योनियों और जन्मान्तरों में भी केवल अहैतुकी भक्ति का निर्वाह चाहते हैं।

एक सन्त प्रातः नदी स्नान को जाते थे। रास्ते में एक वेश्या का घर पड़ता था। वह कभी कभी पूछ देती, 'आपकी मूँछ श्रेष्ठ है, या कुत्ते की पूँछ ?' वे कभी चुप रह जाते, कभी उत्तर देते, 'कभी कहेंगे।' सन्त ने शरीर छोड़ा और उनकी लाश उसी मार्ग से निकली। वेश्या ने कहा, 'सन्त ने कभी उत्तर देने को कहा था, बिना उत्तर दिये चले जा रहे हैं।' सन्त उठ बैठे और कहा, 'माई मेरी मूँछ कुत्ते की पूंछ से अच्छी है।' वेश्या ने कहा, 'तो अब तक कहा क्यों नहीं था ?' उन्होंने उत्तर दिया, 'कुत्ते की पूँछ यदि उठी रहती है तो जीवन भर वैसी ही (उठी हुई) रहती है। लच (झुक) नहीं सकती। जीवन काल में यह आशंका थी कि अपने से कोई अधम कार्य न हो जाय कि मूँछ नीची हो जाय। अब जीवन पूरा हो चुका इसलिए कहा।' नेम प्रेम निर्वाह की सन्तों को इतनी चिन्ता रहती है।

बध्यो बधिक पर्यो पुण्य जल, उलटि चलाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहु लगी न खोंच।।
(३०२)

किसी बधिक ने, बहेलिये ने चातक को तीर मारा तो वह पुण्य शलिला गंगा जी में गिरा। उसने चोंच ऊपर को उठा ली कि गंगाजल मुख में न चला जाय (और अपना व्रत भंग हो जाय)। श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि चातक के प्रेम के पट (वस्त्र) में मरते मरते (अन्तकाल में भी) एक खोंच तक नहीं लगी, उसका प्रेम पूर्णतः अन्त तक निभ गया।

प्रेम की साधना में नियम-निर्वाह की सत्यनिष्ठा यहां भली भाँति दर्शाई गई है। यह कहना ग़लत है कि नियम मूर्खों के लिए हैं, या यह कि प्रेम में कोई नेम (नियम) नहीं। प्रेम की साधना में नेम की आवश्यकता होती है। प्रेम के कारण जो नियम लिए जाते हैं और निर्दिष्ट हैं, आवश्यक हैं, उनका दृढ़ अनुपालन प्रेमी की सत्यनिष्ठा का प्रमाण है। केवल यह कहा जा सकता है कि उनका निर्वाह विवेकपूर्वक करना विहित है, जिससे वे विरोधी प्रभाव वाले, प्रेम के बाधक, न बन जायँ। अन्यथा उनका दृढ़ पालन ही प्रेम की शोभा है, प्रेमी का गौरव है। प्रेम में अपनी सुविधा का मार्ग नहीं ढूँढ़ा जा सकता। प्रेमी तो सब कुछ त्याग करने को तैयार रहता है। वह प्राण रक्षा की परवाह नहीं करता, प्रेम रक्षा की परवाह करता है।

हमने दिल दे भी दिया, अहदे वफ़ा ले भी लिया।
आप अब दे दें खुशी से, जो सज़ा देते हैं।।

अहद = प्रतिज्ञा, वफ़ा = प्रेम में सत्य-निष्ठा।

सभी लोग चाहते हैं कि उनके अन्त समय में श्री गंगा जल उनके मुख में पहुँचे और पार्थिव शरीर के अवशेष श्री गंगा जी को समर्पण किए जायँ। श्री आदि शंकराचार्य कहते हैं—

तवोत्संगे गंगे पतति यदि कायस्तनुभृताम् ।
तदा मात: शातक्रतव पद लाभोप्यति लघु: ।।

हे देवि गंगे यदि आपकी गोद में कोई शरीरधारी का वपु पड़ जाय, तो इन्द्रासन का प्राप्त होना भी उसका बहुत छोटा परिणाम है ।

ऐसी परम पवित्र पतितपावनी श्री गंगा जी में चातक का शरीर बहेलिए के बाण के लगने से अपने आप गिर पड़ा । इससे बढ़कर सौभाग्य का विषय ही क्या हो सकता है ? परन्तु, वाह रे चातक ! धन्य तेरा प्रेम, तेरी सत्य-निष्ठा, कि तूने अपने नेम-प्रेम के निर्वाह में ऐसे दिव्य श्री गंगा जल का भी तिरस्कार कर दिया ।

चातक तो 'पहुमी-नीर' का स्पर्श भी नहीं करना चाहता, पीना तो दूर रहा । फिर श्री गंगाजल का ग्रहण भला उसके व्रत के अनुकूल कैसे हो सकता है ?

लौकिक लाभ ही नहीं बड़े से बड़े पारलौकिक लाभ के लिए भी चातक अपनी व्रत निष्ठा को शिथिल नहीं करना चाहता । उसकी साधना प्रेम साधना है, वह परिणाम सोपेक्ष नहीं है ।

वैसा ही सन्तों का भी हाल है, उनका भी भगवान् के प्रति प्रेम परिणाम सापेक्ष नहीं है, परिणाम निरपेक्ष है । उस प्रेम के नाते वे जो नियम लेते हैं, उन्हें दृढ़ता से निभाते हैं । जहाँ साधारण धर्म में और उनके अनन्य शरणागति के विशेष धर्म में विरोध आए, उनका विशेष धर्म ही उनके लिए प्रमाण है, साधारण धर्म नहीं ।

परम प्यारे प्रभु के प्रति प्रेम निर्वाह उनका परम धर्म है, उससे विरोध होने पर कोई अन्य धर्म प्रमाण नहीं हो सकते ।

'अन्ते नारायण स्मृतिः ।' 'अन्तकाल में, मृत्यु के समय, भगवान् की याद' यही सर्वश्रेष्ठ है ।

राम सुमिरन सब विधि ही को राज रे ।
राम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे ।।
(वि०प०)

तुम अपने प्रभु को पूरे मन से, पूरे चित्त से, पूरे अन्तःकरण से, पूरी शक्ति से प्यार करो । यह प्रथम आदेश है (बाइबिल मार्क १२.३०)

अनन्य भक्तों की विपत्ति की कल्पना ही कुछ दूसरी है । जब श्री रघुनाथ जी ने श्री सीता जी के कष्ट सुने तो वे दुःख पूर्वक बोले—

बचन काय मन मम गति जाही । सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही ।।

मन वचन कर्म से जो मेरी शरण में है, उसे तो स्वप्न में भी विपत्ति नहीं आनी चाहिए । श्री हनुमान् जी ने कहा—

कह हनुमन्त बिपति प्रभु सोई । जब तब सुमिरन भजन न होई ।।

भगवान् की याद ही सुख है, विस्मृति ही विपत्ति है । 'तद्विस्मरणे परम व्याकुलता ।' (नारद भक्ति सूत्र) ।

प्रेम नेम के कारण चातक अन्त तक अपने प्रेम प्रण का पूर्ण निर्वाह करना चाहता है, घायल या मरणासन्न अवस्था की उसे परवाह नहीं है, इसी प्रकार का अद्भुत धैर्य, सब्र व तप सन्तों में भी पाया जाता है ।

'कोटि विघ्न ते सन्त कर, मन जिमि नीति न त्याग ।'
(रा०च०मा०)

न्याय्यात् पथात् प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।
भर्तृहरि (नीति शतक)

अण्ड फोरि कियो चेटुवा, तुष पर्यों वारि निहारि ।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्यो बाहिर वारि ।।
(३०३)

चातक ने अण्डे को फोड़कर उसमें से बच्चा निकाला, परन्तु अण्डे के छिलके को पानी में पड़ा हुआ देखकर चतुर चातक ने उसे पंजे से पकड़ कर पानी से बाहर फेंक दिया ।

चातक पक्षी है, अण्डे से ही बच्चा निकलता है, अण्डा फूटता है तो छिलके के टुकड़े इधर उधर पड़े रहते हैं, चातक ने देखा कि अण्डे के छिलके का एक टुकड़ा पानी में पड़ा हुआ है । उसने यह पसन्द नही किया कि अपना ही अंश अण्डा और उसके छिलके का टुकड़ा साधारण जल में पड़ा रहे । अपने अंश को ऐसे जल का स्पर्श या सम्पर्क क्यों हो ? इसलिए उसने उसे जल के बाहर कर दिया, निकालकर अलग फेंक दिया । यहाँ चातुक को चतुर कहा गया है । चतुराई यह है कि चातक ने अपने अंश स्वरूप अण्डे के छिलके को जल से बाहर निकाल फेंकने में भी अपने व्रत को शिथिल नहीं होने दिया । साधारण पक्षी अण्डे के छिलके को चोंच से ही उठाएगा, परन्तु चातक ऐसा करता तो उसकी अपनी चोंच ही पृथ्वी पर पड़े हुए जल में चली जाती और जल चोंच में पहुँच सकता था । यह उसके व्रत के विरुद्ध होता । इसलिए उसने अण्डे के छिलके को पंजे से निकाला, चोंच से नहीं ।

यहाँ विवेक को ही चातुर्य माना है । चातक चतुर है यानी विवेकी है । यह अविवेक पूर्ण होता कि अण्डे के छिलके को जल से बारर करने

के लिए स्वयं अपनी चोंच उसी पानी में डालता। इसलिए पंजे से निकालने में ही विवेक है और यही चातुर्य माना गया है।

अब इसे सन्त के पक्ष में घटित कीजिए। सन्त आकाशवृत्ति पर रहते हैं। प्यारे प्रभु का नाम लेते हैं किसी और से कुछ याचना नहीं करते। एक मात्र प्रभु के ही भरोसे पर ज़िन्दगी गुज़ारते हैं। अनन्य भाव से शरणागत हैं। इस पृथ्वी पर सम्पत्ति का अपार विस्तार है, यह सब प्रभु की ही सम्पत्ति है—सम्पत्ति सब रघुपति कै आही। (रा०च०मा०) परन्तु पृथ्वी भर में फैली हुई प्रभु की सम्पति सभी जीवों के लिए है, ख़ासकर सन्तों ही के लिए नहीं है। सन्त उसमें से कोई हिस्सा नहीं बटाना चाहते।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।

(ईशोपनिषद १)

जो विशेषत: सन्तों के लिए आ जाय, अयाचित उपहार, उसी से सन्त अपना काम चलाते रहते हैं। इस आधार का पूर्ण निर्वाह कठिन है। कोई ऐसे हैं जिन्हें निश्चित मासिक सहायताएँ मिलती हैं, कोई किसी संचित निधि का आश्रय लेते हैं, कोई पेन्शन पर गुजर करते हैं। किसी को किसी सम्पन्न गद्दी की महन्ती मिली है जिससे उनका काम चलता है यह सब सन्त भले ही अनन्य शरणागत न हों तथापि वन्दनीय हो सकते हैं, पर वे चातक वाली वृत्ति नहीं रखते। चातक वृत्ति वाले सन्त सर्वश्रेष्ठ हैं। वे भगवदाश्रय पर ही रहते हैं, अंशत: भी दूसरा सहारा नहीं पकड़ते। प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से सरकारी सहायता पर या सम्पन्न व्यक्तियों की सहायता पर निर्भर नहीं होना चाहते।

अपनी गुजर आकाशवृत्ति से हो तो भी अन्य प्रकार से सहायता का प्रश्न आता है, यथा—

अपनी देह के अतिरिक्त पारिवारिक जन हैं, उनकी आकाशवृत्ति नहीं है, साधारण वृत्ति है, अतः वे साधारण वृत्ति से रहते हैं, साधारण रूप से सहायता माँगते हैं और पाते हैं।

अथवा अपने लिए आकाश वृत्ति, अपने मठ के लिए सहायता का स्वागत।

अथवा किसी सार्वजनिक कार्य या सेवा के लिए सहायता, अपने लिए आकाशवृत्ति।

देखने में यह सब कितना ही निरापद लगे परन्तु यदि आप अभी भी कुछ पारिवारिक या मठादि सम्बन्धी, या प्रचार सम्बन्धी दायित्व ग्रहण किए हुए हैं, तो वह दूसरा कार्य भी आपका ही है। आपका व्यक्तित्व द्विविधि है। एक अश में अनन्यता है, दूसरे अंश में अन्याश्रय है। इससे अनन्यता का निर्वाह नहीं होता।

अपना कोई अंश, जीवन का कोई क्षेत्र, अनन्यता के बाहर है तो वह अपूर्ण है। चतुर चातक ऐसी खण्डित अनन्यता से सन्तुष्ट नहीं। उसे अखण्ड और पूर्ण अनन्यता और शरणागति चाहिए। अतः चतुर चातक अपने अण्डे को, बच्चे को, अण्डे के छिलके को भी अपने व्रत की विरोधी स्थिति में नहीं देखना चाहता।

हद की बाद तो यह है कि अण्डे के छिलके को जल से बाहर करने के लिए भी पंजे का ही प्रयोग करता है, चोंच का नहीं, क्योंकि अन्य जल में चोंच नहीं जानी चाहिए।

अपने व्रत के प्रतिकूल परिस्थिति के बदलने के प्रयास में भी व्रत को शिथिल करना सम्भव है, वैसा करने का प्रलोभन हो सकता है। चतुर चातक ऐसा नही करता, उसी प्रकार विवेकी सन्त भी, दूसरो को

प्रभावित या परिवर्तित करने की लालच में भी अपने व्रत को शिथिल नहीं करते ।

वही सन्त चतुर (विवेकी हैं, जो प्रचार, प्रसार, परोपकार, उद्धार आदि के लालच में भी अपने व्रत को ढीला नहीं करते । लौकिक दृष्टि से वहुतों को यह मूर्खता लगेगी परन्तु तात्विक दृष्टि से यह चतुरता है क्योंकि फिसलते हुए को फिसलने से बचाने के लिए स्ययं फिसलना कोई चतुरता नही हो सकती । अपने सिद्धान्त को ढीला करने की मिसाल पेश करके आप सिद्धान्त के कट्टर व्यक्ति नही बना सकते । स्वयं भगवान् का भरोसा ढीला करके दूसरे भगवान् के अनन्य भक्त तैयार करने की आशा में कोई वास्तविक चतुराई नहीं है ।

तुलसी चतुराई सोई, वृत्ति राम पद लीन ।
परधन पर मन हरन कहँ, वेश्या परम प्रवीन ।।

(दोहावली)

तुलसी चातक देत सिख सुतहि बारही बार ।
तात न तर्पन कीजिये, बिना वारिधर धार ।।

(३०४)

तुलसीदास जी कहते हैं कि चातक अपने पुत्र को वार बार निदेश देता है कि प्यारे मेघ की बरसती धारा के जल को छोड़कर अन्य किसी जल से (मेंरे मरने पर) मेंरा पितृ-तर्पण कभी न करना ।

कवि ने प्रदर्शित किया है कि चातक सभी अवस्थाओं में व्रत का निर्वाह चाहता है—जीवन काल में, मरण पूर्व बीमारी या कष्ट की दशा में, मरते मरते, मरने के बाद, अपने अण्डों बच्चों के जीवन में ।

यहाँ मरणोत्तर काल में व्रत निर्वाह की चिन्ता है, जल से पितृ तर्पण किया जाता है कि वह जल पितरों को प्राप्त हो, उससे वे तृप्त हों,

जब चातक स्वाति नक्षत्र के बरसते हुए जल को ही ग्रहण करता है, अन्य जल को नही, तो फिर अन्य जल से तर्पण करके उसे तृप्त करने की कल्पना क्यों होनी चाहिए ? यदि चातक का (मरणोपरान्त) पितृ तर्पण किया जाय तो वर्षा के ही जल से हो पृथ्वी पर के जल से न हो।

यहाँ चुपचाप यह संकेत आ गया कि परम विरक्त वीतराग अनन्य शरणागत भगवत्प्रपन्न सन्तों के जीवन काल के बाद उनकी यादगार में जो कुछ शुभ कार्य किया जाय या उनके कार्यों को जारी रक्खा जाय या आगे बढ़ाया जाय तो उसमें भी उनकी त्याग वृत्ति को शिथिल न किया जाय, उसे भी 'आधीन सुसाधित दाम को' समझा जाय। यदि शुद्ध वित्त का आग्रह छूटा तो तात्कालिक लाभ कुछ भी जान पड़े, अन्त में विषमताएँ आएँगी ही और उन शुद्ध सन्तों के शुद्ध आदर्शों की शुद्ध सेवा न हो सकेगी। माया के जाल में फँसने की स्थिति आ बनेगी। अत: सन्तों के स्मारक कार्यों में भी उनकी त्याग वृत्ति पूर्ण प्रतिष्ठित रहनी चाहिए। इसी में उनकी सच्ची सेवा है।

जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरेहि।
सुरसरि हू को को वारि मरत न माँगेउ अर्ध जल ।। (३०५)

चातक ने जीतेजी मेघ को छोड़कर किसी के आगे गरदन नहीं झुकाई और मरते मरते श्री गंगा जी के जल की अर्धजली तक नहीं माँगी।

मरते समय अर्ध शरीर गंगाजल में रहना मोक्षदायक माना गया है। इसे अर्धंजली कहा गया है। यदि मरते समय चातक का आधा शरीर श्री गंगा जी में रहे, परन्तु चोंच बाहर रहे, तो इसमें उसके व्रत का भंग कहाँ है ? व्रत भंग न होगा, मोक्ष भी मिलेगा। तो चातक इस दशा की अभिलाषा क्यों नहीं करता ?

जीवन भर उसने केवल स्वाति के वर्षाजल की प्रतिष्ठा की अन्य जल की नहीं, श्री गंगा जल की भी नहीं। अब मरते समय अर्धजली की अभिलाषा से श्री गंगा जल की प्रतिष्ठा हो जायगी—मोक्ष की लालच में। यह अनन्य निष्ठा के विरुद्ध होगा। अनन्य निष्ठा परलोक में शुभगति या मोक्ष प्राप्ति की स्पृहा से भी प्रभावित नहीं होती। अनन्यता का निर्वाह होना ही चाहिए, मोक्ष मिले या न मिले। यही अनन्य भक्ति का गौरव है।

'भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावद् पिशाची हृदि वर्तते।'
(श्री रूप गोस्वामी कृत 'हरि भक्ति रसामृत सिन्धु')

जब तक भोग या मौक्ष की इच्छा रूपी चुड़ैल हृदय में नाच रहीं है तब तक हरि भक्ति रसामृत का अभ्युदय कैसे हो सकता है?

राउर बदि भल भव दुख दाहू। प्रभु बिनु बादि परम पद लाहू।।
(रा०च०मा०)

राम नाम ही सों योग छेम, नेम प्रेम पन,
सुधा सों भरोसो यह दूसरो जहरु।
(वि०प० २५०)

सुनु रे तुलसीदास, प्यास पपीहहि प्रेम की!
परिहरि चारिउ मास, जो अँचवै जल स्वाति को।।
(३०६)

हे तुलसीदास सुन! पपीहे को जल की प्यास है ही नहीं, प्रेम की ही प्यास है, इसीलिए तो वह वर्षा के चारों महीनों में बरसता हुआ जल नहीं पीता, केवल स्वाति नक्षत्र में ही बर्षा का जल पीता है।

यहाँ श्री गोस्वामी जी आत्म चिन्तन कर रहे हैं, स्वयं अपने से कह रहे हैं, मन में सोच रहे हैं, तत्व की बात अंकित करते हैं, अधिकारी गण ध्यान दें।

चातक 'पी पी' पुकारता रहता है, 'पानी पानी' नहीं। परन्तु मेघ को देखकर हर्षित होता है, उसी का प्रेमी माना जाता है। मेघ को ही वह 'पी, पी' पुकारता है, तो मेघ ही उसका प्रेमास्पद है। मेघ वर्षा का दानी है तो लोगों ने मान लिया वह मेघ से पानी ही माँगता है। परन्तु इस मान्यता का आधार दृढ़ नहीं है।

वैसे भी कभी कभी पानी बरस जाता है, परन्तु भारतवर्ष में वर्षाऋतु के चार महीने होते हैं—आषाढ़, श्रावण भाद्रपद, आश्विन्। इन चार में से भी मध्य के दो मास श्रावण या भाद्रपद तीव्र वर्षा के महीने हैं।

सावन और भादौं यह वर्षा के मुख्य महीने हैं, पर आषाढ़ और आश्विन् भी वर्षा के महीने हैं, इनमें भी वर्षा होती है और वह नगण्य नहीं होती।

आर्द्र का अर्थ है 'गीला', भीगा या नम। जब आर्द्रा नक्षत्र में सूर्य आते हैं (लगभग २२ जून को) तो हवा में नमी बढ़ जाती है। उस समय आषाढ़ मास होता है। नक्षत्रों के हिसाब से वर्षा का आरम्भ आर्द्रा नक्षत्र (में सूर्य के आने) से होता है। सूर्य ३६० दिनों में बारहों राशियों का चक्र पूरा कर लेता है। एक एक राशि में एक मास (३० दिन रहता है) यही ३६० दिन का सौर वर्ष २७ नक्षत्रों में भी बटा है। अतः एक एक नक्षत्र में सूर्य की स्थिति लगभग ३६०/२७ = ४०/३ = १३$\frac{१}{३}$ दिन की होती है। वर्षा के चार महीनों में ९ नक्षत्रों में सूर्य की गति होगी। आर्द्रा से प्रारम्भ करके ९ नक्षत्र इस प्रकार होंगे आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा,

मघा, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा । इस प्रकार स्पष्ट है स्वाति वर्षा के अन्तिम चरण का नक्षत्र है, वह सावन भादों में नहीं आता । विशेष तीव्र वर्षा का नक्षत्र नहीं है ।

यदि चातक सचमुच पानी का प्यासा है, और पानी ही पीना चाहता है, तो यह विडम्बना क्यों कि वर्षा के चारों महीनों में माँगता है पर पानी बरसने पर पीता नहीं, पीता केवल स्वाति नक्षत्र में है । जब वर्षा की घनघोर झड़ी लगती है तो याचक होते हुए भी ग्रहण नहीं करता । वर्षा के अन्त में स्वाति नक्षत्र में ही यदि जल बरसे तो बरसता हुआ जल ही पीता है । यदि प्यास बुझाने का ही प्रयोजन हो, तो यदि बरसता हुआ जल ही ग्राह्य हो, तो जब भी पानी बरसे जल ग्रहण करना चाहिए, स्वाति नक्षत्र का भी बन्धन क्यों ? फिर नक्षत्र भी ऐसा छाँटा गया, जिसमें विशेष जल वृष्टि का योग नहीं होता, बिना वर्षा के भी नक्षत्र का बीत जाना सम्भव है ! ऐसा व्यवहार क्यों कि माँगेंगे पर (प्राय:) ग्रहण नहीं करेंगे ।

व्यवहार-चतुर लोगों की दृष्टि में चातक मूर्ख है । प्यास साल भर लगती है, केवल वर्षाऋतु में ही नहीं लगती । जल सदैव नहीं बरसता । वर्षाऋतु में जो जल बरसता है वह केवल उस ऋतु के लिए नहीं बरसता, वर्ष भर के लिए बरसता है । अत: वर्ष भर भूमि की नमी से, जलाशयों, (कूपों, बावलियों, तालाबों) के जल से सब प्राणी (पेड़, पौधे, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट आदि) अपना काम चलाते हैं । तो चातक ने ही एक कृत्रिम प्रतिबन्ध अपने ऊपर क्यों लगाया ? वर्षाऋतु के अतिरिक्त अन्य समय में उसे प्यासा रखने के लिए तो इतना ही प्रतिबन्ध पर्याप्त था कि वह केवल बरसता हुआ जल पिये, 'पहुमी-नीर' पृथ्वी पर पड़ा हुआ पानी न पिये, परन्तु उससे आगे बढ़कर उसने स्वाति नक्षत्र का भी प्रतिबन्ध लगा लिया । इसका क्या औचित्य है ? यह सब प्रेम निर्वाह का कार्यक्रम

है या आत्म हत्या का? जब सारी बरसात में जलवृष्टि होती है, प्रेमास्पद का ही दिया हुआ जल रहता है, बरसता हुआ भी मिल सकता है, तो फिर उसका ग्रहण क्यों नहीं होता ?

भौतिक संसार में चातक पक्षी के जीवन में यह सब होता है या नहीं, इसका जीव विज्ञान के अनुसार अनुसंधान आवश्यक नहीं। चातक छत्तीसी का चातक प्रेम के एक आदर्श का प्रतीक है, चातक के विशद रूपक द्वारा सन्तों की रहनि की विशेषताएँ कुशलतापूर्वक प्रदर्शित की गई हैं। अतः चातक वृत्ति पर उठी हुई आपत्तियाँ वस्तुत: सन्त जीवन पर घटित होंगी और उसी जीवन में उन आपत्तियों का उत्तर मिलेगा और इसी अनुसंधान में सन्त जीवन के रहस्य खुलेंगे।

अर्थ व्यवस्था दो प्रकार की हो सकती है, परिग्रहमूलक, अपरिग्रह मूलक। सभी देशों में परिग्रहमूलक अर्थ व्यवस्था व्याप्त है। यह मान्यता व्याप्त है कि परिग्रह के बिना काम नहीं चल सकता। आज की सभ्यता परिग्रह के साथ ताने बाने की तरह जुड़ी है। परन्तु परिग्रही अर्थ व्यवस्था के अनर्थं आज विश्व के सामने हैं, विचारक उनसे भयभीत हैं। इस विषय का विशद विवेचन यहाँ प्रासंगिक न होगा।

सन्तों का जीवन अपरिग्रहमूलक है। अपरिग्रह सिद्ध होने से प्राकृतिक विधान द्वारा ही उनकी आवश्यकताओं की सहज पूर्ति समय समय पर होती रहती है। (योगसूत्र) देखने वालों को यह बड़ा चमत्कारिक मालूम होता है, जबकि हमारा यह भाव परिग्रही अर्थं व्यवस्था का दिया हुआ संस्कार मात्र है।

ऐसे आदिम समाज मिलेंगे जिनमें परिग्रह नगण्य हैं। साम्यवादियों का आदर्श समाज व्यक्तिगत परिग्रह से प्रायः रहित होगा। राज्य या समाज परिग्रह करेगा, व्यक्ति का योग क्षेम वहन करेगा। मनुष्येतर

प्राणियों के जीवन में प्राय: अपरिग्रह ही रहता है। वहुत से प्राणी परिग्रह कर ही नहीं सकते, फिर उनका जीवन यापन कैसे होता है? बड़े बड़े दीर्घजीवी प्राणी हैं, जो अपरिग्रही हैं, वह उनकी विवशता है, विशेषता नहीं, परन्तु जीवन-यापन या दीर्घ जीवन कैसे सम्भव होता है? जिस पेड़ के नीचे बुद्ध को वोध हुआ वह अभी तक कैसे जीवित है? ढाई हजार वर्ष से अधिक समय तक जीवन यापन कैसे सम्भव हुआ? यही असंख्य जीवों का हाल है। तो फिर क्या जिस तरह अपरिग्रह वृक्ष की विवशता है, वैसे ही परिग्रह मनुष्य की विवशता है? कदापि नहीं। यह आदत हो सकती है, परम्परा हो सकती है, एक प्रकार की विशेषता बन गई है, पर विवशता नहीं है। सन्त जीवन इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

श्री अयोध्या जी में एक वहुत ऊँचे राजयोगी सन्त थे, वे अपने उत्तराधिकारी शिष्य को पाँच आज्ञाएँ दे गए हैं, उनमें से तीन यह हैं—कोई आश्रम के लिए भूमि दान में दे तो नहीं लेना, कोई पैसा दे जाय तो रात तक तुम्हारे पास न रह जाय, मरते समय कफ़न का पैसा पास न निकले। शिष्य सन् १९८३ में ८५ वर्ष से अधिक आयु भोगकर जीवित हैं, आश्रम भी भली भाँति चल रहा है। परिग्रह की विवशता कहाँ गई? म० गांधी ने अपरिग्रह का निर्वाह भी किया, स्वराज्य का आन्दोलन भी चलाया। अत: अपरिग्रह की अशक्यता का भ्रम त्याग देना चाहिए।

सभी जलाशयों का जल ग्रहण करना परिग्रहमूलक अर्थ व्यवस्था का आश्रय है। बरसते हूए जल पर ही गुजर करना—यथा लाभ सन्तोष सदाई। (रा०च०मा०) दैवाल्लब्धेन सन्तोष:। (श्रीमद्भागवत) यह आकाशवृत्ति है, अपरिग्रहपूर्वक जीवन यापन। चातक सग्रही नहीं, है, संग्रहीत पर आश्रित नहीं हैं, अपरिग्रही है, वैसे ही सन्त अपरिग्रही हैं।

निम्न प्राणियों के अपरिग्रह में विवशता है, सन्त के अपरिग्रह में विवेक है। थोड़ा सा विवेक निम्न प्राणी भी प्राय: बरतते हैं, जैसे बीमार होने पर, भोजन प्राप्त हो तो भी ग्रहण न करना, विषाक्त भोजन या जल का त्याग। परन्तु सन्त का विवेक इससे कहीं आगे तक जाता है। वस्तु दोष, स्पर्श दोष, भाव दोष आदि का विचार चलता है, चाहे वह हर एक पर प्रकट न हो। जो वस्तु अपने नियम, साधन, संयम स्वास्थ्य आदि के अनुकूल नहीं वह ग्रहण नहीं की जाती। जैसे खद्दर का नियम लेने वाले सन्त मिल का कपड़ा ग्रहण नहीं करेंगे, शाकाहार के नियम के विरुद्ध मांसाहार ग्रहण नहीं करेंगे। झोपड़ी निवास का नियम हो तो रात्रि को महल में नहीं रुकेंगे। शुद्ध कमाई का दान न हो, तो उसे ग्रहण करना बरतना पसन्द नहीं करेंगी। उच्छिष्ट, बासी, गन्दा, व्याधि संक्रमणकारी भोजन का त्याग करेंगे। अशुभ कामनाओं प्रयोजनों, भावों से दिया हुआ द्रव्य या आहार स्वीकार नहीं करेंगे। स्वीकार न करने का एक सौम्य मार्ग यह है कि ले लेना पर अपने काम में न लाना, दूसरे के काम में प्रयुक्त करना। जैसे हम लोग सब बासी भोजन कभी किसी पशु को दे देते हैं।

इस प्रकार आकाशवृत्ति के अतिरिक्त अन्य विवेकमूलक प्रतिबन्ध सन्त के जीवन में रहते हैं। साधारण सांसारिक व्यक्ति यह सब सुनकर ही घबराता है कि इन प्रतिबन्धों के साथ योग क्षेम कैसे चलेगा? परन्तु सन्त के जीवन में यह सब चलता है। यह सब अनन्य भक्ति का ज्वलन्त चमत्कार है, और योग क्षेमं वहाम्यहम् (गीता ९.२२) का पुष्ट प्रमाण है, सन्त अनन्य भक्ति का निर्वाह करते हैं, भगवान् उनके योगक्षेम का निर्वाह करते हैं। प्रेम का यह एक दिव्य सम्बन्ध है।

इस रहस्य को समझने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चातक पानी का प्यासा है ही नहीं, प्रेम का प्यासा है, सन्त पदार्थों की आवश्यकता मिटा चुके हैं, केवल दिव्य प्रेम के याचक हैं—

दिव्यं भक्ति प्रयच्छ मे, नान्यं वस्तु कदाचन ।
जाँचै बारह मास, पियै पपीहा स्वाति जल ।
जान्यों तुलसीदास, जोगवत नेही नेह मन ।।
(३०७)

चातक बारहों महीने जल की याचना करता है, परन्तु केवल स्वाति नक्षत्र का जल पीता है । इससे श्री गोस्वामी जी यह समझ गए कि प्रेमी चातक स्नेही मेघ का मन रखने के लिए स्वाति नक्षत्र में जल ग्रहण कर लेता है, प्यास बुझाने की विवशता या प्रयोजन है ही नहीं । वर्ष भर की याचना भी प्रेमास्पद का मन रखने के लिए है ।

पिछले सोरठे से आगे बढ़कर गोस्वामी जी कहते हैं कि चातक की याचना बारहों मास चलती है (केवल वर्षाॠतु के महीनों तक भी सीमित नहीं है ।) परन्तु सत्ताइस नक्षत्रों में से केवल एक स्वाति नक्षत्र की वर्षा का ही जल वह पीता है । इससे सिद्ध हो जाता है कि वस्तुत: उसका काम चलेगा यदि स्वाति नक्षत्र में वर्षा का भी जल न पिये । फिर वह उसे भी क्यों नहीं छोड़ देता ?

इसी शका का समाधान इस सोरठे में है । सचमुच सन्त मुक्त हैं, देह बन्धन से मुक्त हैं, माया के बन्धन से मुक्त हैं, न उनकी कोई आवश्यकता है, न अभाव है । तथापि प्रेम के नाते सदा सर्वदा भिखारी हैं, माँगते ही रहते हैं । यदि सन्त भगवान् से यह कहें कि हमें आपसे कुछ लेना देना नहीं है तो क्या यह प्रेम का सूचक होगा ? कभी कुछ न माँगना और न लेना यह प्रेम सूचक नहीं ।

सारी दुनियाँ भगवान् पर निर्भर है, भले ही इसका ठीक ठीक ज्ञान उसे न हो । सन्त तो अनन्य गति से, सचेत होकर, पूर्णत: शरण प्रपन्न हैं, अत: भगवदाश्रय ही नही संरक्षण की भी उनकी चेतना पूर्ण है ।

अतः वे भिखारी की ही भूमिका में हैं। हाँ! ग़ैरियत के साथ नहीं—'हम तुम्हारे तुम हमारे हो चुके' की भावना के साथ।

सदैव भगवान् की याद करते रहना यही भिक्षा है। रट पी पी की है, पानी की नही, प्यारे प्रभु की तलब है पदार्थों की नही। परन्तु पुकार का प्रयोजन होना चाहिए इसलिए याचना है, उत्कंठा और उत्सुकता है।

पलटू सनकारत रहै, पिय को छिन छिन माहिं।
काजर दै के का भयो, जो चितवन को ढब नाहिं॥

जब सन्त इस प्रकार प्रेम के नाते भिखारी हैं, गरीबी के नाते नही, जैसे प्रह्लाद भगवान् के अकाम भक्त थे पर भगवान् की बात रखने के लिए वरदान माँगा. उसी तरह सन्त भी भगवान् की प्रसन्नता के लिए माँगते भी हैं, लेते भी हैं। 'राम निछावरि लेन हित हठि होंहि भिखारी।'

यदि कुछ न माँगे तो प्रेम व्यवहार कैसे चले, यदि कभी कुछ न लें तो माँगना सार्थक न हो, देने वाले को खुशी कैसे हो। अतः सदैव माँगते हैं पूर्ण काम हैं अतः लेना नही है पर प्रेमास्पद प्रभु की रुचि रखने के लिए ले लेते हैं। इस प्रकार भगवान के स्नेह भरे मन का आदर करते हैं और अपने प्रेम को बढ़ाते हैं।

श्री भगवान् ने जब नरसी मेहता जी की हुण्डी सकारी (स्वीकार की) तो जवाब में पत्र लिखा कि ऐसा व्यवहार बनाए रखियो जी। इस प्रकार प्रेम में व्यवहार बन्द नहीं होता, प्रेममय व्यवहार होता है।

तुलसी के मत चातकहि, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जान जग, जाँचत बारह मास॥

(३०८)

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि हमारी सम्मति में चातक को प्रेम की ही प्यास है, जल की नही, क्योंकि वह बारहों महीने माँगता है पर सारा संसार जानता है कि वह स्वाति नक्षत्र का ही जल पीता है, वह भी बरसा हुआ, 'पहुमी-नीर' नहीं।

यहाँ पूर्व के दो सोरठों के प्रकाश में स्पष्ट घोषित कर दिया है कि चातक को प्रेम तृषा ही है, जल की तृषा नही, क्योंकि तृषा के नाम पर बारहों महीने याचना करता है पर तृषा बुझाता नही, वर्षा होने पर भी स्वाति के अतिरिक्त जल ग्रहण नहीं करता।

यहाँ सन्तों की महिमा स्पष्ट घोषित की गई है, सच्चे सन्त न भिखमगे हैं, न परोपजीवी हैं, न समाज पर बोझ हैं, वे भगवान् पर भी भी बोझ नही हैं। भगवान् योग क्षेम वहन करते हैं, परन्तु वह भार वहन (बोझा ढोने) के समान नही है। अविवेकी लोग इसे समझें या न समझें परन्तु सच्चे सन्त समाज के लिए भी और भगवान् के लिए भी हार (माला) के रूप हैं, भार (बोझ) रूप नही।

आल बाल मुकुता हलनि, हिय सनेह तरु मूल।
होइ हेतु चित चातकहिं, स्वाति सलिल अनुकूल ।। (३०९)

चातक के हृदय में मोतियों का एक थाला बना हुआ है, उसमें प्रेम का वृक्ष लगा है, उस वृक्ष के लिए स्वाति नक्षत्र का जल मगलकारी हो।

इस दोहे में एक प्रकार से चातक छत्तीसी का उपसंहार और आशीर्वाद है, यद्यपि तीन दोहे और भी लिखे गए हैं।

चातक का लगाव मेघ से तो है ही परन्तु स्वाति नक्षत्र से भी उसका लगाव प्रसिद्ध है। चातक का प्रेम रूपी वृक्ष स्वाति के जल से सिंचित होकर ही बढ़ता है।

श्री गोस्वामी जी ने चासक की हृदयगत प्रेम की आदर्श स्थिति का प्रभावशाली चित्रण किया है, वृक्ष के रूपक के सहारे। चातक के हृदय में प्रेम का एक वृक्ष है। वह कैसा है? उसकी शान कैसी है? उसका पोषण कैसे होता है?

कहते हैं कि जब स्वाति का बूंद सीपी में चला जाता है तो वह मोती बन जाता है। कल्पना कीजिए कि ऐसे बहुत से मोती एकत्र किए गए। फिर उन्हीं मोतियों का (गजमुक्ताओं का नहीं) एक थाला बनाया गया। चातक के हृदय का सनेह तरु (प्रेम वृक्ष) इसी थाले में रोपा हुआ हुआ है। अब उस प्रेम वृक्ष को सींचने और पुष्ट करने के लिए साधारण जल नहीं चाहिए, उसके लिए 'स्वाति सलिल' ही अनुकूल होगा। श्री गोस्वामी जी का आशीर्वाद है कि चातक के हृदय के प्रेम वृक्ष के लिए स्वाति का सलिल खूब मिले, मंगलदायक हो, उस सिंचाई से वह प्रेम वृक्ष बढे और पुष्ट हो।

इस कठिन कलिकाल में भी एक से एक शुद्ध सन्त हो गए हैं और हैं। उनके हृदय में भगवान् के प्रेम का अंकुर जमा, फिर वह विकसित वृक्ष हो गया। पहले वृक्ष को थाले की आवश्यकता होती है जिससे वह सुरक्षित रहे, नष्ट न हो जाय, पशु उसे चर न जायँ। चातक के हृदय में प्रेम के पौधे के लिए मोतियों का थाला है। सन्त को साधन की या जीवन की प्रथम अवस्था में संरक्षण चाहिए। ऐसा अनुकूल वातावरण चाहिए जिसमें अध्यात्म का विकास हो सके। हृदय में भगवान् का प्रेम वृक्ष बढ़े, हरा भरा रहे और दृढ़ हो, इसके लिए सिंचाई (भाव पोषण) भी चाहिए। यह पोषण अर्थात् 'पुष्टि' भगवान् ही की देन है। 'पोषणं तदनुग्रहः।' भगवान् की कृपा ही पुष्टि है। श्रीवल्लभाचार्य जी महाराज का पुष्टि मार्ग है, इसके अनुसार हम शरणागत हो जायँ तो मोक्षदायक भाव की पुष्टि भगवान् करते हैं। श्री रामानुचार्य महाराज ने मर्यादा मार्ग

से अनुग्रह मार्ग को पसन्द किया। श्री भगवान् का अनुग्रह ही पोषण है, यही प्रेम को दृढ़ करता है। यही 'स्वाति सलिल' से सिंचन है जो कि 'सनेह तरु' को पुष्ट करता हैं।

सन्त सदैव दिव्य प्रेम चाहते हैं, कोई और वस्तु नहीं चाहते। भगवत्प्रीति ही उनका एक मात्र जीवन प्रयोजन है। भगवान् की अद्भुत दिव्य लीला होती रहती है जिससे प्रेम रूपी वृक्ष की सिंचाई और पुष्टि होती रहती है। श्री गोस्वामी जी जैसे सन्त यही आशीर्वाद देते हैं कि प्रेम रूपी वृक्ष खूब फले फूले, उसे खूब स्वाति की वर्षा का जल मिले और वह दृढ़ होता जाय। यह प्रेम साधना सफल होती जाय। यह प्रेम साधना सफल हो, यशस्विनी हो, क्योंकि सन्त शुद्ध प्रेम के ही याचक और पोषक हैं।

उष्ण काल अरु देह खिन, मग पंथी त न ऊख।
चातक बतियाँ ना रुची, अन जल सींचे रूख॥
(३१०)

गर्मी के दिन थे, देह क्षीण हो गई थी, अथवा खिन्न (श्रमित) हो गई थी। आराम की आवश्यकता थी। कुछ भी चातक के दृष्टि पथगामी हुए। क्या चातक उनकी छाया में थोड़ी देर विश्राम करके तब आगे बढ़े? अथवा वह उड़ता चला जाय? चातक को ऐसी विश्राम सम्बन्धी कल्पनाएँ अच्छी नहीं लगीं। क्योंकि वृक्ष अन्य जल के सींचे हुए थे।

अन्य जल से सिंचित व पुष्ट हुए वृक्षों की छाया में विश्राम करने का विचार अनन्य निष्ठा से बेमेल है। यदि कोई अन्य आश्रय को स्वीकार करके बलिष्ठ और सम्पन्न हुआ है, और हम विपत्ति में,

आपत्काल में, उसका आश्रय लें, तो यह अनन्य निष्ठा के प्रतिकूल होगा, अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता, अन्य आश्रय का त्याग ही अनन्यता है। अतः अन्य आश्रय से पुष्ट हुए व्यक्ति का सहारा लेना चातक वृत्ति के विरुद्ध है।

देखने में असम्भव बात कहकर एक सिद्धान्त का निर्देश श्री गोस्वामी जी ने किया है। सिद्धान्त यह है कि विरोधी आश्रय के ग्रहण से निष्ठा निर्बल होती है और साध्य (लक्ष्य) की प्राप्ति में सच्ची सहायता नहीं मिलती। व्यावहारिक सुविधा के फेर में पड़कर निष्ठा को शिथिल करना वस्तुतः माया में फँसकर लक्ष्य से अलग पड़ जाना है। साधक के जीवन में बार बार ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जिनमें यह आभास होता है कि निष्ठा को शिथिल करने से कार्य सम्पादन में वृद्धि या सिद्धि होगी। अधिकाँश साधक निष्ठा पर डटे नहीं रह पाते।

यदि राणा प्रताप अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेते तो अपार कष्टों का अन्त होता, मेवाड़ का राज्य भी शान से करते और उस राज्य को दृढ़ करते। अंग्रेज़ी राज्य के समय में देशी रियासतों ने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए व सुख सुविधा बनाए रखने के लिए, सहायक सन्धि योजना स्वीकार की। यद्यपि इससे सैकड़ों रियासतें नाम मात्र के लिए स्वराज्य के समय तक कायम रह गईं, परन्तु उनकी अपनी आज़ादी और देश की आज़ादी के लिए सचमुच यह घातक योजना सिद्ध हुई।

थोड़ा सा फिसल जाइये, बहुत सी सम्पदा, सुख, सुविधा लीजिये। ऐसी बात के पीछे लक्ष्य-भ्रष्ट करने की योजना रहती ही हैं। कहने को तो यह भी कहा जा सकता है कि बलिदानी देशभक्त या धर्मभक्त यदि अपनी जान बचा लेते तो न मालूम क्या क्या सेवा कर्म करते। परन्तु क्रान्तिकारी लोग तो कुछ और ही गाते थे—

सर फ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में हैं ।
देखना है ज़ोर कितना बाजुए क़ातिल में है ।।

(बिस्मिल)

सूख जाए न कहीं पौदा ये आज़ादी का ।
खून से अपने इसे इसलिए तर करते हैं ।।
खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं।

जिसकी निष्ठा जितनी पक्की है, वह तप को उतना ही अधिक महत्व देता है, भौतिक साधनों को नहीं । निष्ठा का वैपरीत्य उसे सहन नहीं, उस मार्ग से लक्ष्य सुलभ होगा या प्राप्त होगा यह लालच उसे नहीं होती ।

अनन्य निष्ठा के निर्वाह का अपना अनुपम परिणाम है, सावधान सन्त उस निष्ठा को वाह्य परिणामों के प्रलोभन में पड़कर कभी नहीं बिगाड़ते ।

अगले दोहे में इसी सिद्धान्त की स्पष्ट घोषणा है ।

अन जल सींचे रूख की, छाया ते बरु धाम ।
तुलसी चातक बहुत हैं, यह प्रवीन को काम ।।

(३११)

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि यों तो चातक बहुत हैं, परन्तु इस धारणा को रखना किसी प्रवीन चातक का ही काम है कि अन्य जल से सींचे हुए वृक्ष की छाया से घाम ही अच्छा ।

यदि चातक के रूपक के आवरण में जो संकेत पूज्यवाद गोस्वामी जी ने दिया है उसे स्पष्ट रूप से सन्तों के जीवन पर घटित करते हुए ग्रहण करें तो सिद्धान्त विचार इस प्रकार होगा—

सन्त बहुत से हैं जो भगवदीय आश्रय के व्रती हैं, वे सब आकाश वृत्ति रखते हैं, परन्तु उनकी निष्ठा में यह आवश्यक नहीं कि अयाचित आये हुए दान में भी ग्राह्य और त्याज्य (ग्रहण और त्याग के योग्य) दान का विवेक रक्खें। प्राय: भगवदाश्रय का प्रमाण यही माना जाता है कि वे द्रव्य अर्जित नहीं करते, दान पर गुज़र करते हैं।

यदि कोई सन्त स्वयं पाप नहीं करते, हिंसा नहीं करते, झूठ नहीं बोलते, स्वार्थी जीवन नहीं बिताते, परन्तु ऐसा करके धनार्जन करने वालों का दान खुशी से ले लेते हैं, तो सूक्ष्म दृष्टि से निष्ठा का विघात होता है। जिसका दान आप स्वीकार करते हैं, उसके धनार्जन की विधि का मनुमोदन उसी में आ जाता है। ब्रह्मचर्य प्रचारिणी सभा वेश्या के दान पर चले, यह उचित नहीं है। यदि आप नास्तिक से दान लेकर उससे आस्तिकता का प्रचार करना चाहें तो आप धोखे में हैं। जिन्होंने येन केन प्रकारेण धन का अर्जन और संचय किया, वे दान में समर्थ हैं, बल्कि कई बार तो उन्हें अपने अशुभ अर्जन के पाप, दोष, अपयश आदि को मिटाने के लिए दान देने की विवशता भी रहती है। ऐसे लोगों से खूब दान लेकर आप नैतिक मूल्यों का प्रचार प्रसार कर सकेंगे या अपने जीवन में वैराग्य को दृढ़ कर सकेंगे, इसकी आशा न कीजिये।

बहुत से मांसाहारी स्वय पशु को मार नहीं सकते, परन्तु बाजार मे क्रय करके मांस लाकर खा सकते हैं। इसी प्रकार यदि आप बेईमानी नहीं कर सकते परन्तु बेईमानी की कमाई दान में आवे तो उसका प्रयोग कर सकते हैं, तो आपकी निष्ठा बलवती नहीं कही जा सकती। विचार-

वान् लोग यह स्वीकार करेंगे कि अशुभ मार्ग से धनार्जन करने वाले भगवदाश्रयी नहीं कहे जा सकते, मायाश्रयी ही हैं। यदि आप किसी प्रकार, प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से उनके आश्रित हो गए, तो फिर आप सच्चे भगवदाश्रयी नहीं रहे। वैराग्य निरूपण में धनिकों का आश्रय प्रशस्त नहीं माना गया है—

सहन्ते सतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः।
(भोज प्रबन्ध)

कस्माद्‌भजन्ति कवयो धन दुर्मदान्धान।
(श्रीमद्‌भागवत २.२.५)

सूरदास जी कहते हैं—

तजो रे मन हरि विमुखन को संग।

जो हरि विमुख हैं, हरि आज्ञा को भंग करने वाले हैं, उनका संग प्रशस्त नहीं। दुसंगः सर्वथैव त्याज्यः (ना०भ०सू०), उन लोगों के आश्रय को पकड़ने से भगवन्निष्ठा शिथिल होगी, मानव आश्रय आएगा, अनन्य निष्ठा शिथिल होगी।

अतः सब सन्त तो नहीं, परन्तु विशेष विवेक प्रवीण सन्त इन बातों का बड़ा विचार रखते हैं, किसी प्रकार के भी दान पर गुजर करना पर्याप्त नहीं समझते। मर्यादानिधान श्री गोस्वामी जी प्रवीण सन्त की रहनि बताते हैं, इसकी आलोचना नहीं करते कि सब सन्त इसी प्रकार का नियम निर्वाह नहीं करते।

एक अंग जो सनेहता, निसि दिन चातक नेह।
तुलसी जासों हित लगै, वहि अहार वहि देह॥ (३१२)

जिसका प्रेम चातक की तरह एकांगी और अखण्ड (निसि वासर सक्रिय) है, उसका परम प्रिय प्रेमास्पद ही उसके लिए आहार स्वरूप व देह स्वरूप हो जाता है।

यह चातक छत्तीसी का अन्तिम दोहा है। इसमें अनन्य प्रेम का पर्यवसान प्रदर्शित किया गया है। अन्तिम या उच्चतम दशा क्या होती है यह बताया गया है।

अनन्यता के भी सोपान हैं। अनन्यता से पहले के सोपान हैं, कि १–औरों से तो सम्बन्ध है ही, उनका आश्रय भी है, परन्तु जहाँ उन सम्बन्धों से काम नही चलता वहाँ भगवान् भी पुकारे जाते हैं, उनका सहारा भी पकड़ा जाता है। जैसे रोगी के स्नेही सम्बन्धी उसकी सेवा कर सकते हैं पर रोग निवृत्त नही कर सकते, उसके लिए डाक्टर बुलाया जाता है। रोगी अच्छा हो जाय तो डाक्टर से सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं, जान पहचान मात्र रह जाती है। उसी डाक्टर की भूमिका में भगवान् रक्खे जाते हैं। इससे आगे का सोपान है जिसमें भगवान् से गरज पूरी होने पर सम्बन्ध समाप्त नहीं होता, बराबर बना रहता है। दूसरों का भी सहारा है, भगवान् का भी, जैसी स्थिति हो वैसा बरताव, वैसी याचना। इससे ऊँचा वह सोपान है जहाँ यह अनुभव रहता है कि जगन्नियन्ता बहुतों में से एक नहीं हो सकता। उसका सहारा लें तो वही मुख्य आधार होना चाहिए। अन्य सहारे उसके आगे क्षुद्र ही हैं, समकक्ष (बराबर) नहीं हो सकते। दूसरों का सहारा लेने की विवशता है, भगवान् का सहारा ही बड़ा है, मुख्य है। पहले तो दुनियाँ का सहारा पूरा नहीं पड़ता तब भगवान् का सहारा लिया जाता है, फिर भगवान् के ही सहारे रहने से काम नहीं चलता तब दुनियाँ का सहारा भी लिया जाता है। भाग्योदय हुआ मानना चाहिए जब यह अनुभव हो जाय कि

यह जो भगवान् का सहारा पूरा नहीं पड़ता इसमें करुणा सिन्धु की कृपा की कमी नहीं है, अपनी अयोग्यता, अपात्रता है--

झोली ही अपनी तंग थी, उसके यहाँ कमी नहीं।
जो माँगने का तरीका है उस तरह माँगो।
दरे करीम बन्दे को क्या नहीं मिलता ।।
जाइ निकट पहिचानि तरु, छाहँ समनि सब सोच।
माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच ।।
(रा०च०मा०)

जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिश्वास तजहु जनि भोरे ।।
(रा०च०मा०)

यदि भगवान् का सहारा एक के लिए पूरा नहीं पड़ता तो वह अन्यान्य सन्तों का कल्पवृक्ष कैसे बना हुआ है? उनके लिए कसर क्यों नहीं? उनके लिए भगवान् क्यों सब कुछ करता हुआ दिखाई पड़ रहा है? मूर्ख तो भगवान् को भी पक्षपातग्रस्त मान लेता है परन्तु यह तो सोचना ही पड़ेगा कि इस आरोपित पक्षपात का कारण क्या है? कारण अनुसंधान करने पर श्रेष्ठ भक्ति भाव ही निकलेगा।

भगवान् के यहाँ तीन प्रकार की व्यवस्था है—प्रारब्ध, योगक्षेम वहन की विशेष व्यवस्था और अभिन्न एक रूप हो चुके सन्तों के लिए दिव्य व्यवस्था।

प्रारब्ध व्यवस्था में कर्मों के परिपाकानुसार फल प्राप्त होता है, कष्ट में पड़े हुए व्यक्ति का या देशभक्त का या करुणा प्रेरित सन्त का भगवान् को सच्चे दिल से पुकारना भी एक महान् शुभ कर्म है। इसी तरह पूजा पाठ, तन्त्र मन्त्र, आदि करना कराना भी शुभ कर्म है, तीव्र

भावना से किया हुआ कर्म शीघ्र फलित हो सकता है। यह सब प्रारब्ध व्यवस्था है। साधारण व्यक्ति की यहीं तक गति है।

जिसने अनन्य भाव से भगवान् की शरण ग्रहण की और भक्ति की वह साधारण व्यक्ति की तरह अपने योग क्षेम का प्रबन्ध सँभालने के लिए खाली नहीं रह जाता परन्तु इससे अनन्य भक्त की व्यवस्था बिगड़ने नहीं पाती। वह चलती ही रहती है। कुछ सीमा तक तो यह इसलिए भी होता है कि दु:ख की तरह सुख भी प्रारब्धवश मिलता ही है, रुकता नहीं है, अत: जो उसके लिए व्यग्र होकर यत्न नहीं करता उसे भी मिलता ही है। परन्तु पूरी बात इतनी ही नहीं है। भगवान् की विशेष व्यवस्था है कि प्रारब्ध जनित अभाव को यह अवसर नहीं दिया जायगा कि अनन्य भक्ति को बिगाड़े।

जैसे एक गायनाचार्य है, प्रारब्धवश अति निर्धन है, ठीक से खाने को नहीं मिलता। संगीत में निपुणता है। किसी महोत्सव में या सम्पन्न व्यक्ति, अधिकारी या राजा की सभा में गाने के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। फ़ीस पारिश्रमिक, अनुतोष आदि कोई शर्त नही रक्खी। बिल्कुल मुफ्त में कार्यक्रम स्वीकार किया। परन्तु कार्यक्रम के दिनों में अन्य महान् कलाकारों के समान उनका भी सत्कार किया गया। वह सत्कार ऊँचे स्तर का ही था। तो महोत्सव के दिनों में एक प्रकार से प्रारब्धजनित निर्धनता जारी रहते हुए भी स्थगित रही। यदि गायनाचार्य जी को बराबर ऐसे कार्यक्रम मिलते रहें तो उनकी निर्धनता कहाँ रहेगी। यह भी सम्भव है कि इन कारणों से पारिवारिक निर्धनता भी कम हो जाय। इस प्रकार अशुभ प्रारब्ध निरस्त न हो तो भी अतिक्रमित या अप्रभावी हो सकता है।

अनन्य भक्त भगवान् के निष्काम भक्त हैं, उनका पारिश्रमिक, अनुतोष, पारितोषिक आदि कुछ भी नही है। एकदम 'बिनमोल बिकाउँ'

(वि॰प॰) वाली बात है। परन्तु भगवान् की शान के खिलाफ होगा कि वे भूखे रह जायँ या अभावग्रस्त और पीड़ित रहें। अतः यह कैसे हो सकता है, किऐ से अनन्य भक्तों को साधारण सुविधाएँ न मिलें शरीर यात्रा न चले, योग क्षेम न चले। अत: इस योग क्षेम की विशेष व्यवस्था के अन्तर्गगत उनका काम चलता रहता है।

भगवान् की अनन्य भक्ति स्थाई होती है, अत: यह योगक्षेम वहन भी सदा चलता रहता है।

साधारणतः यह सब इतनी सौम्य रीति से होता है कि मामूली लोग इसे जान समझ नहीं सकते। कभी कभी तो लाभान्वित व्यक्ति भी इसे नहीं ज़ान पाता। परन्तु कभी कभी विशेष परिस्थिति आ जाती है, जब योग क्षेम के चलने के साधारण उपाय व्यर्थ होने लगते हैं, तब भगवान् का विशेष प्रवन्ध चमत्कारिक ढँग से प्रकट होता है। तब वह बहुतों की दृष्टि में आ जाता है और मान लेने की विवशता हो जाती है। जैसे भगवान् गोपीनाथ जी का खीर प्रसाद चुराकर रखना और पुजारी को आज्ञा देकर भक्त के पास भिजवाना।

एक भक्त थे, वे दुलहेराम जी के उपासक थे। जहाँ कहीं विवाह होता वे पहुँच जाते और प्रत्येक दुलहे को राम रूप जानकर पूजा करते। एक बार उनके घर में उनकी लड़की की शादी के लिए कुछ आभूषणों का प्रबन्ध किया गया था। वे सब आभूषण समय से पूर्व किसी अन्य दुलहे राम जी को समर्पित कर आए। इससे घर में लड़की की शादी के लिए एक संकट उत्पन्न हो गया। फिर से आभूषण जुटाने क शक्ति नही थी। एक दिन उनकी अनुपस्थिति में एक सज्जन उनके घर पधारे। वे बोले 'भगत जी एक दुकान पर आभूषण खरीद रहे हैं, उन्होंने गहने दिखाने के लिए भेजे हैं कि यह बिल्कुल उन्ही आभूषणों की तरह हैं

या नहीं, जो चले गये थे। यदि हों, तो रख लीजिये, उन्होंने खरीद लिए। घर वालों ने प्रमाणित किया कि गहनें उतने ही और वैसे ही हैं। अतः रख लिए गए। भगत जी के आने पर पता चला कि उन्होंने कोई आभूषण नहीं खरीदे, न दिखाने के लिए भेजे।

एक सन्त गृहस्थ थे। श्री राम नाम के अत्यन्त प्रेमी थे, आमतौर से सन्त माने नहीं जाते थे। गुप्त और अमानी थे। एक विवाह में घर के सब लोग जाने वाले थे। इनका अलग से जाने का कार्यक्रम था। इन्हें एक कीमती वस्त्राभूषणों का बक्सा अपने साथ ले जाने को कहा गया। रास्ते में गाड़ी बदलना था। ये प्लेटफार्म पर बैठे थे। दूसरी गाड़ी के लिए पर्याप्त समयान्तर था। वहाँ से श्री गंगा जी निकट थीं। सोचा कि दर्शन स्नान हो जाय। चले गए। बक्सा स्टेशन पर ही रह गया। स्नानादि के बाद याद आया कि बक्सा तो प्लेटफार्म पर ही छूट गया। वहाँ पहुँचने पर मिला नहीं। सन्त इस उधेड़बुन में पड़े कि अब शादी में जायँ या घर लौट जायँ। मन में आया कि नुकसान हो गया तो भी शादी में जाना चाहिए और समाचार बताना ही चाहिए, लोगों की नाराज़गी झेलना चाहिए। वे गए। पहुँचते ही विचित्र फटकार मिली। आप कैसे अनुत्तरदायी आदमी हैं ? ऐसे कीमती सामान का बक्सा अपने साथ न रखकर अनजाने आदमी के हाथ भेज दिया। वह अगर न पहुँचाता तो क्या होता ? इस फटकार से पता चला कि बक्सा उनसे पहले पहुँच गया था और सामान सब ठीक था। उन्होने किसी के हाथ नहीं भेजा था।

एक सन्त गृहस्थाश्रमी पण्डित हैं। उन्हें कुछ कर्ज अदा करना था, उसकी उन्हें चिन्ता थी। वे एक दूसरे नगर में थे। वहाँ महाजन की चिट्ठी आ गई कि कर्ज की पूरी रकम मिल गई अतः

सूचना दी जाती है। वापस जाने पर यह पता नहीं चल सका कि रुपया कौन दे आया।

इस प्रकार कभी कभी भगवान् की योग क्षेम वाली विशेष व्यवस्था तीव्रता के साथ सामने आ जाती है। तब बहुत से लोगों को उसका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है।

इस विशेष योग क्षेम वहन व्यवस्था से भी भिन्न और दिव्य है अद्वैत की दशा, भगवान् में इतना तन्मय हो जाना कि कुछ अलगाव न रहे, इस दशा में योग क्षेम का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है, जैसे भगवान् के लिए अपने योग क्षेम की कोई धमस्या नहीं है, वैसे ही ऐसे सन्तों के लिए नहीं है। तत्वत: ज्ञान दृष्टि से नही है, अज्ञानियों की दृष्टि में बिल्कुल है। सूफ़ी शब्दावली में ऐसे सन्तों को 'मज्ज़ूब' कह सकते हैं।

'तन्मम दशा वाले'। लोक दृष्टि से वे भी खाते पीते हैं, शरीर यात्रा चलती है, परन्तु वे किसी और ही दुनियाँ में रहते हैं, वहाँ वे भगवान् के साथ एक हैं। उस तन्मयता की दृष्टि से ही कहा गया है कि भगवान् ही उनका आहार है, वही उनकी देह हैं। श्री वैराग्ग संदीपनी में भी छन्द २८ में कहा है, 'ते जन प्रगट राम की देहा।'

श्री वैराग्य संदीपनी के छन्द १५ को मूत्र सयझना चाहिए श्री दोहावली के दोहा २७७-३१२ को उस पर भाष्य समझना चाहिए। वै०सं० १५ व दोहा८ २७७ में केवल तीसरे चरण में पाठ भेद है।

सन्तों की रहनि का सारा रहस्य श्री वै० सं० १५ में समाविष्ट मानना चाहिए।

———

सो जन जहान है जाके राग न रोष।
तुलसी तृष्णा त्यागि कै, गहेउ शील सन्तोष ।।१६।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि जिस व्यक्ति के मन में राग द्वेष (क्रोध) नहीं है, तथा जिसने तृष्णा को बिल्कुल छोड़ दिया है और शील सन्तोष धारण किया है, वह इस जगत् में जहाज की तरह है।

सन्त तरन-तारन हैं। तरन तो उनका हो चुका, तारन चलता रहता है—तीर्णाः स्वयं भीम भवार्णवं जनान हेतुनान्यानपि तारयन्तः। (विवेक चूड़ामणि) स्वयं तो तरे हुए हैं ही, अकारण औरों को भी तारते हैं।

यहाँ स्पष्ट रूप से जगत् को भवसागर नहीं कहा है, परन्तु भावार्थ यही सयझना चाहिए कि भव (जगत्) सागर है। सन्त भवसागर के जहाज हैं, भवसागर पार करने के लिए साधन हैं, आश्रय है। 'भवसागर कहँ नाव, शुद्ध सन्तन के चरन (वि०प०)।

पहले तो यही समझना चाहिए कि जगत् को भवसागर माना ही क्यों ? और इसे पार करने की आवश्यकता ही क्या ? शास्त्रों में बारम्बार संसार-सागर का उल्लेख आया है—

अपार संसार समुद्र मध्ये निमज्जतो में शरणं किमस्ति ? ।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्, विश्वेश पादाम्बुज दीर्घ नौका ।।

(विवेक चूड़ामणि)

इस अपार संसार समुद्र में डूबते हुए मेरे लिए क्या सहारा है, हे कृपालु गुरुदेव, यह मुझे बताइये। गुरुदेव का उत्तर है कि 'जगत्पति के चरण कमल ही बड़ी भारी नौका (जहाज) हैं।

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

जिन (राम जी) के चरण कमल, भवसागर से पार होने की इच्छा रखने वालों के लिए प्लव (जहाज) हैं।

पुमान् भवाब्धि न तरेत स आत्महा।
(श्रीमद्भागवत)

जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आतमहन गति जाइ॥
(रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)

निमज्जतोऽनन्त भवार्णवन्तश्चिराय में कूलमिवासि लब्धः।
(आलवन्दार स्तोत्र, श्री यामुनाचार्यकृत)

'अनन्त भवसागर में डूबते हुए मुझको आप (प्रभु) तट की तरह मिल गए हैं।'

समझना है कि संसार का वर्णन सागर रूप में क्यों किया गया। पहली बात तो यह है कि संसार की रमणीयता का बाध करना है।

अनबिचार रमणीय सदा, संसार भयंकर भारी।
(वि०प०)

अविचारी, अज्ञानी लोगों के लिए संसार रमणीय है, तत्वतः (विचार करने पर) अत्यन्त भयंकर है। सभ्य नागरिक के लिए अत्यन्त भयंकर या तो जंगल है या सागर। संसार की भयंकरता को प्रगट करने के लिए ही श्रीमद्भागवत में स्कन्ध ५ अध्याय १३ में 'भवाटवी' (संसार रूपी जगल) का वर्णन किया गया है। 'भवाटवीं याति न शर्म विदन्ति' संसार रूपी जंगल में भटक जाता है, शान्ति नहीं मिलती। 'यस्यां इमे षण्नरदेव दस्यवः' उसी जंगल में यह ६ डाकू रहते हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर। वह इसका पुण्य रूप धन लूट लेते हैं। विविधि वासनाएँ ही इस जगल की झाड़ी, झंखाड़ी हैं, जिनके कारण मार्ग प्रशस्त नहीं, अवरोध और उलझाव आता ही रहता है।

इसी प्रकार कभी संसार की भयंकरता को समझाने के लिए इसे अखण्ड नृत्य की तरह बताते हैं—

नाचत ही निसि दिवस मर्यों।

(वि०प०)

एक प्रसिद्ध (सखी भाव निष्ठ) सन्त से किसी ने पूछा, 'शरम नहीं आती, मर्द होकर जनाने वेष में इधर उधर नाचते फिरते हो। उन्होंने कहा, 'कौन नहीं नाचता ? क्या आप नहीं नाचते ? भेद इतना ही है कि कोई माया से बँधा हुआ है (वानर या भालु की तरह) विवश होकर नाचता है, कोई प्रभु के प्रेम में नाचता है। अखण्ड नृत्य के रूपक से भी संसार की भयंकरता दर्शाई गई है।

भवसागर के रूपक से यह भयंकरता और भी स्पष्ट हो जाती हैं। अपार सागर में डूबता हुआ मनुष्य जिस कष्ट में है, जगल में भटकने वाला उससे कम कष्ट में ही है, वैसे जलचरों अथवा वनचरों के द्वारा मारे जाने का भय उभयवर्ती ही है।

वेदान्तियों ने ब्रह्म को अधिष्ठान रूप, साक्षीमात्र, निरीह, निश्चेष्ट बताया है, उसमें कोई लहर (ऊर्म्मि) या कम्पन (स्पन्दन) क्रिया नहीं होती, जब कि जगत् गतिशील है. संसरण करने से संसार नाम है, ब्रह्म अच्युत है, संसार सतत् परिवर्तन शील है। ब्रह्म प्रशान्त है, जगत् अशान्त है। ससार सिन्धु में पड़े हुए जीव के भीतर राग द्वेष की लहरें बराबर उठा करनी हैं। इन लहरों से जीव स्थिरता या शान्ति का लाभ नहीं ले पाता। लहरों में पड़ा हूआ डूबता उतराता रहता है। प्रबल लहरों का स्थान सागर ही है, इसलिए रूपक की उपयोगिता है। काम क्रोध आदि विकार ही 'मकर, नक्र, झख, व्याल' आदि जलजीवों की तरह निगल जाने को तैयार हैं। अत: समझने वाले के लिए यह भव-सागर ही है। इसमें जो भगवान् में चित्त को स्थिर कर लेते हैं, उन्हें भगवान् बचा लेते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यातेशित चेतसां।।

(गीता १२.७)

श्री भगवान् ने भी गीता जी में जगत् को संसार सागर कहा। वे अनन्य भक्तों का इस संसार सागर से शीघ्र ही उद्धार करते हैं।

इस संसार सागर में कुछ लोग डूब रहे हैं, मगर अपने दु.ख से अचेत हैं, कुछ घबरा और चिल्ला रहे हैं, कुछ तैरते हुए थक रहे हैं, कुछ कहीं थाह पा गए, पैर टेक पाए हैं, कुछ थोड़े से सागर से निकलकर तट पर पहुँच गए हैं, सुरक्षित हो गए हैं, कुछ दूसरे डूबने वालों को बचाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

जो संसार में अपने को सुखी पाते हैं, जिन्हें समझ में ही नहीं आता कि इस संसार को जंगल या सागर की तरह भयंकर क्यों बताया,